

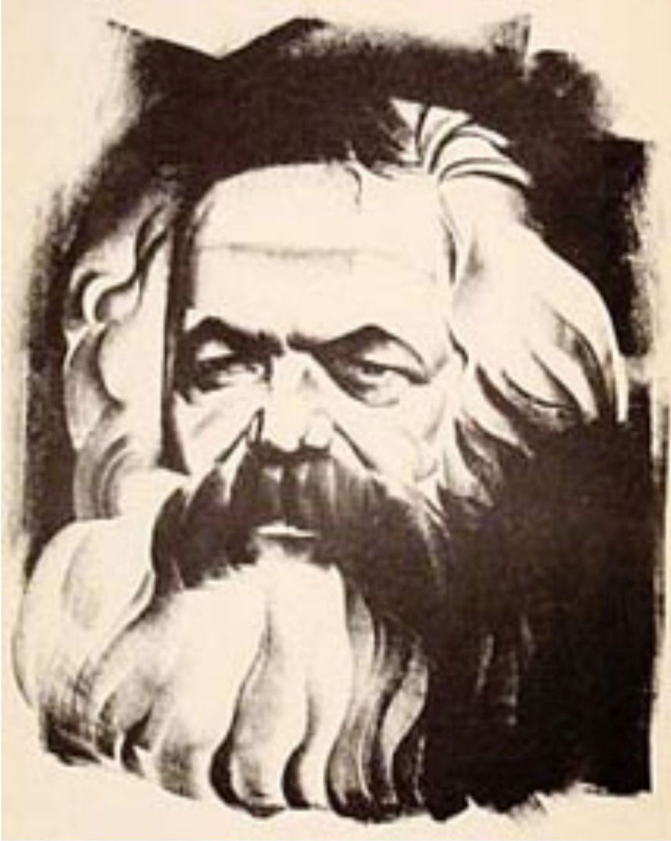
An abstract painting with a dominant red color palette, accented with black and some yellow. The brushstrokes are thick and expressive, creating a sense of movement and depth. The overall composition is dynamic and somewhat chaotic, with various shades of red and black blending together.

# दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

जनवरी-मार्च 2018  
अंक 5 100 रुपये

माक्स की 'पूँजी' के प्रथम प्रकाशन के  
150 वर्ष ( 14 सितम्बर, 2017 )  
पूरे होने के अवसर पर



“अर्थशास्त्रियों ने माक्स को तरह-तरह से बदला है,  
लेकिन प्रश्न है उनकी व्याख्या करने का...सही तरह से।”  
- एण्ड्रू क्लिडमन ( प्रसिद्ध माक्सवादी अर्थशास्त्री )

माक्स का वुडकट: प्रसिद्ध अमेरिकी माक्सवादी चित्रकार ह्यूगो गेलर्ट



# दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

5

जनवरी-मार्च 2018



5

# दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

जनवरी-मार्च 2018

---

सम्पादक

**कात्यायनी/सत्यम**

कला : रामबाबू

सम्पादकीय सम्पर्क :

69 ए-1, बाबा का पुरवा

पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

फ़ोन : 9936650658/8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

प्रति अंक : 100 रुपये

वार्षिक सदस्यता : 400 रुपये (डाकखर्च 160 रुपये)

आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क 'दिशा सन्धान' (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता जरूर बता दें।

चालू खाता सं. 0762002109003644

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,

आईएफएससी कोड : PUNB0076200

•

सम्पादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा क्रिएटिव प्रिंटर्स, 628/5-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

## इस अंक में

### सम्पादकीय की एवज़ में

गुजरात व हिमाचल के चुनाव और फ़ासीवाद के प्रतिरोध की  
रणनीति का प्रश्न 5

आपकी बात 13

### विशेष लेख

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव :  
इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ  
(पाँचवीं किस्त) — अभिनव सिन्हा 14

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन  
(चौथी किस्त) — दीपायन बोस 78

### बहस

विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के सम्बन्धों का एक अवैज्ञानिक और  
अज्ञानतापूर्ण पाठ : एक आलोचना — सनी सिंह 94

### वैचारिकी

उत्तर-मार्क्सवाद के 'कम्युनिज़्म': उग्रपरिवर्तन के नाम पर परिवर्तन की हर  
परियोजना को तिलांजलि देने की सैद्धान्तिकी — शिवानी, बेबी 134

## समकालीन

- ट्रम्प का यरुशलम दाँव : अमेरिकी साम्राज्यवाद की बौखलाहट की निशानी  
— आनन्द सिंह 167
- चीन : एक उभरती हुई साम्राज्यवादी ताकत और उसके निहितार्थ  
— आनन्द सिंह 173
- राजसमन्द हत्याकाण्ड और भारतीय फ़ासीवाद का चरित्र — शिवानी कौल 182
- बिटकॉइन : पूँजीवादी संकट के भँवर में एक नया बुलबुला  
— उत्कर्ष 187

## रिपोर्ट

- आज के साम्राज्यवाद पर लखनऊ में आयोजित छठी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी  
की रिपोर्ट — आनन्द सिंह 192

## गुजरात व हिमाचल के चुनाव और फ़ासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति का प्रश्न

हालिया चुनावों के नतीजे अपेक्षाओं के अनुरूप ही थे। जैसा कि हिमाचल प्रदेश में हमेशा होता है, जिस पार्टी की सरकार थी वह पार्टी चुनाव हार गयी। कांग्रेस की जगह प्रदेश में भाजपा की सरकार बन गयी। लेकिन गुजरात चुनावों में तथाकथित मोदी लहर की गिरावट के स्पष्ट संकेत मिले। अभी हम ईवीएम के साथ छेड़छाड़ और चुनाव आयोग द्वारा स्पष्ट तौर पर भाजपा के 'बाह्य अघोषित विभाग' के रूप में काम करने के पहलू पर बात न भी करें, तो इतना स्पष्ट है कि तथाकथित मोदी लहर गिरावट के पहले लक्षण प्रदर्शित कर रही है। अगर हम चार महानगरों यानी अहमदाबाद, सूरत, वडोदरा और राजकोट के नतीजों को अलग कर दें, तो कांग्रेस ने यह चुनाव अच्छे अन्तर से जीता है। कांग्रेस के इस पुनरुत्थान का कारण है कि नोटबन्दी और जीएसटी जैसे जनविरोधी आर्थिक क्रदमों के कारण मोदी सरकार का घटता सामाजिक आधार। इसके अलावा, कुछ दीर्घकालिक कारक भी काम कर रहे थे, जैसे कि मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से बेरोज़गारी, महँगाई और खेती के संकट का अभूतपूर्व रफ्तार से बढ़ना। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि मोदी सरकार ने सत्ता में आने के बाद से ही जनविरोधी और पूँजीपरस्त नीतियों को धड़ल्ले से और तानाशाहाना तरीक़े से लागू करना शुरू किया। मोदी को सत्ता में पहुँचाने के लिए बड़े पूँजीपतियों और साम्राज्यवादी पूँजी ने इसीलिए तो हज़ारों करोड़ रुपये मोदी के चुनाव प्रचार में पानी की तरह बहाये थे। और मोदी के सत्ता में

आने के बाद से संकट झेल रहे पूँजीपति वर्ग ने मोदी सरकार को और भाजपा को अपना सहयोग और समर्थन अभूतपूर्व रूप से बढ़ाया है। इसकी इन्तहा इस बात में देखी जा सकती है भाजपा के अतिरिक्त अन्य पूँजीवादी पार्टियों को चुनावों के लिए पर्याप्त चन्दा पूँजीपति घरानों से नहीं मिल रहा है। मोदी द्वारा नवउदारवादी नीतियों को धक्काजोरी से आगे बढ़ाने में किसी को भी आश्चर्य नहीं होता क्योंकि फ़्रासीवाद हमेशा ही बड़े पूँजी के सबसे प्रतिक्रियावादी धड़े की "सबसे बर्बर और नग्न तानाशाही" होता है। मोदी सरकार इस आम नियम का अपवाद नहीं है।

मोदी सरकार और संघ परिवार ने इन नवउदारवादी नीतियों के समर्थन सन्दर्भ के तौर पर साम्प्रदायिक फ़्रासीवादी प्रचार और अभियानों को जमकर बढ़ावा दिया है, जैसे कि 'लव जिहाद', 'गोरक्षा', 'घर वापसी' आदि। यह भी स्वाभाविक है और राजनीतिक तौर पर सचेत हर व्यक्ति पहले से ही जानता था कि मोदी सरकार नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के साथ-साथ फ़्रासीवादी लम्पट गिरोहों को खुला हाथ दे देगी, सभी प्रगतिशील शक्तियों पर हमला करेगी, साम्प्रदायिक तनाव को हवा देगी और भीड़ द्वारा अल्पसंख्यकों की हत्या को खुली छूट दे देगी, तर्कवादियों की हत्याओं को बढ़ावा देगी, युवाओं के व्यवस्थित फ़्रासीवादीकरण के लिए पाठ्यक्रम में बदलाव करेगी, पूँजीवादी जनवादी प्रक्रियाओं और संस्थाओं को निलम्बित व बरबाद करेगी, भले ही संसदीय जनवाद का ढाँचा औपचारिक तौर पर क्रायम रहे और यह सबकुछ हिन्दुत्व राष्ट्रवाद के नाम पर किया जायेगा। इस सब में भी कुछ अचरज पैदा करने वाला नहीं है। फ़्रासीवाद हमेशा से ही सबसे रोगात्मक क्रिस्म की धार्मिक कट्टरता/नस्लवाद/प्रवासी-विरोध, अन्धराष्ट्रवाद, आधुनिक पुनरुत्थानवाद, विक्षिप्त क्रिस्म के प्रगतिशीलता-विरोध, *मिचेलस्टाण्ड* (टटपुँजिया वर्ग) के रूमानी उभार का मिश्रण रहा है, जो कि मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से को अपने साथ बहा ले जाता है; संक्षेप में, फ़्रासीवाद हमेशा से ही एक प्रतिक्रियावादी *सामाजिक आन्दोलन* रहा है; यह कोई भी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया नहीं है। संघ परिवार और मोदी सरकार ने फ़्रासीवाद की इस ख़ासियत को एक बार फिर से प्रदर्शित किया है, जिसे बहुत समय पहले मार्क्सवादियों द्वारा पहचान लिया गया था लेकिन जिसके बारे में आज भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों में सबसे कम समझदारी दिखलायी पड़ती है।

मोदी सरकार ने फ़्रासीवाद की उपरोक्त दो विशेषताओं को अपने शासन में सफलतापूर्वक मिश्रित किया है। इसका कारण फ़्रासीवाद की तीसरी विशिष्टता में निहित है, यानी एक काडर-आधारित संगठन। भारतीय फ़्रासीवाद ने एक काडर-आधारित संगठन विकसित करने में विशेष तौर पर सफलता हासिल की है। इस काडर-आधारित संगठन के बूते, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने एक लम्बी प्रक्रिया में भारतीय राज्य मशीनरी और सशस्त्र बल और साथ ही नौकरशाही और न्यायपालिका तक में घुसपैठ की है। इसी प्रकार, संघ ने भारतीय 'नागरिक समाज' की पोरों तक में एक लम्बी प्रक्रिया में अपनी पैठ बनायी है, जो कि आज़ादी के पहले ही शुरू हो गयी थी। इस प्रकार, जिस प्रक्रिया को ग्राम्शी ने 'आणविक व्याप्ति' (molecular permeation) का नाम दिया था, वह भारतीय फ़्रासीवाद के मामले में एक लम्बी दीर्घकालिक प्रक्रिया रही है, जबकि जर्मन

और इतालवी फ़ासीवाद के मामले में इस प्रक्रिया में एक तीव्रता और तीक्ष्णता का तत्व प्रधान था। दूसरे शब्दों में, भारतीय फ़ासीवाद की ऊष्मायन अवधि (incubation period) ज़्यादा लम्बी थी और इस वजह से इसका उभार किसी आकस्मिक आपदा के समान (cataclysmic) नहीं था। यह व्याख्या भी अब धीरे-धीरे भारतीय फ़ासीवाद की समझदारी के बारे स्वीकृत होती जा रही है।

भारतीय फ़ासीवाद का दीर्घकालिक उभार, या ग्राम्शी के शब्दों में एक लम्बा 'पैस्सिव रिवोल्यूशन' सभी फ़ासीवादी उभारों में निहित एक अन्य विशिष्टता को भी प्रदर्शित करता है : एक विशिष्ट प्रकार की 'विचारधारात्मक एकता'। इस विचारधारात्मक एकता के बुनियादी आयाम हैं एक कल्पित शत्रु, एक 'अन्य' की छवि का निर्माण, जो कि भारतीय मामले में 'मुसलमान' है; मिथकों को 'कॉमन सेंस' के रूप में स्थापित करना; एक रूमानी और प्रतिक्रियावादी पश्चगामिता (millenarianism) जो कि 'रामराज्य' की फन्तासी में प्रकट होती है; रोगात्मक क्रिस्म का राष्ट्रवाद व प्रगतिशीलता-विरोध और एक आधुनिक क्रिस्म का आधुनिकता-विरोध। ये सभी गुण आज के भारतीय फ़ासीवाद में देखे जा सकते हैं। ये सभी चीज़ें उदार बुर्जुआ जनवाद के संकट और भारतीय संशोधनवाद और सामाजिक-जनवाद की अवश्यम्भावी असफलता के नतीजे के तौर पर ही सामने आ रही हैं। जो बुनियादी अन्तरविरोध उदार बुर्जुआ परियोजना और साथ ही सामाजिक-जनवादी परियोजना की असफलता का कारण बनता है वह है बार-बार आने वाला पूँजीवाद का आर्थिक संकट, जो कि कुण्डलाकार पथ में प्रकट होता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह हास और पतन की ओर बढ़ता 'स्पाइरल' होता है।

भारत में फ़ासीवाद के उदय को समझने के लिए और इस फ़ासीवादी उभार के प्रतिरोध के लिए प्रभावी और सही रणनीति और रणकौशल तय करने के लिए उपरोक्त सभी चारित्रिक अभिलाक्षणिकताओं को समझना बेहद ज़रूरी है। गुजरात और हिमाचल के विधानसभा चुनावों के नतीजे सामने आने के बाद, इन बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को समझने में कुछ "वामपन्थियों" की अक्षमता के कारण वे कई ग़लत विश्लेषणों और नतीजों तक पहुँच रहे हैं।

इन "वामपन्थियों" के एक हिस्से को हम "चिरन्तन और नादान आशावादी" कह सकते हैं। यह हिस्सा विशेष तौर पर गुजरात के नतीजों से सदमे में आ गया था। इस धड़े के लोगों ने दावा किया था कि भाजपा गुजरात में हारने जा रही है और वोटों की गिनती के पूरा होने से पहले ही इन्होंने कुछ देर के लिए जश्न मनाना भी शुरू कर दिया था (जब एक छोटे-से समय के लिए कांग्रेस भाजपा से आगे निकल गयी थी)। लेकिन जब अन्ततः भाजपा जीत गयी, हालाँकि वह गिरते-पड़ते ही बहुमत के आँकड़े तक पहुँच पायी थी, तो इस धड़े के नादान आशावादियों की आशाओं पर तुषारापात हो गया और वे दावा करने लगे कि फ़ासीवादी भाजपा इसलिए जीती है क्योंकि नतीजों में हेरफेर किया गया है और ईवीएम के साथ छेड़छाड़ की गयी है। यह एक अन्तरविरोधी बात है क्योंकि इसमें यह अन्तरनिहित है कि हम जिस राजनीतिक परिघटना के साक्षी बन रहे हैं, वह फ़ासीवाद ही है और अगर हम यह मानते हैं तो ईवीएम से छेड़छाड़ पर चकित या दुखी होना बेकार है। यह स्वाभाविक ही है कि फ़ासीवाद हर बुर्जुआ जनवादी प्रक्रिया, प्रथा और संस्था को

कमज़ोर बनायेगा ही, अगर वह उसे एकदम ख़त्म नहीं भी करता है। इस स्वीकृति में इस बात का अहसास भी अन्तर्निहित होना चाहिए कि फ़्रासीवाद को महज़ चुनावी रणनीति से नहीं हराया जा सकता है; इसलिए भाजपा की चुनावी हार पर हर्षोन्मत्त हो जाना और उसकी चुनावी जीत पर हताशा में डुबकी लगा जाना इस प्रकार के नादान आशावादियों के 'उदार बुर्जुआ वायरस' से पैदा हुए विभ्रमों को ही दिखलाता है।

"वामपन्थियों" का एक अन्य हिस्सा है जो कहता है कि भाजपा की जीत में कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि चुनावों में कोई 'वास्तविक विकल्प' था ही नहीं; लेकिन इतना तथ्य है कि भाजपा बस किसी तरह से हाँफते-काँपते जीती है। यह सच है। लेकिन इस बात से ये दूसरी श्रेणी के लोग क्या नतीजा निकालते हैं? यह कि फ़्रासीवाद हास और पतन का शिकार है। जैसा कि हम देख सकते हैं कि वे 'मोदी लहर' और फ़्रासीवाद के बीच फ़र्क नहीं कर पाते। 'मोदी लहर' मौजूदा फ़्रासीवादी उभार का तात्कालिक अस्तित्व रूप है; न कि अपने आप में फ़्रासीवाद। किसी सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुँचने के साथ 'मोदी लहर' की जगह किसी 'योगी लहर' को पैदा किया जा सकता है, ऐसी अटकल लगाने में कुछ भी अतार्किक नहीं है। ऐसे 'वामपन्थियों' का राजनीतिक मोतियाबन्द उन्हें सारवस्तु को देखने नहीं देता और वे हमेशा परिघटना के स्तर पर ही अटके रहते हैं। यही कारण है कि जब कोई मोदी जीत जाता है तो पुनरावलोकन में उन्हें आडवाणी 'लेसर ईविल' दिखने लगता है; जब कोई आडवाणी शीर्ष पर पहुँच जाता है, तो उन्हें पुनरावलोकन में अटल उदार लगने लगता है; और यह असम्भव नहीं है कि जब मोदी से भी ज़्यादा रोगात्मक, प्रतिक्रियावादी और आक्रामक 'फ़्यूर' व्यक्तित्व फ़्रासीवादियों या फिर सरकार के शीर्ष पर पहुँच जायेगा तो ऐसे लोगों को पुनरावलोकन में मोदी भी उदार नज़र आने लगे। जैसा कि हम देख सकते हैं कि ऐसे लोगों का विश्लेषण प्रत्यक्षवादी और अधिभूतवादी होता है। यह सारतत्व और अन्तर्सम्बन्धों को नहीं देख पाता है।

उदार "वाम" का एक अन्य हिस्सा भी है जो कि अभी भी मोदी व फ़्रासीवाद को हराने के लिए दमित अस्मिताओं की योगात्मक एकता का कोई समीकरण बनाने के फेर में पड़ा हुआ है। चुनावों में भाजपा के अपेक्षा से कम प्रदर्शन का मुख्य कारण था समाज के कुछ हिस्सों का वर्ग असन्तोष व गुस्सा, हालाँकि वे वर्ग 'राजनीतिक' रूप में सचेत या वर्ग 'राजनीतिक' रूप में संगठित नहीं थे। लेकिन इस हिस्से के लोगों ने दावा किया कि दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों, पिछड़ों आदि ने मिलकर भाजपा को तमाम जगहों पर हराया है। यह भूला नहीं जाना चाहिए कि मुसलमानों के अपवाद के साथ (जिसे समझा जा सकता है), समाज के उपरोक्त सभी समुदायों के विचारणीय हिस्सों ने इन चुनावों में भाजपा को वोट दिया है। वोटिंग के पैटर्न ने दो प्रकार के विभाजन को स्पष्ट तौर पर प्रदर्शित किया: पहला, वर्ग विभाजन और दूसरा, गाँव-शहर विभाजन, जो कि आंशिक तौर पर वर्ग विभाजन से जुड़ा हुआ है। यह ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों, निम्न मध्य वर्ग और मज़दूर वर्ग का असन्तोष था जिसके कारण चुनावों में भाजपा का प्रदर्शन अपेक्षा के अनुरूप नहीं रहा। यहाँ पर यह भी याद रखा जाना चाहिए कि गुजरात के शहरों में गुजराती मज़दूरों का

एक अच्छा-खासा हिस्सा वोटर के रूप में गाँवों में पंजीकृत है। इसलिए, इन मजदूरों का गुस्सा ग्रामीण वोट में प्रतिबिम्बित हुआ, न कि शहरी वोट में। वोटिंग पैटर्न के इस स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने वाले वर्ग चरित्र के बावजूद, यह उदारवादी वाम/वाम उदारवादी धड़ा, और विशेष तौर पर बुद्धिजीवी, भाजपा को हराने के एक अस्त्र के रूप में 'दलित + ओबीसी + मुसलमान + स्त्री' जैसे योगात्मक समीकरणों का सुझाव दे रहे हैं। यह बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय को एक बहुसंख्यवादी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी गोलबन्दी में तब्दील करने के भाजपा के मंसूबों को फ़ायदा ही पहुँचाता है और दूसरी बात यह है कि ऐसी कोई योगात्मक एकता बन ही नहीं सकती है। जिस गोलबन्दी में फ़ासीवाद का मुँहतोड़ जवाब देने की ताक़त है वह है वर्ग गोलबन्दी। लेकिन वर्ग गोलबन्दी पर इन उदार वामपन्थियों को भरोसा नहीं है।

भारत के "उदारवादी वामपन्थी" भूराजनीतिक प्रान्त में रहने वाली चौथी श्रेणी उन लोगों की है जो कि अचानक राहुल गाँधी और कांग्रेस के कट्टर समर्थक बन गये हैं। उन्होंने अखबारों में और वेबसाइटों पर राहुल गाँधी और कांग्रेस में आये भारी बदलाव के बारे में कॉलम लिखने शुरू कर दिये हैं। कांग्रेस के खेल में वापस आने से वे हर्षातिरेक का अनुभव कर रहे हैं। उनका तर्क एकदम कॉमन सेंसिकल है : फ़ासीवादी भाजपा को हराने के लिए हमें रणकौशलात्मक तौर पर राहुल गाँधी का समर्थन करना चाहिए, जो, चाहे राजनीतिक लाभ के लिए ही सही, लेकिन आम मेहनतकश जनता के मुद्दे उठा रहे हैं। ऐसे लोगों का राजनीतिक स्मृतिलोप निरपेक्ष और पूर्ण हो चुका होता है, क्योंकि राजनीतिक तौर पर उन्हें लघुकालिक स्मृतिलोप की शिकायत होती है। मजेदार बात यह होती है कि उन्होंने सचेतन तौर पर चुना होता है कि उन्हें लघुकालिक स्मृतिलोप की बीमारी हो। दूसरे शब्दों में, लघुकालिक स्मृतिलोप का शिकार होना वे कभी भूलते नहीं हैं! किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण में उनका भरोसा नहीं होता और वे किसी कम बुरे की तलाश में हमेशा व्यस्त रहते हैं, हालाँकि उनकी यह तलाश उनकी इच्छा के विपरीत हमेशा उन्हें सबसे बुरे विकल्प पर पहुँचा देती है। वे भूल जाते हैं कि फ़ासीवाद का ज़हरीला कुकुरमुत्ता हमेशा उदार बुर्जुआ जनवाद के खण्डहर पर उगता है। वे किसी राहुल गाँधी, ममता बनर्जी (जो कि और भी हास्यास्पद है), लालू प्रसाद यादव या शरद पवार के कन्धे पर खड़े होकर फ़ासीवाद को पीछे धकेल देने का मुग़ालता पाले रहते हैं।

अन्तिम श्रेणी ऊपर वाली चौथी श्रेणी के ठीक विपरीत होती है। यह वह श्रेणी है जो कि फ़ासीवादी पूँजीपति वर्ग और पूँजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों में फ़र्क करने में बुरी तरह असफल हो जाती है। त्रासदी की बात है कि कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कॉमरेड भी इस भोंडे भौतिकवादी और यान्त्रिक विश्लेषण का शिकार हो गये हैं। चौथी श्रेणी के लोगों का प्रतिवाद करते हुए इस पाँचवी श्रेणी के वामपन्थी और यहाँ तक कि कम्युनिस्ट कॉमरेड फ़ेसबुक और व्हाट्सएप पर लिखना शुरू करते हैं : "क्या फ़र्क पड़ता है? भाजपा जीते या कांग्रेस, हारेगी तो जनता ही!"; "कांग्रेस तो खुद ही फ़ासीवादी है, क्या आप आपातकाल को भूल गये?"; "कांग्रेस की राजनीति के कारण ही तो संघ परिवार बढ़ा है, इसलिए इससे क्या फ़र्क पड़ता है कि भाजपा जीतती है या

कांग्रेस!" यह अवस्थिति न सिर्फ़ गैर-मार्क्सवादी है बल्कि यह बुरी तरह से अर्थहीन भी है। यह एक छद्म आमूलगामिता से भरी "वामपन्थी" भाषणबाज़ी से ज़्यादा कुछ नहीं है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति ने हमेशा फ़्रासीवादियों और अन्य प्रकार की दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया और साथ ही फ़्रासीवादियों और उदार बुर्जुआ वर्ग/मध्यमार्गी बुर्जुआ वर्ग/दक्षिण-मध्य बुर्जुआ वर्ग के बीच अन्तर किया है। क्लासिकीय तौर पर, भारत में कभी कोई बड़ी उदार बुर्जुआ राजनीतिक पार्टी नहीं रही है; भारत में सामाजिक-जनवादी राजनीति का प्रभाव भी स्थानीयकृत और सीमित रहा है, राष्ट्रीय कम रहा है। दूसरी पूँजीवादी पार्टी जो कि भारतीय बुर्जुआ राजनीति में फ़्रासीवादी संघ परिवार के विपरीत ध्रुव की भूमिका अदा करती है, वह कांग्रेस है जो कि स्वयं एक व्यापक रूप में मध्य-दक्षिणपन्थी पूँजीवादी पार्टी है, जिसमें कि ज़रूरत और तात्कालिक लाभ के लिए वाम दिशा में यात्रा करने का लचीलापन और सम्भावनासम्पन्नता मौजूद है। कांग्रेस के इस विशिष्ट गुण के कारण, क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को भाजपा और कांग्रेस के बीच निश्चित ही फ़र्क़ करना चाहिए क्योंकि इस फ़र्क़ का फ़्रासीवाद-विरोधी रणनीति के प्रभावी होने पर काफ़ी फ़र्क़ पड़ता है।

उपरोक्त तर्कों की रोशनी में गत विधानसभा चुनावों का विश्लेषण करना आवश्यक है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि तथाकथित मोदी लहर उतार पर है। गुजरात चुनाव प्रचार के दौरान मोदी की भाव-भंगिमा और सड़कछाप बातों से ही पता चल गया था कि भाजपा अन्दर से डोली हुई है और पुराना आत्मविश्वास गायब है। लेकिन मोदी-लहर को ही फ़्रासीवादी उभार समझ लेना ग़लत और आत्मघाती होगा। दूसरी बात यह है कि हमें यह याद रखना चाहिए कि मोदी सरकार भारत की पहली व्यवस्थित रूप से फ़्रासीवादी सरकार है। इसी प्रकार, मोदी *फ़्यूर-कल्ट* के पहले पूर्णता को प्राप्त भारतीय संस्करण की नुमाइन्दगी करता है। वाजपेयी की सरकार में प्रबल फ़्रासीवादी रुझान थे, लेकिन, विविध प्रकार के वस्तुगत और मनोगत कारकों के चलते वह पहली व्यवस्थित फ़्रासीवादी सत्ता नहीं थी और न ही बन सकती थी। अब जबकि मोदी लहर, जो कि भारत में फ़्रासीवादी उभार का मौजूदा अस्तित्व-रूप है, संकट के पहले लक्षणों की साक्षी बन रही है, हमें यह निश्चित तौर पर समझ लेना चाहिए कि इस अस्तित्व-रूप की जगह कोई और अस्तित्व रूप ले सकता है। फ़्रासीवादी साँप अपने अस्तित्व को क्रायम रखने के लिए ही अपना केंचुल बदलता रहता है। तीसरी बात यह है कि हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि 'पीछे हटता फ़्रासीवाद' किसी भी अर्थ में कोई कम फ़्रासीवादी फ़्रासीवाद नहीं होता। वास्तव में, सभी तात्कालिक और व्यावहारिक अर्थों में, संकटग्रस्त फ़्रासीवाद ज़्यादा आक्रामक और ख़तरनाक होता है। अगर भाजपा को यह लगता है कि वह 2019 का चुनाव हार सकती है, तो यह अपने पूर्णरूपेण और खुले तौर पर फ़्रासीवादी एजेण्डा और रणकौशल पर चली जायेगी, जैसा कि गुजरात चुनावों के दौरान राम मन्दिर के मुद्दे को फिर से उभारने की भाजपा की रणनीति में दिखलायी पड़ रहा था। क्रान्तिकारी शक्तियों को निरन्तर मेहनतकश जनता को फ़्रासीवाद और आम तौर पर पूँजीवाद के विरुद्ध गोलबन्द और संगठित करना होगा और उन्हें भाजपा के ख़राब चुनावी प्रदर्शन पर हर्षातिरेक का शिकार होने की बजाय अपनी शक्तियों पर निर्भर करना होगा। चौथी बात यह है, कि

हमेशा याद रखना चाहिए कि इक्कीसवीं सदी में फ़्रासीवाद आपदा के रूप में अचानक घटित होने वाली और आपदा के रूप में अचानक पतन का शिकार होने वाली परिघटना के रूप में मौजूद नहीं है। संकट जिस प्रकार से विशेष तौर पर 1970 के दशक से पूँजीवादी व्यवस्था का नया 'नॉर्मल' बन चुका है, या जिस प्रकार संकट कहीं ज़्यादा दीर्घकालिक व ढाँचागत रूप में अपने आपको प्रकट कर रहा है, उसी प्रकार फ़्रासीवाद भी इक्कीसवीं सदी की साम्राज्यवादी दुनिया में कहीं ज़्यादा स्थायी परिघटना के रूप में प्रकट हुआ है, चाहे वह सत्ता में रहे या नहीं रहे। जब वह सत्ता में नहीं भी होता, तो हड़ताल तोड़ने वाले दस्तों के रूप में, अल्पसंख्यक विरोधी लम्पट ब्रिगेडों के रूप में, सामाजिक पुलिस आदि के रूप में, पूँजीपति वर्ग की अनौपचारिक राज्यसत्ता का काम करता है और फ़्रासीवाद की यह भूमिका मौजूदा पूँजीवादी समाज में काफ़ी महत्वपूर्ण बन गयी है। कारण यह है कि मौजूदा पूँजीवादी समाज में बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा या उसकी कोई भी पार्टी अब सत्ता में होने पर भी फ़्रासीवादियों के खिलाफ़ क्रदम नहीं उठाने वाली है। साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में, इसकी मरणासन्नता और परजीवी चरित्र इस स्तर पर पहुँच चुका है कि पूँजीपति वर्ग के सभी हिस्से चाहते हैं कि फ़्रासीवाद चाहे सत्ता में न भी हो तो वह समाज में मौजूद रहे। ऐसी स्थिति में, यह ज़रूरी हो जाता है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें जनसमुदायों को फ़्रासीवादियों के खिलाफ़ 'जब और जैसी ज़रूरत हो' के आधार पर नहीं बल्कि एक दीर्घकालिक आधार पर शिक्षित, प्रशिक्षित, तैयार, गोलबन्द और संगठित करें और इसके लिए नियमित और निरन्तर राजनीतिक कार्य को अपना आधार बनायें। अन्त में, क्रान्तिकारी ताक़तों को इस तथ्य के प्रति सचेत होना चाहिए कि अगर 2019 के आम चुनावों में भाजपा के सामने हार का खतरा मँडरायेगा, तो ये फ़्रासीवादी किसी भी हद तक जाने को तैयार होंगे।

इक्कीसवीं सदी में फ़्रासीवादी उभार को समझते समय यह बात दिमाग़ में रखी जानी चाहिए कि इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में ऐसे कई लोग हैं जो भारत में फ़्रासीवाद के मौजूदा उभार के अपने विश्लेषण को भारत में फ़्रासीवादी उभार का विश्लेषण बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध के जर्मन या इतालवी फ़्रासीवादी उभार से सादृश्य निरूपण के आधार पर करते हैं। फ़्रासीवाद के विशिष्ट और आम राजनीतिक व विचारधारात्मक गुणों और इसके विशिष्ट व आम ऐतिहासिक सन्दर्भ के फ़र्क को समझने के बजाय ऐसे साथी दो कॉलम बनाते हैं और फिर बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध के फ़्रासीवाद के अनुभव और आज के फ़्रासीवादी उभार के गुणों का मिलान करने लग जाते हैं और कई गुणों का मिलान न होने की सूरत में ऐलान कर देते हैं कि मौजूदा फ़्रासीवादी उभार पर्याप्त रूप में फ़्रासीवादी नहीं है, या अर्द्धफ़्रासीवादी है, या अभी पूरी तरह से फ़्रासीवादी नहीं हुआ है, या चूँकि अभी संसदीय लोकतन्त्र बना हुआ है इसलिए यह फ़्रासीवादी नहीं है, आदि। यह अनैतिहासिक नज़रिया यह नहीं समझ पाता है कि केवल क्रान्तिकारी विचारधारा व राजनीति ही *रिडेम्प्टिव* गतिविधि नहीं करती। प्रतिक्रियावादी विचारधारा और राजनीति भी अपने ऐतिहासिक अनुभवों का समीक्षा-समाहार करते हैं, उससे सीखते हैं और अपनी "गलतियों" को दुरुस्त करते हैं। भारत में भी ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि

भारत में चूँकि अभी संसदीय लोकतन्त्र कायम है, इसलिए मोदी सरकार को फ़ासीवादी सरकार नहीं माना जा सकता है; कुछ तो यह भी कहते हैं कि भारतीय संविधान के "प्रगतिशील" और "जनवादी" चरित्र के कारण भारत में फ़ासीवाद आ ही नहीं सकता है! ऐसे तर्क के बारे में जितना कम कहा जाय उतना अच्छा है। ऐसे लोग इतिहास की गति समझ पाने में असमर्थ हैं।

राज्य में हुए हालिया चुनावों, विशेषकर गुजरात के चुनावों ने निश्चित तौर पर दिखलाया है कि भाजपा के खराब प्रदर्शन पर तालियाँ पीटने, या फ़ासीवाद को हराने के लिए चुनावी रणनीति को एकमात्र रणनीति के तौर पर देखने के बजाय, हमें एक लम्बी और निर्णायक लड़ाई की तैयारी करनी होगी; इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौजूदा सन्धिबिन्दु हमें अपना काम शुरू करने के लिए सबसे मुफ़ीद मौक़ा दे रहा है क्योंकि भारतीय फ़ासीवाद का मौजूदा अस्तित्व रूप यानी मोदी लहर, गिरावट के प्रथम लक्षण प्रदर्शित कर रहा है। लोग नाराज़ हैं, असन्तुष्ट हैं और क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन के लिए तैयार हैं। साथ ही, यह भी याद रखा जाना चाहिए कि क्रान्तिकारी शक्तियों को पूँजीवादी चुनावों में भी रणकौशलात्मक भागीदारी करनी चाहिए और सर्वहारा वर्ग का स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष प्रस्तुत करना चाहिए और साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाना चाहिए। लेकिन यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि समूची फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति को चुनावी रणनीति पर अपचयित नहीं कर दिया जाना चाहिए। यह न सिर्फ़ नुक़सानदेह होगा, बल्कि आत्मघाती होगा। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों के बीच मज़दूर वर्ग का संयुक्त मोर्चा स्थापित करना और जनसमुदायों के बीच मज़बूत सामाजिक आधार का निर्माण आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष दो महत्वपूर्ण और तात्कालिक कार्यभार हैं। आगे हम किस हद तक सफल होंगे, यह इस बात पर ही निर्भर करता है कि इन दोनों कार्यभारों को किस हद तक पूरा कर पाते हैं।

## आपकी बात

‘दिशा सन्धान’ काफी अन्तराल पर निकल रहा है लेकिन हर अंक विचार और सामग्री की दृष्टि से बेहद समृद्ध है। कम्युनिस्ट आन्दोलन का लम्बे समय से शुभचिन्तक होने के नाते मैं इसकी वर्तमान स्थिति से व्यथित हूँ लेकिन मैं आपके इस विश्लेषण से असहमत होने का कोई आधार नहीं पाता कि आन्दोलन की मूल समस्या वैचारिक-सैद्धान्तिक है। इसके बावजूद पॉलिमिक्स पर ध्यान न देना और वाद-विवाद-संवाद को सही स्पिरिट में न लेना अखरता है। आशा है आपका यह प्रयास ठहराव को तोड़ेगा। मेरी शुभकामनाएँ।

- एस.सी. रावत, जयपुर

‘दिशा सन्धान’ के अब तक प्रकाशित चारों अंक पढ़ चुका हूँ। हिन्दी समाज में ऐसी गम्भीर पत्रिका की निश्चय ही ज़रूरत है, विशेषकर जब सैद्धान्तिकी पर इतना कम ध्यान दिया जा रहा है, या फिर सिद्धान्त के नाम पर तमाम तरह का आयातित कचरा परोसा जा रहा है। भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास और सोवियत इतिहास पर दोनों लेखमालाएँ बहुत श्रमसाध्य शोध के साथ लिखी गयी हैं और अपार तथ्यों के साथ गहन विश्लेषण भी प्रस्तुत करती हैं। बेहद विचारोत्तेजक। समकालीन विषयों पर आपकी टिप्पणियाँ भी बहुत संजीदगी और मेहनत के साथ लिखी गयी होती हैं। कृपया इसकी आवर्तिता बढ़ाने का प्रयास करें।

- राजशरण वर्मा, कानपुर

मैं ‘दायित्वबोध’ का पुराना पाठक रहा हूँ और मेरा मानना है कि उसके बन्द होने से आन्दोलन की बहुत क्षति हुई। लेकिन ‘दिशा सन्धान’ ने न केवल उसकी कमी पूरी की है बल्कि यह उससे कहीं अधिक समृद्ध पत्रिका है। हालाँकि शायद इससे इसका दायरा कुछ सीमित हुआ होगा। लेकिन मार्क्सवादी विचारधारा पर ऐसे गम्भीर विमर्श के मंच की आज सख्त ज़रूरत है। बेशक यह पत्रिका ‘मशीन मेकिंग मशीन’ का भी काम करेगी, यानी ऐसे लेखक और कार्यकर्ता तैयार करने का, उनकी वैचारिक समझ को और समृद्ध करने का काम करेगी भी जो इन विचारों को जन-जन तक अपनी भाषा में लेकर जायेंगे। आज सर्वहारा अधिनायकत्व और कम्युनिज्म के मूल सिद्धान्तों पर तरह-तरह के वैचारिक हमलों ने जैसा धूलगर्द का बवण्डर खड़ा किया है, उसे साफ़ करके मार्क्स, लेनिन और माओ की शिक्षाओं को सही रूप में लोगों तक पहुँचाने के लिए ऐसी पत्रिका की अत्यन्त आवश्यकता है। आज अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक धाराएँ मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के बुनियादी उसूलों को तोड़ने-मरोड़ने में लगी हैं। इनका प्रतिवाद करने और देश के भीतर प्रासंगिक प्रश्नों पर बहस को दिशा देने में हमें आपकी पत्रिका से बहुत अपेक्षाएँ हैं।

- श्रीकृष्ण त्यागी, दिल्ली

# सोवियत समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

- अभिनव सिन्हा  
(पाँचवीं किस्त)

## अध्याय V परिशिष्ट

### अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इतिहास-लेखन : अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता

बोल्शेविक क्रान्ति और सोवियत समाजवादी प्रयोगों के बारे में इतिहास-लेखन को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक श्रेणी सोवियत समाजवादी प्रयोगों के जारी रहने के दौरान लिखे गये बोल्शेविक क्रान्ति और सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के तत्कालीन विवरणों की है, जिसमें स्तुलोव जैसे इतिहासकारों द्वारा लिखे गये इतिहास-लेखन से लेकर बोल्शेविक क्रान्ति के साक्षी या उसमें हिस्सेदारी करने वाले बोल्शेविकों द्वारा लिखे गये इतिहास व संस्मरण आदि शामिल हैं। दूसरी श्रेणी उन तत्कालीन गैर-बोल्शेविक प्रेक्षकों के इतिहास-लेखन, रिपोर्टाज व संस्मरणों की है, जिनमें मेशेविकों से लेकर समाजवादी-क्रान्तिकारियों और अराजकतावादियों द्वारा लिखे गये इतिहास-लेखन व संस्मरणों को शामिल किया जा सकता है, जैसे कि सुखानोव, मिल्युकोव आदि

द्वारा लिखित विवरण। तीसरी श्रेणी तमाम ऐसे मार्क्सवादी अध्येताओं की है जो कि सोवियत संघ से बाहर थे और जो वहाँ पूँजीवादी पुनर्स्थापना के पहले और बाद के दौर के साक्षी रहे, जिनमें मॉरिस डॉब, चार्ल्स बेतेलहाइम, पॉल स्वीजी आदि को शामिल किया जा सकता है। और चौथी श्रेणी उन इतिहासकारों की है जो कि सोवियत संघ से बाहर थे और गैर-मार्क्सवादी थे, जिसमें कि चैम्बरलेन, ई.एच. कार, इज़ाक डॉइशर, मार्क फेरो व अलेक्जैण्डर रैबिनोविच जैसे अध्येताओं को शामिल किया जा सकता है।

इस चौथी श्रेणी में कुछ ऐसे हैं जो बोलशेविकों के प्रति सहानुभूति रखते हैं, हालाँकि बोलशेविक क्रान्ति और सोवियत समाजवाद के प्रति उनका नज़रिया बुर्जुआ प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद का नज़रिया है, जैसे कि कार व रैबिनोविच। कुछ ऐसे हैं जो कि बोलशेविक पार्टी, लेनिनवाद और सोवियत समाजवाद के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया रखते हैं, जिनमें मोटे तौर पर मार्क फेरो को भी शामिल किया जा सकता है। इनमें से कुछ त्रात्स्की के प्रति हमदर्दी रखने वाले लोग भी हैं, हालाँकि उन्हें सीधे तौर पर त्रात्स्कीपन्थी नहीं कहा जा सकता है।

एक पाँचवीं श्रेणी भी बनायी जा सकती है, जिसमें कि त्रात्स्की और उनके अनुयायियों के लेखन को शामिल किया जा सकता है। यह एक व्यापक श्रेणी है जिसमें आन्तरिक तौर पर काफ़ी वैविध्य है। इसमें स्वयं त्रात्स्की द्वारा किया गया इतिहास-लेखन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिस पर हम अन्यत्र लिखेंगे। इन सारी श्रेणियों में हमने संशोधनवाद के दौर में सोवियत संघ में हुए इतिहास-लेखन को शामिल नहीं किया है, क्योंकि इसमें बेहद चालाकी के साथ तथ्यों का विकृतीकरण किया गया है और स्तालिन को संशोधनवादी तक बना देने का प्रयत्न किया गया है। सही मायने में इसे इतिहास-लेखन कहना ही मुश्किल है, यह प्रोपगैण्डा लेखन की श्रेणी में ज़्यादा फिट बैठेगा। इसलिए उसका हमने ज़िक्र नहीं किया है। यह सच है कि स्तालिन के दौर में लिखे गये पार्टी इतिहास-लेखन की भी अपनी समस्याएँ हैं। मिसाल के तौर पर, विपक्ष में आने वाले सभी वामपन्थी या दक्षिणपन्थी धड़ों के विषय में, त्रात्स्की के विषय में और त्रात्स्की से चली बहसों के विषय में इन इतिहास-लेखनों में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती, विशेष तौर पर, 1930 के बाद के दौर में। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि 1930 के दशक में विशेष तौर पर त्रात्स्की ने सोवियत संघ के बरक्स एक प्रतिक्रान्तिकारी भूमिका निभायी थी। इसलिए इस दौर के सोवियत इतिहास-लेखन में एक निश्चित रूप में त्रात्स्की का चित्रण किया गया है। हमने प्रवृत्ति पर पहले टिप्पणी कर चुके हैं और अभी हम इस पर ध्यान केन्द्रित नहीं करेंगे।

फ़िलहाल, हमारी दिलचस्पी चौथी श्रेणी में आने वाले एक अग्रणी इतिहासकार **अलेक्जैण्डर रैबिनोविच** के लेखन में है जिनकी तीन पुस्तकें आज विश्व भर में बोलशेविक क्रान्ति पर पिछले चार-पाँच दशकों में हुए सबसे अच्छे शोध-कार्यों में मानी जाती है : 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन', 'दि बोलशेविक्स कम टू पावर' और 'दि बोलशेविक्स इन पावर'। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती है कि ये बहुमूल्य शोधकार्य हैं और हर मार्क्सवादी-लेनिनवादी को इनका अध्ययन कर लेना चाहिए। लेकिन जिस प्रकार ई.एच. कार का लेखन मूल दस्तावेज़ों के अध्ययन के आधार पर किया गया

एक बहुमूल्य शोध होने के बावजूद अपने विशिष्ट विचारधारात्मक व राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण अक्सर गलत नतीजों तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार रैबिनोविच के शोध में भी तथ्यपरकता के बावजूद एक प्रकार की विचारधारा-अन्धता है (जो कि स्वयं एक विचारधारात्मक अवस्थिति ही है)। बल्कि कहना चाहिए कि रैबिनोविच का इतिहास-लेखन इस मायने में कार के इतिहास-लेखन से कमजोर ठहरता है। इसके निश्चित कारण हैं।

ई.एच. कार ब्रिटिश अनुभववाद व प्रत्यक्षवाद की धारा से आने वाले इतिहासकार हैं और साथ ही उन पर मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव और विशेष तौर पर त्रात्स्की और त्रात्स्कीपन्थी विद्वानों (जैसे कि इज़ाक डॉइशर) के विचारों के प्रभाव से भी इंकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन रैबिनोविच प्रत्यक्षवाद की अमेरिकी धारा से आते हैं जिसके कारण उनके इतिहास-लेखन में तथ्यपरकता तो है, लेकिन साथ ही व्यक्तिवादी विश्लेषण का काफ़ी प्रभाव है। इसलिए जहाँ कार व्यक्तियों के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए भी ढाँचागत कारकों को प्रधानता देते हैं, वहीं रैबिनोविच के लेखन में व्यक्तियों की विशिष्ट भूमिकाओं पर अतिरेकपूर्ण जोर है और कई बार तमाम ऐतिहासिक परिवर्तनों के लिए भी व्यक्तियों की भूमिका को ढाँचागत कारकों के साथ द्वन्द्वात्मक अन्तर्क्रिया में नहीं बल्कि स्वतन्त्र रूप से ज़िम्मेदार ठहराया गया है।

साथ ही, रैबिनोविच का इतिहास-लेखन मूलतः उस दौर में हुआ जिस दौर में सोवियत संघ संशोधनवादी नेतृत्व में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के रास्ते पर काफ़ी आगे बढ़ चुका था। वहीं कार के 14 खण्डों के शुरुआती और सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण खण्ड 1950 से 1953 के बीच आ गये थे। सोवियत संघ उस समय द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह विनाश और बलिदानों से उबर कर समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ रहा था और दुनिया के नवस्वाधीन और राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्षरत देशों के लिए एक प्रेरणास्रोत था। यही कारण है कि अपनी तमाम आलोचनाओं के बावजूद कार सोवियत संघ को विश्व राजनीति में एक प्रगतिशील शक्ति मानते थे। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि संशयवाद के चरम पर पहुँचने की अवधि में हुआ रैबिनोविच का इतिहास-लेखन इस कारण से भी कार के इतिहास-लेखन से काफ़ी अलग है। लेकिन रैबिनोविच के इतिहास-लेखन का विश्लेषण इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। वह उनके इतिहास-लेखन के ठोस नमूनों के आधार पर किया जाना चाहिए और यहाँ हम यही करेंगे।

हम यहाँ मुख्य रूप से उनकी पुस्तक 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' का विश्लेषण करेंगे। उनकी दूसरी पुस्तक 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' के बारे में संक्षेप में कुछ प्रेक्षण हम अध्याय के मुख्य हिस्से में कर चुके हैं। रैबिनोविच की पहली पुस्तक का विश्लेषण उनके इतिहास-लेखन को समझने के लिए पर्याप्त है क्योंकि रैबिनोविच की मूल थीसिस उनकी पहली पुस्तक में ही आ गयी है। आगे की दोनों पुस्तकों में केवल उस थीसिस को पुष्ट किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी बाद की दोनों पुस्तकों को नहीं पढ़ा जाना चाहिए। कारण यह है कि ये तीनों ही पुस्तकें क्रान्तिकारी रूस में दिन-प्रतिदिन क्या हो रहा था, कैसे हो रहा था, इसका एक जीवन्त चित्र पेश करती हैं। यदि पाठक रैबिनोविच के इतिहास-लेखन की कमजोरियों से परिचित है तो उसके लिए ये पुस्तकें

उपयोगी साबित हो सकती हैं।

रैबिनोविच की मूल थीसिस है एक 'विभाजित पार्टी' की थीसिस। इसके अनुसार बोलशेविक पार्टी कोई एकाशमी पार्टी नहीं थी जो किसी भी प्रश्न के बिना लेनिन के नेतृत्व के मातहत काम करती थी। रैबिनोविच का यह दावा है कि अधिकांश आधिकारिक सोवियत इतिहास-लेखन में ऐसी तस्वीर पेश की गयी है जिसके अनुसार बोलशेविक पार्टी लेनिन की इच्छा के अन्तर्गत लौह-अनुशासन व चट्टान जैसी मजबूती के साथ काम करने वाली पार्टी थी, जिसमें लेनिन प्रश्नों से इतर थे। हालाँकि जब आप यह देखते हैं कि रैबिनोविच के अनुसार ये 'आधिकारिक सोवियत इतिहास-लेखन' क्या हैं, तो आप पाते हैं कि वे सभी संशोधनवाद के दौर में लिखी गयी पुस्तकें हैं। 1956 के पहले की जिस इतिहास की पुस्तक को रैबिनोविच बार-बार उद्धृत करते हैं वह है स्तुलोव की पुस्तक जो कि 1930 में छपी थी और इस पुस्तक को रैबिनोविच अपना दावा सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं कि बोलशेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी। 'बोलशेविक पार्टी का इतिहास' को रैबिनोविच उद्धृत नहीं करते हैं। न ही रैबिनोविच लेनिन और स्तालिन के मूल लेखन से उन्हें उद्धृत करते हैं। अगर वे लेनिन और स्तालिन को उद्धृत करते भी हैं तो अधिकांशतः अन्य लोगों द्वारा लिखे गये संस्मरणों से करते हैं, जिसमें कि संस्मरण लेखकों ने स्मृति के आधार पर बताया है कि अमुक अवसर पर लेनिन या स्तालिन ने क्या कहा। कहीं-कहीं प्राव्दा व अन्य पत्र-पत्रिकाओं से लेनिन व स्तालिन को उद्धृत किया गया है, लेकिन बेहद कम। स्तालिन को तो कई जगह इरादतन ग़लत उद्धृत किया गया है और उनकी अवस्थितियों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया है। साथ ही, जिन लोगों के संस्मरणों को सबसे ज्यादा उद्धृत किया गया है, उनमें से अधिकांश मेंशेविक हैं। त्रात्स्की को ज़रूर उद्धृत किया गया है, विशेष तौर पर उनकी रचनाओं 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' और 'स्तालिन्स स्कूल ऑफ़ फ़ॉल्सीफ़िकेशन' को। लेकिन त्रात्स्की को भी केवल तभी उद्धृत किया गया है, जब रैबिनोविच 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने में त्रात्स्की को मददगार पाते हैं। जहाँ-जहाँ त्रात्स्की का इतिहास-लेखन 'विभाजित पार्टी' के रैबिनोविच के सिद्धान्त के विपरीत खड़ा है, वहाँ-वहाँ त्रात्स्की के लेखन की भी उपेक्षा कर दी गयी है।

सच्चाई यह है कि न तो लेनिन के लेखन में, न ही स्तालिन के लेखन में और न ही किसी अन्य बोलशेविक नेता के लेखन में बोलशेविक पार्टी की ऐसी तस्वीर मिलती है जिसमें लेनिन का नेतृत्व प्रश्नेतर हो और उनकी इच्छा के मातहत पूरी पार्टी एकाशमी रूप से एकजुट हो। यहाँ तक कि 'बोलशेविक पार्टी का इतिहास' में भी ऐसी तस्वीर नहीं पेश की गयी है, जिसे बर्जुआ इतिहासकार व विद्वान सबसे ज्यादा शक की निगाह से देखते हैं। साथ ही, 1956 से पहले लिखे गये सोवियत इतिहास लेखन में भी ऐसी कोई तस्वीर नहीं मिलती। कारण यह कि ऐसी तस्वीर पेश करने की सोवियत इतिहासकारों को कोई आवश्यकता नहीं थी। ऐसी आवश्यकता संशोधनवादियों और सामाजिक-फ़्रासीवादियों की थी जो कि पार्टी के प्रति एकनिष्ठा के नाम पर पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध हर प्रतिरोध को "प्रतिक्रान्तिकारी" करार देना चाहते थे। यही कारण है कि 1956 के

पहले और विशेष तौर पर 1930 के दशक के पहले सोवियत इतिहास-लेखन की किस पुस्तक में ऐसी एकाश्री पार्टी का मॉडल पेश किया जा रहा था, अलेक्जेंडर रैबिनोविच नहीं बता पाते हैं। गौरतलब है कि 1930 के दशक के मध्य से सोवियत संघ आन्तरिक और और बाह्य, दोनों ही तौर पर एक आपात स्थिति से गुजर रहा था। फ्रासीवाद का खतरा सिर पर मँडरा रहा था; पार्टी में आन्तरिक कलह, षड्यन्त्र और दुरभिसन्धियों का माहौल 'महान शुद्धीकरण' के बाद भी समाप्त नहीं हुआ था और समाजवादी संक्रमण की समस्याओं की समुचित समझदारी न होने के कारण राज्यसत्ता में नौकरशाहाना विकृतियाँ बढ़ती जा रही थीं। इस दौर में जो इतिहास-लेखन हुआ, उसकी अपनी समस्याएँ हैं। मगर फिर भी उनकी तुलना संशोधनवाद के दौर में हुए इतिहास-लेखन से नहीं की जा सकती है।

अब हम उनकी पहली पुस्तक 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' के विश्लेषण के आधार पर दिखलायेंगे कि रैबिनोविच का लेखन दस्तावेजी शोध और तथ्यों में समृद्ध होने के बावजूद अपने विचारधारात्मक व राजनीतिक पूर्वाग्रहों के कारण बोलशेविक क्रान्ति के इतिहास की एक असन्तुलित और कहीं-कहीं विकृत तस्वीर पेश करता है।

## फ़रवरी से जुलाई के दौर के विषय में रैबिनोविच : 'विभाजित पार्टी' की अवधारणा को सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास

'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' के 1991 में प्रकाशित हुए मिडलैण्ड संस्करण की प्रस्तावना के प्रारम्भ में ही रैबिनोविच अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर देते हैं। वह लिखते हैं कि 1964 में खुश्चेव के सत्ताच्युत होने के बाद "स्तालिनवादी ऑर्थोडॉक्सी" पुनः सशक्त हो गयी है और फिर सोवियत इतिहास के बारे में सभी पाश्चात्य अध्येताओं की रचनाओं को हमले का निशाना बनाना शुरू कर दिया गया है। पाश्चात्य प्रेक्षकों के लिए खुश्चेव प्यारा था और ब्रेझनेव उतना प्यारा नहीं था, तो यह सहज ही समझा जा सकता है। ब्रेझनेव का दौर अमेरिका के साथ सामाजिक-साम्राज्यवाद की प्रतिस्पर्द्धा के अभूतपूर्व उभार का दौर था, जबकि खुश्चेव को निश्चय ही पूँजीवादी पुनर्स्थापना के अगुवा के रूप में पश्चिमी विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। रैबिनोविच के अनुसार ब्रेझनेव के दौर के सोवियत इतिहासकारों के द्वारा उनकी रचनाओं को विशेष तौर पर निशाना बनाया गया क्योंकि उनके शोध ने ठोस प्रमाणों के आधार पर दिखलाया था कि *लेनिन के नेतृत्व के अन्तर्गत एकजुट एकाश्री पार्टी* की स्तालिनवादी अवधारणा झूठ है और साथ ही यह भी दिखलाया कि सोवियत इतिहास-लेखन के विपरीत जुलाई में पेत्रोग्राद में हुआ मजदूरों व सैनिकों का प्रदर्शन कोई शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं था, बल्कि एक बगावत थी।

यह स्वाभाविक ही है कि एक बुर्जुआ इतिहासकार होने के नाते रैबिनोविच 1953-56 के पहले और बाद के दौर के बीच फ़र्क नहीं करते। उनके लिए संशोधनवादी दौर और संशोधनवाद के पहले के दौर के बीच कोई अन्तर नहीं है। उल्टे खुश्चेव उनके लिए एक सुधारक था जबकि खुश्चेव के जाने के बाद ब्रेझनेव के दौर में स्तालिनवाद की वापसी हो गयी थी। शीतयुद्ध के दौर

में सारे अमेरिकी इतिहास-लेखन की यह एक साझा थीम है और इसके बारे में हमें ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन असल मुद्दा यहाँ यह है कि रैबिनोविच के लिए 'सोवियत इतिहास-लेखन' का क्या अर्थ है? चूँकि वे संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद-लेनिनवाद में कोई फ़र्क नहीं करते इसलिए लाज़िमी है कि वे 1953-56 के पहले के सोवियत इतिहास-लेखन और 1960 के दशक से हुए सोवियत इतिहास-लेखन में कोई अन्तर नहीं करेंगे। लेकिन अगर वे फ़र्क न करते और सोवियत इतिहास-लेखन में 1953-56 से पहले हुए इतिहास-लेखन को भी शामिल करते तो बेहतर होता। वे अपने "सोवियत इतिहास-लेखन" में केवल 1956 के बाद की रचनाओं का ज़िक्र करते हैं। वे 1930 में छपी स्तुलोव की पुस्तक का ज़िक्र करते हैं, लेकिन यह साबित करने के लिए कि उनकी 'विभाजित पार्टी' की अवधारणा सही है। यानी कि स्तुलोव की पुस्तक को वे सोवियत इतिहास-लेखन का प्रातिनिधिक उदाहरण नहीं मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार वह किसी एकाशमी बोलशेविक पार्टी का चित्र नहीं पेश करती है। स्तुलोव के अतिरिक्त, वे 1956 के पहले के किसी इतिहास-लेखन का ज़िक्र नहीं करते, हालाँकि वे 1956 के पहले लिखे गये तमाम रिपोर्टार्जों व संस्मरणों का ज़िक्र ज़रूर करते हैं। लेकिन केवल इसी आधार पर उनका यह दावा रद्द हो जाता है कि सोवियत इतिहास-लेखन में लेनिन के नेतृत्व में एकाशमी तौर पर एकजुट बोलशेविक पार्टी की तस्वीर पेश की गयी है, कि न तो 1956 के पहले की किसी भी इतिहास की रचना में ऐसी कोई तस्वीर मिलती है और न ही लेनिन या स्तालिन या किसी अन्य बोलशेविक के लेखन में ऐसी कोई तस्वीर मिलती है। यहाँ तक कि 'बोलशेविक पार्टी का इतिहास' में भी ऐसी कोई तस्वीर नहीं मिलती है। इन सभी स्रोतों में जो तस्वीर मिलती है वह एक ऐसी पार्टी की तस्वीर है जिसमें दो लाइनों का तीखा और जीवन्त संघर्ष लगातार जारी था और जो जनवादी केन्द्रीयता के बुनियादी उसूलों पर काम कर रही थी। यह सम्भव है कि स्तालिन के दौर में हुए पार्टी इतिहास-लेखन की कुछ अपनी समस्याएँ हों। लेकिन पार्टी के भीतर शुरू से ही जारी तीखे दो लाइनों के संघर्ष की तस्वीर उसमें भी मिल जाती है।

रैबिनोविच पार्टी के भीतर जारी दो लाइनों के संघर्ष, लेनिन से विभिन्न नेताओं के अलग-अलग समय पर मौजूद विचारधारात्मक व राजनीतिक मतभेदों व बहसों, व अलग-अलग बोलशेविकों द्वारा कुछ मौकों पर पार्टी अनुशासन की अवहेलना की घटनाओं का इस्तेमाल यह सिद्ध करने में करते हैं कि बोलशेविक पार्टी विभिन्न प्रकार के समूहों का एक समुच्चय थी। इसमें विभिन्न लक्ष्य व विभिन्न हित रखने वाले अलग-अलग गुट थे जो आपस में संघर्षरत रहते थे। रैबिनोविच यहाँ तक दावा करते हैं कि जुलाई 1917 के "विद्रोह" के समय तक पार्टी के भीतर सत्ता के तीन केन्द्र काम कर रहे थे: केन्द्रीय कमेटी, बोलशेविक सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी। उनके अनुसार, इन तीनों केन्द्रों के अलग-अलग हित थे और अलग-अलग लक्ष्य थे। सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी अपनी स्वायत्तता को बढ़ाने के लिए लगातार संघर्ष करते रहते थे और केन्द्रीय कमेटी उन पर अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए लगातार प्रयत्न करती रहती थी। इस दावे को साबित करने के लिए दो प्रकार के वाक्यों का सहारा लिया जाता है :

पहला, पार्टी की केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और सैन्य संगठन में और इन तीनों के बीच जारी राजनीतिक बहसों की घटनाएँ और साथ ही पार्टी अनुशासन व पार्टी द्वारा तय कार्यदिशा की अवहेलना की व्यक्तिगत घटनाओं का (जिनमें से कई इस वजह से हुई थीं क्योंकि पार्टी की केन्द्रीय कमेटी अपने फ़ैसलों को निम्नतर इकाइयों या जिम्मेदार व्यक्तियों तक समय पर सम्प्रेषित नहीं कर पायी थी)। बहसों का कारण कई बार ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषणों में मौजूद फ़र्क था तो कई बार निम्नतर इकाइयों की जनदबाव में आकर विश्लेषण व कार्रवाई करने की प्रवृत्ति। उपरोक्त आधार पर रैबिनोविच बाकी पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी और एक 'विभाजित पार्टी' होने के कारण ही उसमें यह क्षमता थी कि वह आगे चलकर सत्ता पर क़ब्ज़ा कर पायी। यह सिद्ध करने के प्रयास में कई मौक़ों पर वे तथ्यों में ही हेर-फेर करते हैं, जिन पर हम आगे आयेँगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ पर रैबिनोविच के उदारवादी बुर्जुआ पूर्वाग्रह स्पष्ट रूप से प्रकट हो गये हैं। बोल्शेविक पार्टी जब तक (रैबिनोविच के अनुसार) किसी लौह-अनुशासन में नहीं काम कर रही थी और उसका ढाँचा भी किसी भी पश्चिमी बुर्जुआ पार्टी के समान असंगत और वैविध्यपूर्ण समूहों व गुटों के एक ढीले-ढाले समुच्चय जैसा था, तब तक वह प्रगतिशील और कामयाब थी। इस ढीले-ढालेपन को "आन्तरिक जनवाद" का पर्याय माना गया है! इसलिए 'विभाजित पार्टी' होना रैबिनोविच के लिए कोई नकारात्मक बात नहीं थी, बल्कि बोल्शेविक पार्टी की शक्ति का परिचायक थी। समझा जा सकता है कि त्रात्स्कीपन्थियों को रैबिनोविच का इतिहास-लेखन क्यों काफ़ी पसन्द आया है। त्रात्स्की जब भी अल्पसंख्या में होते थे जो वे गुटों के अस्तित्व की हिमायत करने लगते थे और जब बहुसंख्या में होते थे तो नौकरशाह होने की हद तक "अनुशासन" की हिमायत करने लगते थे। चूँकि ऐतिहासिक तौर पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर चली बहस में वे अन्त तक अल्पसंख्या में रहे इसलिए उनका और उनके अनुयायियों का गुटवाद और "विभाजित पार्टी" की अवधारणा का समर्थक होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि तमाम त्रात्स्कीपन्थी वेबसाइटों ने रैबिनोविच की पुस्तक की मूलतः प्रशंसामूलक समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं।

'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को सिद्ध करने के लिए पहली पुस्तक में रैबिनोविच ने 10 जून 1917 के रद्द कर दिये गये विरोध प्रदर्शन और 3-5 जुलाई के दौरान हुए जनउभार की घटनाओं का अपना विश्लेषण पेश किया है। तथ्यों व दस्तावेज़ों के अध्ययन के मामले में यह विश्लेषण समृद्ध है और आलोचनात्मक तौर पर पढ़े जाने पर यह विवरण किसी मार्क्सवादी-लेनिनवादी के लिए भी उपयोगी हो सकता है। लेकिन जहाँ तक तथ्यों के वैज्ञानिक व तार्किक विश्लेषण का प्रश्न है, यह विश्लेषण अमेरिकी समाजशास्त्रीय प्रत्यक्षवादी और व्यक्तिवादी विश्लेषण की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाता है।

3-5 जुलाई की घटनाओं का विवरण पेश करके रैबिनोविच दो बातें सिद्ध करना चाहते हैं: पहला, कि ये घटनाएँ शान्तिपूर्ण नहीं थीं और इस दौरान हिंसा हुई थी; दूसरा यह कि तृणमूल

धरातल पर काम करने वाले बोलशेविक सैनिकों और मजदूरों को सशस्त्र विद्रोह के लिए तैयार कर रहे थे। यानी कि रैबिनोविच के अनुसार सोवियत विवरणों के विपरीत, 3-5 जुलाई को कोई शान्तिपूर्ण विरोध प्रदर्शन नहीं बल्कि एक विद्रोह हुआ था और साथ ही यह कि बोलशेविक पार्टी के लोग इस विद्रोह की तैयारियों में शामिल थे। आइये देखते हैं कि इन दावों के आधारभूत आग्रह क्या हैं और इनमें कितनी सच्चाई है।

जैसा कि हमने पहले बताया रैबिनोविच के लिए सोवियत विवरणों में लेनिन, स्तालिन और यहाँ तक त्रात्स्की का लेखन नहीं शामिल है; उनके लिए सोवियत स्रोतों का अर्थ है केवल संशोधनवादी इतिहासकारों की रचनाएँ। वे 'बोलशेविक पार्टी का इतिहास' तक को उद्धृत नहीं करते, जो कि रैबिनोविच के मानकों के अनुसार सर्वाधिक असुधारणीय रूप से "स्तालिनवादी" पुस्तक है! इसलिए हम लेनिन, स्तालिन और यहाँ तक कि त्रात्स्की के विवरणों में जाकर देखेंगे कि उन्होंने 3-5 जुलाई के प्रदर्शन के बारे में क्या लिखा है और रैबिनोविच के दावे सही हैं या नहीं।

लेनिन ने मध्य-जुलाई से लेकर जुलाई के अन्त के दौर में कई ऐसे लेख लिखे जिनमें 3-5 जुलाई की घटनाओं का एक विश्लेषण पेश किया गया है। इनमें प्रमुख हैं : 'नारों के बारे में', 'तीन संकट', 'एक उत्तर'। इन तीनों लेखों में लेनिन ने जुलाई के जनउभार के बारे में कुछ बातें स्पष्ट कर दी हैं : पहला, 3-5 जुलाई का प्रदर्शन शान्तिपूर्ण नहीं था, हालाँकि हिंसा की शुरुआत प्रतिक्रान्तिकारी गिरोहों और सरकार के दस्तों द्वारा की गयी थी; दूसरा, यह महज प्रदर्शन नहीं था, बल्कि उससे कुछ ज़्यादा था, हालाँकि इसे क्रान्तिकारी विद्रोह की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती है; तीसरा, बोलशेविक पार्टी ने इस जनउभार को पहले रोकने का प्रयास किया था क्योंकि यह अपरिपक्व सशस्त्र बगावत में तब्दील हो सकता था और जब उसे रोकना सम्भव नहीं रहा तो पार्टी ने उसे अधिकतम सम्भव 'शान्तिपूर्ण और संगठित' बनाने का प्रयास किया।

आइये देखते हैं कि लेनिन इसके बारे में क्या लिखते हैं। 'तीन संकट' नामक लेख में लेनिन लिखते हैं कि रूसी क्रान्ति के विकास में फ़रवरी क्रान्ति के बाद तीन क्रान्तिकारी संकट उत्पन्न हुए हैं : पहला, 20-21 अप्रैल का संकट, दूसरा, 10-18 जून का संकट और तीसरा, 3-5 जुलाई का संकट। ये तीनों ही संकट प्रदर्शनों के रूप में प्रकट हुए लेकिन वे महज प्रदर्शन नहीं रहे बल्कि जनता की क्रान्तिकारी भावना की अभिव्यक्ति बनते हुए प्रदर्शन से आगे की मंज़िल में पहुँच गये, हालाँकि उन्हें क्रान्ति का प्रयास नहीं करार दिया जा सकता है। लेनिन लिखते हैं :

"तीसरा संकट 2 जुलाई को बोलशेविकों द्वारा इसे रोकने के प्रयासों के बावजूद 3 जुलाई को फूट पड़ा। 4 जुलाई को यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने के साथ ही 5 और 6 जुलाई को इसने प्रतिक्रान्ति के तीव्र विस्फोट को जन्म दिया। समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेशेविकों के दुलमुलपन ने अपने आपको स्पिरिदिनोवा व अन्य कई समाजवादी-क्रान्तिकारियों की इस घोषणा में अभिव्यक्त किया कि सारी सत्ता सोवियतों को स्थानान्तरित कर दी जानी चाहिए, और साथ ही मेशेविक अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के दुलमुलपन ने भी इसी विचार को अभिव्यक्त करने में अपने आपको प्रकट किया, जो कि

पहले इस विचार का विरोध कर रहे थे।

"इन सभी घटनाओं को उनके अन्तर्सम्बन्धों में देखा जाये तो अन्तिम और सम्भवतः सबसे अनुदेशात्मक निर्णय जो कि हमारे सामने आता है वह यह है कि इन तीनों संकटों ने अपने आपको किसी न किसी प्रकार के प्रदर्शन में प्रकट किया जो कि हमारी क्रान्ति के इतिहास में नया है, ऐसे प्रदर्शन में जो अधिक जटिल प्रकार हैं जिसमें आन्दोलन लहरों में आगे बढ़ता है, जिसके दौरान आकस्मिक गिरावट के बाद तीव्र उभार आता है, जिसमें क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति अधिक विकट हो जाते हैं, और मध्यमार्गी तत्व कमोबेश व्यापक दौर के लिए समाप्त हो जाते हैं।

"इन तीनों ही संकटों में, आन्दोलन ने एक प्रदर्शन का रूप लिया। एक सरकार-विरोधी प्रदर्शन - जो कि घटनाओं का सर्वाधिक सटीक, औपचारिक विवरण होगा। लेकिन वास्तव में ये कोई साधारण प्रदर्शन नहीं थे; यह किसी प्रदर्शन से कहीं ज्यादा थे, लेकिन किसी क्रान्ति से कम थे। यह क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति का एक साथ होने वाला विस्फोट थे, मध्यमार्गी तत्वों का तीव्र और कई बार लगभग अचानक होने वाला ख़ात्मा थे, जब सर्वहारा और बुर्जुआ तत्व तूफानी रूप में प्रकट हुए।" (वी.आई. लेनिन, 1974, *तीन संकट, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड - 25*, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 172-73)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेनिन 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को महज़ साधारण शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं मानते थे। ऐसे में प्रश्न उठता है कि रैबिनोविच लेनिन को उद्धृत क्यों नहीं करते? वे महज़ संशोधनवादी इतिहासकारों के विवरणों को लेकर यह दावा क्यों करते हैं कि सभी आधिकारिक सोवियत विवरणों में 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों को साधारण शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करार दिया गया है? क्या लेनिन के लेखन को सोवियत स्रोत नहीं माना जाना चाहिए? आइये देखते हैं कि इन प्रदर्शनों में हुई हिंसा के विषय में लेनिन का क्या कहना है :

"यह ग़ौर करना किसी भी मानक से महत्वपूर्ण बात है कि 4 जुलाई को गोलियाँ चलने के बारे में रिपोर्ट छापने वाला पहला बुर्जुआ विक्षिप्त रूप से बोलशेविक-विरोधी अख़बार था उसी दिन का सांयकालीन *बिर्जेव्स्का*। और इसी रपट में यह बताया जाता है कि गोली चलना प्रदर्शनकारियों की ओर से नहीं शुरू किया गया था, और जो पहली गोलियाँ चलीं थीं वे उनके *ख़िलाफ़* चलायी गयी थीं!! ज़ाहिर है कि "समाजवादी" कैबिनेट के "रिपब्लिकन" अधिवक्ता ने *बिर्जेव्स्का* की गवाही के बारे में खामोश रहना पसन्द किया है!! और फिर भी इस पूर्ण रूप से बोलशेविक-विरोधी *बिर्जेव्स्का* की गवाही जो कुछ हुआ था और हमारी पार्टी जिस रूप में इसे देखती है, उस सामान्य तस्वीर से पूरी तरह से मेल खाता है। अगर यह कोई सशस्त्र विद्रोह होता, तो, ज़ाहिर है, विद्रोहियों ने प्रदर्शन का विरोध कर रहे प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ नहीं चलायी होतीं बल्कि कुछ निश्चित बैरकों और कुछ निश्चित इमारतों को घेर लिया होता; उन्होंने कुछ निश्चित सैन्य इकाइयों का सफ़ाया कर दिया होता, आदि। वहीं दूसरी ओर, अगर यह सरकार के

खिलाफ़ एक प्रदर्शन था, जिसके बरक्स सरकार के समर्थकों का जवाबी प्रदर्शन हो रहा था, तो यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि प्रतिक्रान्तिकारी पहले गोलियाँ चलायें, आंशिक तौर पर इसलिए कि वे प्रदर्शनकारियों की इतनी बड़ी संख्या देखकर क्रुद्ध थे, और आंशिक तौर पर इसलिए कि उनका इरादा प्रदर्शनकारियों को उकसाना था। और यह भी उतना ही स्वाभाविक था कि प्रदर्शनकारी गोलियों का जवाब गोलियों से दें।

...

"वास्तव में, (मृत लोगों) की प्रकाशित सूचियों पर एक सरसरी निगाह डालने से भी यह साफ़ हो जाता है कि उसमें दो प्रमुख समूह थे, कज़ाक और नाविक, और उन दोनों के ही लोग बराबर संख्या में मारे गये थे। अगर वास्तव में कोई सशस्त्र विद्रोह करना सशस्त्र नाविकों का इरादा होता जो कि दस हजार की संख्या में मजदूरों और सैनिकों, विशेष तौर पर, मशीनगनर्स के साथ शामिल होने के लिए 4 जुलाई को पेत्रोग्राद में पहुँचे थे, तो क्या ऐसा होना सम्भव होता?

"निश्चित तौर पर, कज़ाकों और सशस्त्र विद्रोह का विरोध करने वाले अन्य लोगों में मृतकों की संख्या उस सूरत में दस गुना ज़्यादा होती, क्योंकि इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि पेत्रोग्राद की सड़कों पर 4 जुलाई के दिन सशस्त्र आबादी के भीतर बोल्शेविकों का वर्चस्व स्थापित था...

"अगर मृतकों की संख्या दोनों पक्षों में कमोबेश समान है, तो यह सिद्ध करता है कि गोलियाँ चलाने की शुरुआत प्रतिक्रान्तिकारियों की तरफ से की गयी थी और प्रदर्शनकारियों ने बस गोलियों से इसका जवाब दिया था...

"अन्त में, प्रेस में आयी निम्न सूचना बेहद महत्वपूर्ण है : 4 जुलाई को प्रदर्शनकारियों और प्रति-प्रदर्शनकारियों के बीच हुई झड़प में कज़ाकों की मौत होने की सूचना है। ऐसी झड़पें ग़ैर-क्रान्तिकारी काल में भी होती हैं, अगर आबादी उद्वेलित है; मिसाल के लिए, लातिनी देशों में, विशेषकर दक्षिण में, तो ऐसी घटनाएँ आम हैं। 4 जुलाई के बाद बोल्शेविकों के भी मारे जाने की ख़बरें हैं, जब कि उत्तेजित प्रदर्शनकारियों और प्रति-प्रदर्शनकारियों के बीच कोई टकराव नहीं हो रहा था, और इसलिए एक निःशस्त्र व्यक्ति की एक सशस्त्र व्यक्ति द्वारा हत्या एक निर्मम हत्या के अलावा कुछ नहीं था। श्पालेर्नाया मार्ग पर 6 जुलाई को बोल्शेविक वॉइनोव की हत्या ऐसी ही हरकत थी।" (वी.आई. लेनिन, 1974, एक उत्तर, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-25, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 216-217)

लेनिन के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेनिन इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों के दौरान हिंसा हुई थी और यह महज़ कोई शान्तिपूर्ण जुलूस या प्रदर्शन नहीं रह गया था। लेनिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि हिंसा की शुरुआत प्रतिक्रान्तिकारी ताकतों की ओर से की गयी थी। मज़ेदार बात यह है कि रैबिनोविच भी अपनी पुस्तक में एक पश्चटिप्पणी में इस बात

को स्वीकार करते हैं कि हिंसा की शुरुआत दक्षिणपन्थी बुर्जुआ गिरोहों द्वारा की गयी थी और प्रदर्शनकारियों ने उसके जवाब में गोलियाँ चलायी थीं। ऐसे में, रैबिनोविच का यह दावा औंधे मुँह गिर जाता है कि सोवियत स्रोतों में (हम यहाँ संशोधनवादी स्रोतों की बात नहीं कर रहे) 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को एक साधारण व शान्तिपूर्ण प्रदर्शन बताया गया था। अगर हम इस दौर में स्तालिन द्वारा लिखे गये लेखों 'क्लोज़ दि रैंक्स', 'व्हाट हैज़ हैपेण्ड' आदि को देखें तो रैबिनोविच का यह दावा और भी हास्यास्पद लगता है। हम केवल एक लेख 'क्लोज़ दि रैंक्स' से एक उद्धरण पेश करेंगे जिससे कि इस दौर के बारे में स्तालिन का मूल्यांकन स्पष्ट हो जाये। स्तालिन लिखते हैं :

"न तो बोलशेविकों ने और न ही किसी अन्य पार्टी ने 3 जुलाई के प्रदर्शन का आह्वान किया था। और तो और, 3 जुलाई तक भी बोलशेविक पार्टी जो कि पेत्रोग्राद में सर्वाधिक प्रभावशाली थी, मज़दूरों और सैनिकों से प्रदर्शन न करने का आह्वान ही कर रही थी। लेकिन जब इन सारे प्रयासों के बावजूद आन्दोलन फूट पड़ा, तो हमारी पार्टी ने यह मानते हुए कि उसे इस मामले से हाथ झाड़ लेने का कोई अधिकार नहीं है, इस बात का हर सम्भव प्रयास किया कि आन्दोलन को एक शान्तिपूर्ण और संगठित चरित्र दिया जाये।

"लेकिन प्रति-क्रान्तिकारी ऊँघ नहीं रहे थे। उन्होंने उकसाने के लिए गोलियाँ चलवायी थीं; उन्होंने प्रदर्शन के दिनों को खून से लाल कर दिया और, मोर्चे की कुछ विशेष इकाइयों के बूते उन्होंने क्रान्ति के खिलाफ़ आक्रमण की शुरुआत कर दी।" (जोसेफ़ स्तालिन, 1953, *क्लोज़ दि रैंक्स*, *कलेक्टेट वर्क्स*, खण्ड-3, फ़ॉरेन लैंग्वेजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 110-111)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बोलशेविक पार्टी के नेतृत्व ने 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का हर सम्भव प्रयास किया था। 3 जुलाई की देर रात तक ये प्रयास जारी थे। लेकिन जब ये प्रयास सफल नहीं हुए और पार्टी के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि अब प्रदर्शन को रोका नहीं जा सकता है, तो पार्टी ने उसमें हिस्सेदारी करके उसे अधिकतम सम्भव शान्तिपूर्ण और संगठित रूप देने का प्रयास किया। लेनिन के भी ऊपर उल्लिखित तीन लेखों में बार-बार इस बात का जिक्र किया गया है। साथ ही, स्तालिन के उपरोक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन सोवियत स्रोतों में, बोलशेविक नेताओं के लेखन से लेकर इतिहास-लेखन तक में 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को किसी शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के रूप में चित्रित नहीं किया गया था। लेकिन अपने बुर्जुआ पूर्वाग्रहों के कारण रैबिनोविच का लेनिन और स्तालिन के लेखन के प्रति संशय की भावना हो सकती है। इसलिए आइये उनके प्रिय स्रोत त्रात्स्की पर चलते हैं और देखते हैं कि उन्होंने जुलाई 1917 में ही जुलाई की घटनाओं के बारे में क्या लिखा था। वे लिखते हैं :

"बोलशेविकों समेत सभी पार्टियों ने 16 जुलाई (3 जुलाई) के प्रदर्शन से जनसमुदायों को रोकने का हर सम्भव प्रयास किया लेकिन जनता ने प्रदर्शन किया और वह भी अपने हाथों में हथियार लेकर। 16 जुलाई की शाम को ही सभी आन्दोलनकारियों ने ऐलान किया कि चूँकि सत्ता का प्रश्न हल नहीं हुआ है, इसलिए 17 जुलाई (4 जुलाई) का प्रदर्शन

होना अपरिहार्य है, और कोई भी क्रदम जनता को इससे रोक नहीं सकता है। यह एकमात्र कारण था कि बोलशेविक पार्टी, और उसके साथ ही हमारे संगठन (उस समय त्रात्स्की मेज़राओन्त्सी नामक ग्रुप में थे - लेखक) ने तय किया कि वह इससे अलग-थलग नहीं रह सकते और इसके परिणामों से हाथ नहीं झाड़ सकते, बल्कि उन्हें 17 जुलाई के मामले को एक शान्तिपूर्ण जनप्रदर्शन में तब्दील करने के लिए हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। 17 जुलाई की अपील का और कोई अर्थ नहीं था। जाहिर है कि यह स्पष्ट था कि प्रतिक्रान्तिकारी गिरोहों के लगभग तय हस्तक्षेप के मद्देनज़र खूनी टकराव की स्थितियाँ पैदा होंगी। यह सच है कि जन समुदायों को बिना किसी राजनीतिक मार्गदर्शन के छोड़ा जा सकता है, उन्हें राजनीतिक तौर पर छिन्न-भिन्न किया जा सकता है, और उन्हें निर्देशित करने से इंकार करके उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ा जा सकता था। लेकिन हम मज़दूर पार्टी होने के नाते पाइलेट के रणकौशल का अनुसरण नहीं कर सकते थे (पाइलेट वह रोमन अधिकारी था जिसने न चाहते हुए भी ईसा को सूली पर चढ़ाये जाने के लिए सौंप दिया था - लेखक) : इसलिए हमने जन समुदायों के साथ शामिल होने और उनके साथ डटे रहने का निर्णय लिया, ताकि उनकी तात्विक उथल-पुथल में हम अधिकतम सम्भव संगठन ला सकें, जितना कि दी गयी परिस्थितियों में सम्भव था, और सम्भावित हताहतों की संख्या को न्यूनतम सीमा तक रख सकें। तथ्य सभी को अच्छी तरह से पता हैं। खून बहाया गया है। और अब बुर्जुआ वर्ग का "प्रभावी प्रेस" और बुर्जुआ वर्ग की सेवा करने वाले अन्य अख़बार इन परिणामों की सारी ज़िम्मेदारी हमारे कन्धों पर रखने का प्रयास कर रहे हैं - जनसमुदायों की ग़रीबी, श्रान्ति, असन्तोष और विद्रोही भावना की ज़िम्मेदारी हम पर डालने का प्रयास कर रहे हैं।" (लियोन त्रात्स्की, 1918, दि जुलाई अपराइज़िंग, दि प्रोलेतारिन रिबोल्यूशन इन रशिया, सं. लुइस सी फ्रायना, दि कम्युनिस्ट प्रेस, न्यूयॉर्क)

स्पष्ट है कि त्रात्स्की 1917 में भी जुलाई की घटनाओं को शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं मानते थे। उनका भी मानना था कि बोलशेविक पार्टी की मंशा यही थी कि इस प्रदर्शन को रोका जाये क्योंकि इसके अपरिपक्व सशस्त्र बग़ावत में तब्दील होने का ख़तरा था, लेकिन जब इसे रोका नहीं जा सका तो बोलशेविक पार्टी ने इसमें शामिल होकर इसे अधिकतम सम्भव संगठित और शान्तिपूर्ण रूप देने का प्रयास किया। लेकिन ताज़ुब की बात यह है कि इस प्रश्न पर रैबिनोविच त्रात्स्की को भी उद्धृत नहीं करते हैं।

हमने यहाँ लेनिन, स्तालिन और त्रात्स्की को विस्तार से इसलिए उद्धृत किया ताकि रैबिनोविच के इस दावे की सच्चाई की पड़ताल की जा सके कि सभी सोवियत स्रोतों में 3-5 जुलाई की घटनाओं को शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के रूप में चित्रित किया गया है, जो कि आधिकारिक सोवियत दृष्टिकोण था और चूँकि सोवियत रूस में इतिहास-लेखन सोवियत सरकार की राजनीतिक ज़रूरतों से निर्धारित होता था इसलिए सोवियत इतिहास-लेखन में 3-5 जुलाई की घटनाओं का सही चित्रण नहीं मिलता है। हम लेनिन, स्तालिन और यहाँ तक कि त्रात्स्की के उपरोक्त उद्धरणों

में देख सकते हैं कि प्रदर्शन को बोलशेविकों ने शान्तिपूर्ण और संगठित रूप देने का प्रयास किया लेकिन प्रतिक्रान्तिकारी गिरोहों द्वारा किये गये हमले के कारण प्रदर्शनकारियों ने भी जवाबी हमला किया और हिंसा हुई। इसलिए आप अन्त में ताज्जुब करते हैं कि रैबिनोविच के "सोवियत स्रोत" कौन-से हैं। जब आप ग्रन्थ सूची देखते हैं तो आपको पता चलता है कि ये तथाकथित सोवियत स्रोत 1953-56 के बाद किया गया संशोधनवादी इतिहास-लेखन है या फिर उन मेशेविकों का जिन्होंने उस समय स्पष्ट तौर पर प्रतिक्रान्ति का पक्ष चुन लिया था और बोलशेविक पार्टी के दमन का माहौल बनाने के लिए उस पर सशस्त्र विद्रोह की तैयारी का आरोप लगा रहे थे।

अपनी पुस्तक के 'प्राक्कथन' में रैबिनोविच लिखते हैं कि इस पुस्तक में उनका प्रमुख लक्ष्य यह दिखलाना है कि जून और जुलाई के घटनाक्रम से यह साफ़ हो जाता है कि बोलशेविक पार्टी लेनिन के नेतृत्व में काम करने वाली कोई एकाशमी संरचना नहीं थी जो बिना प्रश्न उठाये लेनिन की इच्छाओं का पालन करे। वह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि बोलशेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी जिसमें सत्ता के तीन केन्द्र काम कर रहे थे और इन तीनों ही केन्द्रों के लक्ष्य और हित अलग-अलग थे। ये तीन केन्द्र थे केन्द्रीय कमेटी, बोलशेविक सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी। साथ ही, रैबिनोविच यह सिद्ध करने का दावा करते हैं कि अप्रैल 1917 में चुनी गयी केन्द्रीय कमेटी कोई सजातीय निकाय नहीं थी। उसमें एक ओर लेनिन और उनका अनुसरण करने वाले लोग थे तो दूसरी ओर दक्षिण रुझान रखने वाला एक धड़ा था जिसकी अगुवाई कामेनेव कर रहे थे। यह दावा करते हुए रैबिनोविच यह नहीं बताते कि किस बोलशेविक नेता के लेखन में या 1953-56 तक के सोवियत इतिहास-लेखन में ऐसा दावा किया गया है कि बोलशेविक पार्टी एक "मोनोलिथ" थी, या कि केन्द्रीय कमेटी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष मौजूद नहीं था। रैबिनोविच की बोलशेविक सांगठनिक उसूलों के बारे में कोई समझदारी नहीं है। उनका मानना है कि लेनिन में एक छोटी, गुप्त, षड्यन्त्रकारी और लौह-अनुशासित पार्टी खड़ी करने का एक पागलपन भरा जुनून था जिसमें कि केन्द्रीय कमेटी के फ़रमानों के अनुसार सारे कार्य-कलाप होंगे; जिसमें केन्द्रीय कमेटी लेनिन की एकल इच्छाशक्ति के मातहत एकजुट होगी और लेनिन की कार्यदिशा प्रश्नों से इतर होगी। आइये देखें कि रैबिनोविच की लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों के बारे में क्या समझदारी है :

*"1903 में लेनिन ने इस बात पर अपने जुनूनी जोर के साथ रूसी मज़दूर आन्दोलन की एकता को स्थायी रूप से छिन्न-भिन्न कर दिया था कि केवल एक छोटा, पेशेवर और बेहद केन्द्रीकृत क्रान्तिकारी संगठन ही समाजवादी क्रान्ति में रूसी सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व देने में सक्षम होगा, वह भी उस समय जबकि रूसी सामाजिक-जनवादी एक ज़्यादा जनवादी रूप से संगठित, मोटे तौर पर सहिष्णु, एक जन पार्टी चाहते थे।"* (अलेक्जैण्डर रैबिनोविच, 1991, **प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन**, मिडलैण्ड संस्करण, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस, पृ. 16)

इस उद्धरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि रैबिनोविच ने पार्टी के लेनिनवादी उसूलों के बारे में लेनिन की कोई भी मूल रचना नहीं पढ़ी है और इस बाबत उनका ज्ञान बुर्जुआ पाठ्यपुस्तकों और बुर्जुआ कक्षाओं के दिये जाने वाले ज्ञान तक सीमित है। बहरहाल, रैबिनोविच का दावा है

कि लेनिन के इन विचारों के कारण बोलशेविक पार्टी का एक विशिष्ट दृष्टिकोण "आधिकारिक सोवियत इतिहास-लेखन" में हावी रहा है, जिसके अनुसार यह पार्टी एक "मोनोलिथ" के समान थी, हालाँकि रैबिनोविच के अनुसार वास्तविकता इससे भिन्न थी। यह बता देना जरूरी होगा कि बोलशेविक पार्टी के बारे में न तो लेनिन, स्तालिन, स्वेर्दलोव, बुखारिन या प्रतिक्रान्ति का पक्ष चुनने से पहले के दौर में त्रात्स्की की ऐसी कोई समझदारी थी और न ही 1953-56 के पहले के सोवियत इतिहास लेखन में ऐसी कोई तस्वीर पेश की गयी है। लेकिन रैबिनोविच संशोधनवाद के दौर के कुछ स्रोत लेकर यह दावा कर देते हैं कि सभी सोवियत स्रोतों में यह भ्रामक तस्वीर पेश की गयी है। जब एक बार "आधिकारिक सोवियत दृष्टिकोण" का एक पुतला खड़ा कर दिया जाता है, तो फिर उसका ध्वंस करने में भी रैबिनोविच को ज्यादा दिक्कत नहीं पेश आती है।

रैबिनोविच दावा करते हैं कि बोलशेविक सैन्य संगठन केन्द्रीय कमेटी के मुक़ाबले ज्यादा वाम अवस्थिति अपनाता था क्योंकि इसका नेतृत्व अधिक रैडिकल था और इसके ऊपर जनता की रैडिकल भावनाओं का सतत दबाव रहता था। यह सैन्य संगठन वैसे तो सीधे केन्द्रीय कमेटी के मातहत था लेकिन यह काफ़ी हद तक स्वायत्त था। उसी प्रकार पीटर्सबर्ग कमेटी भी केन्द्रीय कमेटी से अलग अवस्थितियाँ अपनाती थी और केन्द्रीय कमेटी से इसका अक्सर टकराव होता रहता था क्योंकि ये दोनों ही कमेटियाँ मुख्य रूप से एक शहर में सक्रिय रहती थीं, यानी पेत्रोग्राद। इन सारे कारकों के चलते केन्द्रीय कमेटी, सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच एक त्रिकोणीय तनाव बना रहता था और सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी हमेशा अधिक स्वतन्त्रता और स्वायत्तता के लिए संघर्ष करते रहते थे, जबकि केन्द्रीय कमेटी सतत इन पर अपना कठोर नियन्त्रण स्थापित करने के प्रयास में संलग्न रहती थी। रैबिनोविच का दावा है कि लेनिन के क्रान्ति के पूरे सिद्धान्त को इन तीनों निकायों ने अलग-अलग तरीके से व्याख्यायित किया। इन सारे दावों के बाद रैबिनोविच अपना एक 'पलायन मार्ग' भी 'प्राक्कथन' में ही तैयार कर लेते हैं क्योंकि सम्भवतः वे भी समझते हैं कि इन सारे दावों को सही ठहरा पाना मुश्किल होगा। रैबिनोविच लिखते हैं :

"इस बिन्दु पर मैं बस आपको सावधान करना चाहूँगा कि मेरे शोध के नतीजे ग़ैर-दस्तावेज़ी स्रोतों पर अति-निर्भरता के कारण हर प्रकार चूक की सम्भावना रखते हैं, वे अनिवार्य रूप से आरज़ी हैं और इसमें एक निश्चित मात्रा में शिक्षित अटकलबाज़ियाँ हैं।" (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, पृ. 7)

'प्रस्तावना' और 'प्राक्कथन' में पेश विचारों पर एक सरसरी निगाह डालने के बाद हम रैबिनोविच द्वारा फ़रवरी क्रान्ति के बाद पैदा हुई परिस्थितियों के विश्लेषण की ओर आगे बढ़ सकते हैं।

## रैबिनोविच का प्रच्छन्न रुदन : रूस को कोई सक्षम बुर्जुआ प्रशासक क्यों नहीं मिला?

पहले अध्याय में रैबिनोविच प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत के बारे में अलग-अलग लोगों के विचार पेश करते हैं जिसमें ज़ार के मन्त्रियों के विचारों से लेकर लेनिन तक के विचार शामिल हैं।

रैबिनोविच बताते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में रूस एक संक्रमण से गुजर रहा था। इस संक्रमण का बयान करते हुए रैबिनोविच बताते हैं कि पूँजीवाद के रास्ते पर रूस का विकास अभी अधूरा था, और इसी वजह से वहाँ पर क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ पैदा हुईं। रैबिनोविच लिखते हैं :

"स्तोलिपिन की कल्पना के जैसा स्वतन्त्र किसानों का एक स्थायी वर्ग अभी गाँवों में स्थापित नहीं हुआ था, और तेजी से बढ़ रहे रूसी सर्वहारा वर्ग ने अभी उन महत्वपूर्ण आर्थिक लाभों को हासिल नहीं किया था जिन्होंने उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी की शुरुआत में ही पश्चिमी यूरोपीय मजदूर की क्रान्तिकारी सरगर्मी को ठण्डा कर दिया था।" (रैबिनोविच, 1991, वही, पृ. 10)

जैसा कि हम देख सकते हैं ई.एच. कार के समान ही रैबिनोविच पर भी इस उदार बुर्जुआ तर्क का प्रभाव है जिसके अनुसार रूस में क्रान्ति होने का कारण यह था कि यहाँ पर पूँजीवाद का समुचित विकास नहीं हुआ, बुर्जुआ जनवाद ज्यादा विकसित नहीं हुआ, उदार बुर्जुआ जनवाद के अभाव में मजदूरों को तमाम आर्थिक अधिकार हासिल नहीं हुए, स्वतन्त्र किसानों का एक स्थायी वर्ग नहीं पैदा हुआ और एक सर्वसत्तावादी शासन के खिलाफ जनसमुदायों में विद्रोह की भावनाएँ पनपती रहीं। यदि रूस के हुक्मरानों ने पूँजीवाद का समुचित विकास किया होता, यदि उन्होंने एक पश्चिमी शैली वाला उदार बुर्जुआ जनवाद मुहैया कराया होता तो रूस में समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ ही पैदा नहीं होतीं। इस प्रकार रूसी क्रान्ति के होने की कारणात्मक व्याख्या पूँजीवाद और उदार बुर्जुआ जनवाद के अपूर्ण विकास पर निर्भर हो जाती है। इस प्रकार की विचारधारात्मक अन्धता वाली व्याख्या पेश करने की प्रक्रिया में साम्राज्यवाद की भूमिका, पश्चिमी यूरोप में मजदूर आन्दोलन के सुधारवाद के गर्त में जाने और फिर पतन की और रूसी क्रान्ति में बोल्शेविक पार्टी की भूमिका के बारे में रैबिनोविच कोई समझदारी नहीं पेश करते हैं। **लुब्बेलुबाब यह कि रूस की क्रान्ति पूँजीपति वर्ग की गलती के कारण हुई थी और अगर रूसी पूँजीपति वर्ग ने पश्चिमी यूरोप से सीखा होता तो उसे क्रान्ति की विभीषिका से नहीं गुजरना पड़ता।** ई. एच. कार का मूल्यांकन करते हुए हमने इस तर्क की अर्थहीनता के बारे में लिखा था। यह तर्क रैबिनोविच के उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रहों को स्पष्ट कर देता है। इन्हीं पूर्वाग्रहों के कारण रैबिनोविच रूसी क्रान्ति के घटित होने, उसके पीछे काम कर रहे ढाँचागत कारकों की कोई सुसंगत समझदारी नहीं पेश कर पाते। इसी तर्क का विस्तार आप रैबिनोविच के निम्न व्यक्तिवादी विश्लेषण में भी देख सकते हैं :

"रूस की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के समाधानों को ढूँढ़ने और बीसवीं सदी में रूसी साम्राज्य के प्रवेश को सही तरीके से अधीक्षित करने के भारी अपरिमित लक्ष्य की पूर्ति के लिए किसी पीटर महान की अग्रणी भावना और असीम ऊर्जा या कम-से-कम अलेक्जेंडर द्वितीय के राजनीतिक यथार्थवाद और अनुकूलन की क्षमता की आवश्यकता थी। लेकिन इसके विपरीत, रूस का भविष्य एक ज़िद्दी और अदूरदर्शी राजा के हाथों में था जो अन्त तक रूस के लिए निरंकुश राजतन्त्र के मूल्य में भरोसा रखता था और अपने समय की विशालकाय समस्याओं का हल करना

तो दूर उन्हें समझने की क्षमता भी नहीं रखता था।" (वही, पृ 12-13)

एक बार फिर आप देख सकते हैं कि रैबिनोविच के अनुसार रूस में क्रान्ति की त्रासदी इसलिए घटित हुई क्योंकि उसके पास कोई सक्षम शासक नहीं था। अगर उसके पास कोई पीटर महान या अलेक्जेंडर द्वितीय जैसा काबिल हुक्मरान होता तो शायद रूस में क्रान्ति की त्रासदी घटित नहीं होती! रैबिनोविच के अनुसार इसी अक्षम शासक यानी निकोलस द्वितीय की अक्षमता और अकर्मण्यता थी जिसके कारण रूसी क्रान्ति की स्थितियाँ तैयार हुईं। दूसरे शब्दों में, कोई आधुनिकतावादी और सक्षम शासक क्रान्ति की विभीषिका से रूस को बचा सकता था। अमेरिकी इतिहास-लेखन में इस प्रकार के व्यक्तिवादी विश्लेषण के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इसी अध्याय में प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने के बाद दुनिया भर के मजदूर आन्दोलन में शुरू हुई बहस का रैबिनोविच हवाला देते हैं और बताते हैं कि इस बाबत लेनिन ने किस प्रकार क्रान्तिकारी पराजयवाद की एक अतिवादी अवस्थिति अपनायी। लेकिन जैसे ही वे लेनिन की इस अवस्थिति के बारे में बताते हैं तो आप पाते हैं कि इस बारे में भी रैबिनोविच की जानकारी लेनिन के मूल लेखन और उस दौर में इस मुद्दे पर चली बहस में हुए मूल योगदानों पर आधारित नहीं है। सही कहा जाये तो रैबिनोविच ने लेनिन की अवस्थिति को समझा ही नहीं है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच लिखते हैं :

"...उन्होंने (लेनिन ने) अपने आपको यह तर्क देकर अन्य सभी रूसी अन्तरराष्ट्रीयतावादी समूहों से अलग कर लिया कि जर्मनी के हाथों रूस की हार राजतन्त्र को कमजोर करने के एक जरिये के रूप में वांछनीय है। द्वितीय इण्टरनेशनल के एक कठोर खण्डन में, शान्ति के बजाय गृहयुद्ध पर जोर में और रूस के लिए पराजयवाद की हिमायत में, लेनिन का कार्यक्रम चौंका देने की हद तक अतिवादी था। रक्षावादियों और मॅशेविक तथा समाजवादी-क्रान्तिकारियों द्वारा समान बल के साथ इसकी आलोचना की गयी। वास्तव में, कई बाद में महत्वपूर्ण बन गये बोल्शेविकों की अवस्थिति भी मातौव के अधिक मध्यमार्गी अन्तरराष्ट्रीयतावाद के करीब थी, बजाय लेनिन के असहिष्णु क्रिस्म के रैडिकलिज्म के।" (वही, पृ. 17)

स्पष्ट है कि रैबिनोविच या तो लेनिन की युद्ध पर अवस्थिति को समझ नहीं पाये हैं या फिर उसे जानबूझकर विकृत कर रहे हैं। गौरतलब है कि लेनिन ने क्रान्तिकारी पराजयवाद की रणनीति 1914 में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए पेश की थी, न कि सिर्फ रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के लिए। इस रणनीति का मकसद केवल रूस की हार और जर्मनी की विजय नहीं था; यह रणनीति सभी युद्धरत देशों के मजदूर वर्ग और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन का आह्वान कर रही थी कि वे अपनी देश के सरकार के विरुद्ध क्रान्तिकारी गृहयुद्ध की शुरुआत करें। यह रणनीति सभी देशों के मजदूर वर्ग का आह्वान करती थी कि वे साम्राज्यवादी युद्ध में पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए अन्य देशों के अपने वर्ग भाइयों के खिलाफ़ नहीं, बल्कि अपने असली दुश्मन, यानी कि अपने देश के पूँजीपति वर्ग के खिलाफ़ लड़ें, उसे उखाड़ फेंकें और सर्वहारा सत्ता स्थापित

करें। लेकिन रैबिनोविच लेनिन की इस कार्यदिशा को ऐसे व्याख्यायित करते हैं, मानो लेनिन केवल जर्मनी के हाथों रूस की हार की हिमायत कर रहे हों। लेनिन आम तौर पर साम्राज्यवादी युद्ध को क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में परिवर्तित करने की बात कर रहे थे और सभी युद्धरत देशों के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए यह नीति पेश कर रहे थे, न कि सिर्फ रूस के लिए।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, रैबिनोविच में अमेरिकी इतिहास-लेखन में हावी व्यक्तिवादी विश्लेषण की प्रवृत्ति को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। विशेष तौर पर अगर हम ज़ारकालीन रूस में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हावी आर्थिक विघटन और राजनीतिक अराजकता के बारे में रैबिनोविच के विचारों को देखें तो यह रुझान अपने प्रातिनिधिक रूप में देखा जा सकता है। रैबिनोविच लिखते हैं : 'वेर्दुन में और सोमने नदी पर हुए व्यर्थ रक्तपात से ब्रिटिश और फ्रांसीसी सेनाओं का मनोबल भी उतना ही टूटा हुआ था। रूसी स्थिति को जिस चीज ने ज्यादा त्रासद बना दिया था वह यह थी कि मोर्चे पर गिरते मनोबल के साथ देश के भीतर राजनीतिक पक्षाघात और आर्थिक विघटन का पहलू मिश्रित हो गया था। रूस में कोई लॉयड जॉर्ज या क्लेमेंशो नहीं पैदा हुए जो कि पराजयवाद की बढ़ती भावना का गला घोट पाते और जनता को एक निर्णायक राष्ट्रीय प्रयास के लिए तैयार कर पाते। याद किया जा सकता है कि 1914 में युद्ध के शुरुआत के समय रूसी जन भावना के बड़े हिस्से ने राजनीतिक विरोध का निषेध किया था और सरकार का वफ़ादारी से समर्थन किया था... अगर ऐसा ही था तो यह एक अवसर था जिसकी शुरु से उपेक्षा की गयी। हर जन पहलकदमी की अभिव्यक्ति को विद्रोह के रूप में देखने की प्रवृत्ति के साथ निर्बल और अत्यधिक सठियाये हुए आई.एल. गोरेमाइकिन के तहत रूसी सरकार ने कई बेशक्रीमती प्रयासों को कुचलने में कोई कसर नहीं छोड़ी जैसे कि अखिल रूसी जेम्स्वो यूनियन और अखिल रूसी नगर यूनियन जिनका लक्ष्य था उद्योगों, शरणार्थी राहत कार्य, और चिकित्सीय सेवाओं के पुनर्संगठन के जरिये युद्ध प्रयास को आगे बढ़ाना।' (वही, पृ. 20-21)

जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है, रैबिनोविच के अनुसार रूस में क्रान्तिकारी स्थिति पैदा होने का कारण यह था कि रूस में ब्रिटेन के समान लॉयड जॉर्ज या फ्रांस के समान कोई क्लेमेंशो नहीं था जो कि इस आर्थिक विघटन, राजनीतिक बिखराव और युद्धजनित संकट को सम्भाल पाता। रूस के वर्ग संघर्ष, अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी श्रृंखला में रूस की अवस्थिति और रूस में बोलशेविक पार्टी के संगठन और नेतृत्व की इसमें कोई भूमिका नहीं थी। इस प्रकार रूस में क्रान्तिकारी स्थिति का पैदा होना और फिर क्रान्ति का सम्पन्न होना वास्तव में रूसी बुर्जुआ वर्ग और उसके प्रतिनिधियों की अकर्मण्यता का नतीजा था; अगर उसके पास भी ब्रिटिश या फ्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग जैसी इच्छाशक्ति और सक्षम नेतृत्व होता तो युद्ध का संकट रूस में क्रान्तिकारी स्थिति की तरफ न गया होता। देखा जा सकता है कि इतिहास के विश्लेषण में रैबिनोविच व्यक्तियों की भूमिका को निर्धारक तत्व के रूप में पेश कर रहे हैं, न कि वर्ग संघर्ष के ढाँचागत कारक को। यह अमेरिकी इतिहास-लेखन की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं में से एक है : व्यक्तिवादी व आकस्मिकतावादी विश्लेषण।

विचारधारा के प्रति ऐसी ही अन्धता रैबिनोविच तब भी दिखलाते हैं जब वे पहले ही अध्याय में यह दावा करते हैं कि मेशेविक जो कि पेत्रोग्राद सोवियत की कार्यकारी समिति में बहुमत में थे इस कट्टर मार्क्सवादी विचार को मानते थे कि जनवादी क्रान्ति के बाद उदार बुर्जुआ शासन का एक अनियतकालीन दौर चलेगा (वही, पृ. 29)। रैबिनोविच यह नहीं बताते कि उन्हें इस "कट्टर मार्क्सवादी विचार" के बारे में किस क्लासिकीय मार्क्सवादी रचना से पता चला। न तो मार्क्स में ऐसा कोई विचार मिलता है, न ही लेनिन में। वे निश्चित तौर पर जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के चरणों के बीच फ़र्क करते थे, क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्ति के मित्र वर्गों और शत्रु वर्गों के समीकरणों में अन्तर आ जाता है। लेकिन उनके बीच की अवधि लम्बी होगी या छोटी, यह कभी भी विचारधारा का मुद्दा नहीं था, न तो मार्क्स के लिए और न ही लेनिन के लिए। यह अवधि दिये गये राजनीतिक व ऐतिहासिक सन्धि-बिन्दु में छोटी या बड़ी हो सकती है। लेकिन रैबिनोविच इन विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रश्नों से अनभिज्ञ हैं और मेशेविकों और बोलशेविकों के बीच के विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तर के बारे में उनका ज्ञान बुर्जुआ कक्षाओं के ज्ञान तक सीमित है। लेकिन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में रैबिनोविच की जानकारी मूल स्रोतों पर नहीं बल्कि बुर्जुआ व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान पर आधारित है, जैसा कि हम पहले ही जिक्र कर चुके हैं।

## स्तालिन : रैबिनोविच समेत सभी बुर्जुआ इतिहासकारों का प्रमुख निशाना

रैबिनोविच फ़रवरी क्रान्ति के बाद के दौर में और विशेष तौर पर लेनिन के अप्रैल में रूस लौटने तक के दौर में बोलशेविक पार्टी के भीतर हावी भ्रम की स्थिति और साथ ही दो लाइनों के संघर्ष के बारे में विवरण पेश करते हुए तथ्यों की कई ग़लतियाँ करते हैं। विशेष तौर पर, स्तालिन की अवस्थितियों को जानबूझकर तोड़ते-मरोड़ते हैं, सन्दर्भ से काटकर उन्हें पेश करते हैं।

फ़रवरी क्रान्ति के तुरन्त बाद बोलशेविक पार्टी में एक हद तक युद्ध को लेकर और विशेष तौर पर आरज़ी सरकार के बारे में रवैये को लेकर काफ़ी भ्रम की स्थिति थी। रूस में फ़रवरी क्रान्ति के पहले से ही पार्टी गतिविधियों को संचालित करने की ज़िम्मेदारी केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो ने सम्भाल रखी थी। इसके सदस्य थे श्ल्यापिनकोव, मोलोतोव और ज़ालुत्स्की। इस रूसी ब्यूरो ने फ़रवरी क्रान्ति के ठीक बाद एक घोषणापत्र जारी किया और लेनिन की अवस्थिति को काफ़ी हद तक सही ढंग से इसमें पेश किया। इस घोषणापत्र में युद्ध का बिना शर्त विरोध किया गया और साथ ही आरज़ी सरकार को बड़े पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग की सरकार बताया गया। मोलोतोव ने लेनिन के सबसे करीब की अवस्थिति अपनायी थी। पीटर्सबर्ग कमेटी के पुनर्गठन के बाद उन्होंने इस अवस्थिति पर उसे सहमत करने की कोशिश भी की थी। युद्ध के प्रश्न पर तो पीटर्सबर्ग कमेटी ने लगभग लेनिन की अवस्थिति को ही अपनाया था, लेकिन आरज़ी सरकार के प्रश्न पर उसने अलग अवस्थिति अपनायी जो कि मेशेविक अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के नज़दीक पड़ती थी: यह

अवस्थिति थी बाशर्त समर्थन की अवस्थिति, दूसरे शब्दों में आरज़ी सरकार को उस हद तक समर्थन देने की घोषणा की गयी जिस हद तक वह जनता के पक्ष में निर्णय लेती है, लेकिन साथ ही उस पर चौकसी बरतने की बात भी कही गयी। कुछ समय बाद ही साईबेरिया से स्तालिन, कामेनेव और मुरानोव लौट आये। रैबिनोविच यहाँ पर भी शब्दों के खेल से ऐसा जताने की कोशिश करते हैं कि इन तीनों ने रूसी ब्यूरो से नेतृत्व "हथिया" लिया। हालाँकि, यह स्वाभाविक ही था कि वरिष्ठ नेतृत्व के वापस लौटने के बाद प्राव्दा के सम्पादन और पार्टी कार्यों के कुल संचालन की प्रमुख ज़िम्मेदारी वही उठायेगा। लेकिन रैबिनोविच जैसे इतिहासकार इसे "नेतृत्व हड़पे जाने" के तौर पर पेश करते हैं। इसमें कोई अचरज की बात भी नहीं है, क्योंकि यह रैबिनोविच के 'विभाजित पार्टी' के विचार को ही बल देने का काम करता है।

बहरहाल, स्तालिन भी लेनिन के आगमन से पूर्व लेनिन की अवस्थिति का पूर्वानुमान नहीं कर सके थे और उसे अपना नहीं सके थे। उनकी अवस्थिति युद्ध के प्रश्न पर तो लेनिन के ही समान थी, लेकिन आरज़ी सरकार के प्रश्न पर बिना शर्त विरोध की अवस्थिति वे अभी नहीं अपना सके थे। वे अस्पष्ट शब्दों में क्रान्तिकारी प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की बात कर रहे थे और साथ ही आरज़ी सरकार पर क्रान्तिकारी नियन्त्रण कायम करने की बात कर रहे थे। एक दक्षिणपन्थी अवस्थिति कामेनेव व ओल्मिंस्की जैसे लोगों ने अपना रखी थी, जो मेशेविकों की क्रान्तिकारी रक्षावाद की प्रतिक्रियावादी अवस्थिति से ज्यादा भिन्न नहीं थी। स्तालिन की अवस्थिति लेनिन की अवस्थिति और कामेनेव की दक्षिणपन्थी अवस्थिति के बीच में पड़ती थी, बल्कि लेनिन की अवस्थिति की ओर सापेक्षतः ज्यादा झुकाव रखती थी। लेकिन रैबिनोविच स्तालिन की पूरी अवस्थिति को बुरी तरह से विकृत करके पेश करते हैं, ताकि बाद में वे दिखा पायें कि लेनिन के आने के बाद स्तालिन धीरे-धीरे दक्षिणपन्थी अवस्थिति से दूर गये।

सच्चाई यह है कि स्तालिन ने कामेनेव के रुख का कड़ाई से विरोध किया और साथ ही ज़िम्मरवॉल्ड के बहुमत के बरक्स लेनिन के वामपन्थी ज़िम्मरवाल्डियन रुख का समर्थन किया। लेकिन तमाम अकादमिक लेखकों की तरह, जो कि स्तालिन के प्रति पूर्वाग्रहित होते हैं और कई बार जानबूझकर तथ्यों के साथ दुराचार करते हैं, अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच ने भी स्तालिन की अवस्थिति को जानबूझकर ग़लत रूप में पेश किया है। रैबिनोविच दावा करते हैं कि स्तालिन की अवस्थिति युद्ध पर वही थी जो कि कामेनेव की थी और उन्होंने कामेनेव के लेख के एक दिन बाद यानी 16 मार्च को प्राव्दा में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि "युद्ध मुर्दाबाद का नारा बेकार है।" हम पहले रैबिनोविच को उद्धृत करेंगे और फिर स्तालिन के उस लेख से उद्धरण पेश करके दिखलायेंगे कि किस तरह रैबिनोविच ने (निश्चित तौर पर) जानबूझकर स्तालिन के कथन को सन्दर्भ से काटकर पेश किया ताकि स्तालिन को मेशेविक और कामेनेव की अवस्थिति पर खड़ा हुआ दिखलाया जा सके। रैबिनोविच लिखते हैं :

"इस तरह इसके बाद कामेनेव और स्तालिन के लेखों ने आरज़ी सरकार के लिए सीमित समर्थन की वकालत की, "युद्ध मुर्दाबाद" के नारे को ठुकराया और मोर्चे पर विसंगठनकारी

गतिविधियों को समाप्त करने की वकालत की। कामेनेव ने प्राव्दा में 15 मार्च को लिखा, "जब शान्ति नहीं है तो लोगों को अपने पदों पर बने रहना चाहिए, और तोप के गोलों का तोप के गोलों से और गोलियों का गोलियों से जवाब देना चाहिए!" अगले दिन स्तालिन ने इसी को दुहराया, 'युद्ध मुर्दाबाद' एक बेकार नारा है।" (वही, पृ. 36)

यह तथ्यों का कितना भयंकर और आपराधिक विकृतीकरण है इसको प्रदर्शित करने के लिए हम स्तालिन के 16 मार्च के प्राव्दा में छपे लेख का उद्धरण पेश करेंगे। स्तालिन लिखते हैं :

"मौजूदा युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है। इसका मुख्य लक्ष्य है पूँजीवादी रूप से उन्नत राज्यों द्वारा विदेशी, मुख्य रूप से कृषि, क्षेत्रों को हड़पना (क्रब्ज़ा करना)। उन्हें नये बाज़ार, इन बाज़ारों से सुविधाजनक संचार, कच्चे माल और खनिज भण्डार चाहिए और वे हर जगह उसे हासिल करने के लिए प्रयास करते हैं...और यही कारण है कि रूस में मौजूदा स्थिति इस बात का शोर मचाने और घोषणा करने का कोई कारण नहीं देती कि, 'स्वतन्त्रता ख़तरे में है! युद्ध ज़िन्दाबाद!'"

"और जिस तरह उस समय (1914 में) फ़्रांस में कई समाजवादियों (गुएस्दे, सेम्बात, आदि) के बीच यह खलबली मच गयी थी, उसी तरह रूस में भी कई समाजवादी "क्रान्तिकारी रक्षावाद" की घण्टी बजाने वाले बुर्जुआ कारिन्दों के पदचिन्हों पर चल रहे हैं।

"फ़्रांस में आगे के घटनाक्रम ने दिखलाया कि इस बात को लेकर ख़तरे की घण्टी बजाना एक झूठ है और स्वतन्त्रता और गणराज्य के बारे में चीख-पुकार वास्तव में इस तथ्य को छिपाने का एक आवरण था कि फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी आल्सेस-लॉरेन और वेस्टफ़ेलिया के लिए ललचाये हुए हैं।

"हम पूरी तरह विश्वस्त हैं कि रूस में मौजूदा घटनाक्रम अन्ततः दिखलायेगा कि 'स्वतन्त्रता ख़तरे में है' की उन्मादी चीखें किस क्रूर झूठी हैं : 'देशभक्तिपूर्ण' धूम्रावरण छूट जायेगा और लोग खुद ही देखेंगे कि रूसी साम्राज्यवादी आख़िर किसी चीज़ के पीछे भाग रहे थे - जलडमरूमध्य और ईरान।

"गुएस्दे, सेम्बात और उस जैसों का ज़िम्मरवॉल्ड और कियेथॉल समाजवादी कांग्रेसों में सही ही मूल्यांकन किया गया था।

"आगे की घटनाओं ने ज़िम्मरवॉल्ड और कियेथाल की थीसीज़ के सहीपन और उपयोगीपन को पूरी तरह सिद्ध किया है।...

हमारा, एक पार्टी के तौर पर मौजूदा युद्ध पर क्या रुख़ होना चाहिए?...

पहली बात तो यह, कि यह प्रश्नेतर है कि यह कोरा नारा, "युद्ध मुर्दाबाद!" व्यावहारिक कार्यों के लिए एकदम अनुपयुक्त है, क्योंकि, यह शान्ति के विचार के आम तौर पर प्रचार से आगे नहीं जाता, यह युद्धरत शक्तियों पर युद्ध को रोकने के लिए बाध्य करने के लिए व्यावहारिक दबाव बनाने के लिए कुछ भी मुहैया कराने में सक्षम नहीं है और न ही हो

सकता है।" (स्तालिन, 1954, 'युद्ध', (16 मार्च 1917), **वर्क्स, खण्ड-3**, फ़ॉरेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को)

आगे स्तालिन बताते हैं कि युद्ध खत्म करने का एक ही रास्ता हो सकता है और वह यह है कि तमाम युद्धरत देशों का मजदूर वर्ग अपने शासक वर्गों पर युद्ध खत्म करने के लिए क्रान्तिकारी दबाव बनाये। साफ़ है कि स्तालिन अभी लेनिन की "क्रान्तिकारी पराजयवाद" की कार्यदिशा तक नहीं पहुँचे थे। लेकिन रूस में लेनिन की इस रेडिकल कार्यदिशा के मोलोतोव के बाद सबसे क़रीब स्तालिन ही थे। हमने स्तालिन का यह लम्बा उद्धरण इसलिए पेश किया ताकि अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच जैसे अमेरिकी (वैसे रैबिनोविच मूलतः रूसी हैं) रैबिनोविच के पिता 1918 में क्रान्ति के बाद रूस से भाग गये थे) इतिहासकारों द्वारा स्तालिन के विषय में फैलाये जाने वाले झूठ के स्तर को समझ सकें। इसके अलावा लेनिन के आने से पहले ही स्तालिन पुख्ता तरीके से युद्ध का विरोध कर रहे थे (हालाँकि, वे ज़िम्मरवॉल्ड-कियेंथाल लाइन पर सभी युद्ध विरोधियों की एकता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे, जिस लाइन पर मेशेविक प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता है), इसे जानने के लिए स्तालिन के कुछ अहम लेख देखे जा सकते हैं, जैसे कि 18 मार्च 1917 का लेख 'रूसी क्रान्ति के विजय की शर्तें' और 16 मार्च 1917 का लेख 'बिडिंग फॉर मिनिस्टीरियल पोर्टफ़ोलियोज़'। इन लेखों को देखने से भी रैबिनोविच जैसे इतिहासकारों का यह आरोप निराधार सिद्ध हो जाता है कि स्तालिन ने युद्ध में भागीदारी का समर्थन किया था। ध्यान देने योग्य बात है कि त्रात्स्की ने भी स्तालिन पर यही आरोप लगाया है। हमने थोड़ा विस्तार से इस आरोप का खण्डन करना ज़रूरी समझा क्योंकि यद्यपि स्तालिन लेनिन की अवस्थिति पर नहीं पहुँचे थे, मगर वे कामेनेव की अवस्थिति पर भी नहीं थे। गौरतलब है, ई.एच. कार के बाद अगर पश्चिमी अकादमिक जगत में किसी इतिहासकार के काम की सबसे ज़्यादा चर्चा हुई है तो वह रैबिनोविच हैं और यह ताज्जुब की बात है कि उनके काम का यह स्तर है कि वे स्तालिन के बारे में ऐसी आधारहीन टिप्पणी करते हैं। यहाँ यह भी बताना ज़रूरी है कि आरज़ी सरकार के बारे में भी स्तालिन का ठीक वही रुख नहीं था जो कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी का था। स्तालिन का रुख अगर मोलोतोव के समान आरज़ी सरकार की सीधी मुखालफ़त का नहीं था, तो स्पष्ट समर्थन का भी नहीं था। स्तालिन का रुख मूलतः और मुख्यतः आरज़ी सरकार के प्रति अविश्वास का था। इसे भी रैबिनोविच ग़लत तरीके से पेश करते हैं।

यहाँ यह भी गौरतलब है कि रैबिनोविच दो पेज बाद ही स्तालिन के बारे में धीरे से अपनी अवस्थिति को बदल लेते हैं! यहाँ रैबिनोविच लिखते हैं कि लेनिन के बोल्शेविक बैठकों में आने के पहले स्तालिन आरज़ी सरकार पर "चौकसीपूर्ण नियन्त्रण" और पेत्रोग्राद सोवियत को क्रान्तिकारी सत्ता का आरम्भ मानने की बात कर चुके थे। लेकिन यदि स्तालिन पेत्रोग्राद सोवियत को क्रान्तिकारी सत्ता का केन्द्र मानते थे, तो फिर वह आरज़ी सरकार को समर्थन किस प्रकार दे रहे थे? स्पष्ट है कि स्तालिन की कार्यदिशा कामेनेव के साथ नहीं खड़ी थी, हालाँकि वे लेनिन की अवस्थिति तक भी नहीं पहुँच पाये थे। युद्ध पर उनकी अवस्थिति लेनिन के क़रीब बनती थी,

जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है। लेकिन चूँकि आरजी सरकार के प्रति रवैये को लेकर स्तालिन का रुख दुलमुल और भ्रमित था इसलिए युद्ध के प्रश्न पर भी वे खुलकर क्रान्तिकारी पराजयवाद की हिमायत नहीं कर सके थे। लेकिन स्पष्टतः उनकी अवस्थिति कामेनेव से भिन्न थी। यहाँ तक कि कामेनेव की युद्ध पर अवस्थिति को जब पीटर्सबर्ग कमेटी की एक बैठक में नकारा गया तो स्तालिन भी कामेनेव की आलोचना रखने वालों में से एक थे।

इसके बाद रैबिनोविच तथ्यों की कुछ गम्भीर गलतियाँ भी करते हैं। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच यह दावा करते हैं कि लेनिन 3 अप्रैल को रूस वापस लौटने के बाद 4 अप्रैल को अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन में जाने वाले बोल्शेविक प्रतिनिधियों की एक बैठक को सम्बोधित करते हैं और पहली बार अपनी प्रसिद्ध 'अप्रैल थीसीज़' को पढ़ते हैं। यह तथ्यात्मक तौर पर ग़लत है। लेनिन ने 4 अप्रैल को दोपहर में जिस बैठक में पहली बार अपनी थीसीज़ औपचारिक तौर पर पेश की वह केवल बोल्शेविक प्रतिनिधियों की बैठक नहीं थी, बल्कि सभी सामाजिक-जनवादियों (जिसमें मेशेविक व स्वतन्त्र सामाजिक-जनवादी भी शामिल थे) की साझा बैठक थी। दूसरी ग़लती रैबिनोविच यह करते हैं कि वह दावा करते हैं कि बोल्शेविकों की इस बैठक के बाद ये बोल्शेविक मेशेविकों से एकीकरण की बात करने जा रहे थे। यह भी भ्रामक दावा है। यहाँ बोल्शेविक पार्टी और मेशेविक पार्टी के एकीकरण का कोई प्रश्न नहीं था; अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन में बोल्शेविक प्रतिनिधि (जो कि लेनिन के आने से पहले आरजी सरकार पर एक ऐसी कार्यदिशा अपना रहे थे, जो कि मेशेविक अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के करीब पड़ती थी) और मेशेविक प्रतिनिधि युद्ध के प्रश्न पर एक एकजुट अवस्थिति पेश करने को लेकर बातचीत करने जाने वाले थे। रैबिनोविच के अनुसार, इसके पहले ही बोल्शेविक प्रतिनिधियों के सामने लेनिन ने अपनी थीसीज़ पेश कर दी जिसके कारण एकीकरण की वार्ता खटाई में पड़ गयी। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, अब्बलन तो लेनिन ने थीसीज़ बोल्शेविक प्रतिनिधियों की अलग बैठक में नहीं बल्कि मेशेविकों और बोल्शेविकों की एक साझा बैठक में पेश की थी और दूसरी बात यह कि पार्टियों के बीच एकीकरण कभी बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच एजेण्डे पर था ही नहीं। लेकिन इसे रैबिनोविच बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच आम तौर पर एकीकरण की वार्ता के तौर पर पेश करने का प्रयास करते हैं, जो सच्चाई से परे है।

यह भी गौरतलब है कि इस दौर के ब्यौरे के लिए रैबिनोविच किसी बोल्शेविक नेता के लेखन पर निर्भर नहीं करते हैं। मजेदार बात यह है कि पहले तो रैबिनोविच इस बैठक को बोल्शेविक प्रतिनिधियों की बैठक करार देते हैं, जिसके बाद इन प्रतिनिधियों को मेशेविकों के साथ एकीकरण की बैठक के लिए जाना था, लेकिन उसके कुछ ही आगे रैबिनोविच मेशेविक नेताओं द्वारा लेनिन की थीसीज़ पर प्रतिक्रियाओं का भी ज़िक्र करते हैं; प्रश्न यह उठता है कि यदि उस बैठक में मेशेविक थे ही नहीं तो उन्होंने लेनिन द्वारा उनकी थीसीज़ की प्रस्तुति पर वे प्रतिक्रियाएँ कैसे दीं? (देखें, वही, पृ. 40)

इसके बाद रैबिनोविच फिर से स्तालिन को अपना निशाना बनाते हैं। उनका दावा है कि 6

अप्रैल को केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो की एक बैठक में कामेनेव ने लेनिन की 'अप्रैल थीसीज़' पर हमला करते हुए कहा कि अगर इन्हें स्वीकार किया गया तो फिर पार्टी महज़ प्रचारकों के एक समूह में तब्दील हो जायेगी। जब कामेनेव ने यह बात रखी, तो रैबिनोविच के अनुसार, स्तालिन ने कामेनेव का समर्थन किया। आगे भी रैबिनोविच दावा करते हैं कि स्तालिन ने सातवें अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन (अप्रैल सम्मेलन) में ही कामेनेव की लगभग मॅशेविक अवस्थिति से अपना रिश्ता तोड़ा। इन सभी सूचनाओं का स्रोत स्तालिन-विरोधी इतिहासकार बर्दज़ालोव या कुछ अन्य मॅशेविक संस्मरण हैं। इनके अलावा, रैबिनोविच ने किसी को भी उद्धृत करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की है। लेकिन यदि आप इस सूचना को किसी अन्य स्रोत में तलाशना चाहेंगे तो आपको मुश्किल होगी, क्योंकि यह सूचना किसी भी अन्य स्रोत में आपको नहीं मिलेगी, न तो ई. एच. कार में, न क्रुप्सकाया के संस्मरणों में, न लेनिन के लेखन में, न स्तालिन के लेखन में और न ही पार्टी दस्तावेज़ों में। ज़ाहिर है, रैबिनोविच यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि स्तालिन की शुरुआती अवस्थिति हूबहू वही थी जो कि कामेनेव की है। इस दावे की असत्यता को हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

आगे भी जहाँ 10 जून के प्रदर्शन की चर्चा की जाती है, वहाँ स्तालिन को चलते-चलते एक बार फिर से निशाना बनाया जाता है। यहाँ 6 जून की पीटर्सबर्ग कमेटी की एक बैठक का ब्यौरा दिया गया है, जिसमें स्तालिन आते हैं। रैबिनोविच बताते हैं कि स्तालिन यहाँ पुरज़ोर तरीके से 10 जून को प्रदर्शन करने के पक्ष में तर्क देते हैं, जो कि लेनिन की कार्यदिशा थी और इससे पता चलता है कि स्तालिन किस हद तक वामपन्थी हो गये थे! रैबिनोविच लिखते हैं, *"अपनी टिप्पणियों में स्तालिन ने प्रदर्शित किया कि मार्च में राजधानी में आने के बाद उन्होंने वाम दिशा में कितनी लम्बी यात्रा तय कर ली थी।"* (वही, पृ. 60) गौरतलब है, स्तालिन कभी भी कामेनेव की दक्षिणपन्थी अवस्थिति पर नहीं थे; वे आरज़ी सरकार को लेकर क्या अवस्थिति अपनायी जाये, इस सवाल पर भ्रमित ज़रूर थे, लेकिन वे कामेनेव के समान युद्ध में भागीदारी की हिमायत की अवस्थिति की ओर नहीं थे। लेनिन के आने के बाद निश्चित तौर पर स्तालिन के लिए यह भ्रम की स्थिति साफ़ हुई थी और उन्होंने रैबिनोविच के अनुसार "वाम दिशा में" कुछ यात्रा की थी। दूसरी बात यह है कि रैबिनोविच कहीं भी यह नहीं बताते कि कई वर्षों बाद त्रात्स्की से बहस के दौरान स्तालिन ने अपनी इस ग़लती को स्वीकार भी किया था। यह बौद्धिक बेईमानी नहीं तो और क्या है, कि रैबिनोविच इसका ज़िक्र तक नहीं करते हैं? 1924 में स्तालिन ने अपनी ग़लती को स्वीकार करते हुए लिखा था :

*"पार्टी (इसका बहुमत) इस नयी दिशा की ओर अँधेरे में अपना रास्ता तलाश रही थी। इसने शान्ति के प्रश्न पर सोवियतों के ज़रिये आरज़ी सरकार पर दबाव की नीति अपनायी और तत्काल सर्वहारा वर्ग और किसानों की तानाशाही से सारी सत्ता सोवियतों को हस्तान्तरित करने के नारे को नहीं अपनाया। इस आधी-अधूरी नीति का लक्ष्य था शान्ति के ठोस प्रश्नों पर सोवियतों को आरज़ी सरकार के वास्तविक साम्राज्यवादी स्वभाव को*

समझने में सक्षम बनाना और इस प्रकार आरज़ी सरकार का सोवियतों पर से नियन्त्रण हथिया लेना। लेकिन यह बुरी तरह से ग़लत अवस्थिति थी, क्योंकि यह शान्तिवादी भ्रमों को जन्म देती थी, रक्षावाद को बल देती थी और इस प्रकार जनसमुदायों की क्रान्तिकारी शिक्षा में बाधा डालती थी। उस समय मैंने भी अन्य पार्टी कॉमरेडों के साथ यही अवस्थिति अपनायी थी और अप्रैल के मध्य में मैंने इसे पूरी तरह से छोड़ दिया जब मैंने लेनिन की थीसीज़ को अपना लिया। एक नयी दिशा की आवश्यकता थी। यह नयी दिशा पार्टी को लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध अप्रैल थीसीज़ में दी थी।" (जे. वी. स्तालिन, 1953, *ट्रॉट्स्कीज़्म ऑर लेनिनिज़्म*, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड - 6, अंग्रेज़ी संस्करण, फ़ॉरेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 348)

लेकिन स्तालिन की इस आत्मालोचना को रैबिनोविच पूरी तरह से गोल कर जाते हैं, जिससे स्तालिन के बारे में एक भ्रामक तस्वीर पेश होती है। स्पष्ट है, हर उदार और यहाँ तक कि बोल्शेविकों से सहानुभूति रखने वाले बुर्जुआ इतिहासकार के लिए भी स्तालिन आँख की किरकिरी के समान हैं।

## लेनिन के राजनीतिक नेतृत्व व प्रभाव के आकस्मिक कारण, बकौल रैबिनोविच!

रैबिनोविच का मानना है कि अन्ततः लेनिन की कार्यदिशा (अप्रैल थीसीज़ में प्रस्तुत) को पार्टी में स्वीकार किया गया तो इसके दो कारण थे: एक तो यह कि लेनिन का बौद्धिक प्रभाव पार्टी के ऊपर काफ़ी ज़्यादा था और दूसरा यह कि फ़रवरी क्रान्ति के बाद से ही पार्टी सदस्यता का ढाँचा बदलता जा रहा था और उसमें बहुत से ऐसे तत्व प्रवेश कर गये थे जिनमें एक प्रकार का क्रान्तिकारी अधैर्य था। ऐसे अधैर्यवान सदस्यों को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश की बात करने वाली लेनिन की रैडिकल कार्यदिशा रुच रही थी और यही वजह थी की अन्ततः लेनिन की कार्यदिशा पार्टी में हावी हो गयी। रैबिनोविच लिखते हैं :

"फ़रवरी क्रान्ति के समय से ही पार्टी सदस्यता की शर्तों को लगभग रद्द कर दिया गया था, और अब बोल्शेविक क्रतारें जल्दबाज़ नये रंगरूटों से भर गयी थीं जो कि मार्क्सवाद के बारे में लगभग कुछ नहीं जानते थे और जिन्हें क्रान्तिकारी कार्रवाई के लिए भयंकर अधैर्य एकजुट करता था। इसके अलावा, राजधानी में कारावास, निर्वासन और प्रवासन से लौटने वालों में तमाम पुराने पार्टी सदस्य थे, जो कि उन बोल्शेविकों से ज़्यादा रैडिकल होने का रुझान रखते थे जो कि युद्ध के दौरान पेत्रोग्राद में ही थे।" (रैबिनोविच, 1991, पृ. 41)

दूसरे शब्दों में, यदि पेत्रोग्राद में पहले की ही तरह पार्टी के भीतर सूझबूझ वाले, विवेकवान और मध्यमार्गी बोल्शेविकों का बोलबाला रहा होता (जैसे कि कामेनेव!) तो फिर लेनिन की जल्दबाज़ कार्यदिशा लागू नहीं हुई होती। हम देख सकते हैं कि रूसी क्रान्ति के बारे में तमाम बुर्जुआ व उदारवादी बुर्जुआ इतिहासकारों का दर्द आज तक भी शान्त नहीं हो पाया

है। मसलन, वे तमाम क्रिस्म की आकस्मिकताओं या अलग-अलग विशिष्ट व्यक्तियों की कुछ खास अभिलाक्षणिकताओं का हवाला देकर ऐसी बातें करते रहते हैं : "अगर रूस में भी कोई लॉयड जॉर्ज होता तो...", "अगर पार्टी में अधैर्यवान रंगरूट न भर गये होते तो लेनिन की रैडिकल कार्यदिशा की बजाय कामेनेव की नर्म कार्यदिशा लागू होती..." वगैरह।

पहली बात तो यह है कि बोल्शेविक पार्टी में सदस्यता की शर्तों में कभी छूट नहीं दी गयी थी; यह सच है कि ऐसे दौर आये थे जब कि खुले काम की परिस्थितियों के कारण सदस्यता देने में ज्यादा उदारता बरती गयी। लेकिन ऐसा दौर महज फ़रवरी क्रान्ति के बाद ही नहीं आया था, बल्कि कई बार आया था। और पार्टी ने बार-बार शुद्धीकरण अभियान चलाकर गैर-संजीदा तत्वों की छँटनी भी की थी। ग़ौरतलब बात यह है कि लेनिन की कार्यदिशा को स्वीकार करने के पीछे पार्टी के आम बौद्धिक स्तर का नीचे जाना और अदूरदर्शी नये रंगरूटों का भरना नहीं था। 6 अप्रैल से 24 अप्रैल तक ही (जब कि प्रसिद्ध अप्रैल सम्मेलन हुआ था) रूस में बदलती परिस्थितियाँ लगातार लेनिन की कार्यदिशा के सहीपन को साबित कर रही थीं। युद्ध में मिल रही लगातार पराजयों, मन्त्रिमण्डलीय संकट, भूख, मोर्चे से पलायन, सेना व मजदूरों में विद्रोह की बढ़ती भावना - ये सभी बोल्शेविक पार्टी के सामने लेनिन की कार्यदिशा के सहीपन को सिद्ध कर रहे थे। इसलिए लेनिन की कार्यदिशा पहले 14 अप्रैल के पार्टी के पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन में विजयी हुई और उसके बाद 24 अप्रैल के अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन में विजयी हुई। ई.एच. कार का ब्यौरा इस विषय में कहीं ज्यादा सन्तुलित है और अमेरिकी इतिहास-लेखन के टिपिकल विकृतीकरण से मुक्त है :

*"ये कार्यवाहियाँ एक बार फिर से पार्टी पर लेनिन की अपरिमित प्रभाव को दिखला रही थीं, जो प्रभाव जुमलों पर नहीं, बल्कि परिस्थितियों की अद्वितीय और गहरी समझदारी के अत्यंत सम्मोहक प्रभाव को सम्प्रेषित करने वाली साफ़ नज़र और तीक्ष्ण तर्कों पर आधारित था। "लेनिन के आने से पहले सभी कामरेड अँधेरे में भटक रहे थे", जैसा कि पेत्रोग्राद सम्मेलन में आये एक प्रतिनिधि ने बताया।" (ई.एच. कार, 1978, दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, खण्ड 1, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ. 82)*

लेनिन की अवस्थितियों का विकृतीकरण या उसे समझने में अक्षमता का प्रदर्शन जारी रखते हुए रैबिनोविच दावा करते हैं कि लेनिन का अप्रैल में रूस आते ही शुरुआती मूल्यांकन यह था कि आर.जी सरकार को तत्काल उखाड़ फेंका जाना चाहिए। 20-21 अप्रैल को पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा वामपन्थी कार्यदिशा पर अमल के कारण एक जन प्रदर्शन हुआ जो कि पार्टी के पूर्ण नियन्त्रण में नहीं रह सका। बोगदातियेव की अगुवाई में एक वामपन्थी धड़ा काफ़ी हद तक इसका ज़िम्मेदार था। लेनिन ने इसे बड़ी भूल बताया और कहा कि कार्रवाई के मौकों पर ऐसी भूलें कई बार काफ़ी बड़ी क्रीमत वसूल लेती हैं, लेकिन साथ ही लेनिन ने यह भी कहा कि जो सक्रिय होते हैं और क्रम उठाते हैं उनसे ग़लतियाँ हो सकती हैं। रैबिनोविच यहाँ यह जोड़ देते हैं :

*"इस मौके पर उनकी (लेनिन की) टिप्पणियाँ यह दिखलाती हैं कि आर.जी सरकार को उखाड़*

फेंकने के लिए जनसमुदायों को तैयार करने का कार्यभार अब उन्हें उन दिनों की अपेक्षा काफ़ी जटिल लग रहा था जब वे अभी रूस लौटे थे... " (रैबिनोविच, 1991, पृ 45)

यह लेनिन की अवस्थिति का भयंकर विकृतीकरण है और उन्हें वामपन्थी भटकाव का शिकार बनाने का प्रयास है। रैबिनोविच यह इसलिए भी करते हैं क्योंकि इससे उनकी 'विभाजित पार्टी' की थीसिस को बल मिलता है। सच्चाई यह है कि लेनिन ने अपने रूस में आने साथ ही जो 'अप्रैल थीसीज़' पेश की थी उसमें तत्काल आरज़ी सरकार को उखाड़ फेंकने की कोई बात नहीं की थी। लेनिन का यह मानना था कि जब तक कि बोल्शेविक पार्टी पीटर्सबर्ग सोवियत और अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में बहुमत में नहीं आ जाती और जब तक वह प्रान्तों में बेहतर स्थिति में नहीं आ जाती तब तक बोल्शेविक अगर आरज़ी सरकार के खिलाफ़ क्रान्ति कर सत्ता स्थापित कर भी लें तो भी वे उस पर टिके नहीं रह पायेंगे। और यह अवस्थिति लेनिन की शुरु से ही थी न कि बाद में बनी। लेनिन ने शुरुआत में महज़ यह दावा किया था कि अब क्रान्ति की जनवादी मंज़िल से समाजवादी मंज़िल में संक्रमण शुरू हो चुका है और अब किसी प्रकार के संसदीय जनवाद की ओर लौटने की बात पीछे की ओर उठाया जाने वाला क़दम होगा। अब सारी सत्ता सोवियतों को सौंपने का नारा ही प्रासंगिक है। "दोहरी सत्ता" की विशिष्ट और अस्थायी स्थिति में कुछ समय के लिए राज्यसत्ता के सोवियतों के हाथों में शान्तिपूर्ण रूप से हस्तान्तरण की सम्भावना बनी हुई थी, लेकिन जुलाई के बाद ही यह सम्भावना समाप्त हुई जब राज्यसत्ता पूरी तरह बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सुदृढ़ीकृत हो गयी और सोवियतों की भूमिका बुर्जुआ वर्ग के पिछलग्गू की बन गयी। लेकिन लेनिन की पूरी अवस्थिति को रैबिनोविच तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं। अप्रैल सम्मेलन के बारे में ही रैबिनोविच एक ऐसी तस्वीर पेश करते हैं जो कि 'विभाजित पार्टी' के उनके विचार का समर्थन करे। वे कहते हैं कि सम्मेलन में लेनिन को बिना शर्त नहीं बल्कि बाशर्त समर्थन मिला; दूसरे इण्टरनेशनल से नाता तोड़ने के उनके आह्वान को ज़्यादा समर्थन नहीं मिला और "वर्तमान स्थिति" पर लेनिन की अवस्थिति को बहुमत तो मिला लेकिन केवल 24 वोटों के अन्तर से विजय मिली। अब्बलन तो ये तथ्य ही सटीक नहीं है, और दूसरे किसी भी पार्टी सम्मेलन में तीखी बहस होना एक संक्रमणकालीन स्थिति में सामान्य था। तथ्यतः यह ग़लती है कि "वर्तमान स्थिति" पर लेनिन की अवस्थिति के समर्थन में 73 वोट पड़े जबकि उसके विरोध में 39 वोट पड़े, जबकि 8 प्रतिनिधियों ने वोट डालने से इंकार कर दिया। यानी लेनिन की अवस्थिति की 24 नहीं बल्कि 34 वोटों से जीत हुई थी और उसके पक्ष में कुल वोटों के दो-तिहाई वोट पड़े थे। बोल्शेविक पार्टी का सिद्धान्त ही यही है कि कार्यदिशा तय होने से पहले पूर्ण स्वतन्त्रता और बहस की पूरी आज़ादी और बहुमत द्वारा कार्यदिशा निर्धारित हो जाने पर पूर्ण केन्द्रीयता और पूर्ण अनुशासन। सातवें पार्टी सम्मेलन में लेनिन की अप्रैल थीसीज़ को इतने अन्तर से भी बहुमत प्राप्त हुआ तो वह लेनिन की कार्यदिशा की एक बड़ी विजय थी क्योंकि दस दिन पहले ही लेनिन की अवस्थिति अल्पमत में थी। लेकिन रैबिनोविच के लिए सम्मेलन में यह वोटिंग पैटर्न एक 'विभाजित पार्टी' को दिखलाता है।

साथ ही, रैबिनोविच दावा करते हैं कि सम्मेलन में लेनिन के विरोध में एक कामेनेव गुट था जिसमें नोगिन, मिल्युतिन और फेदोरोव थे, जबकि उसके विपरीत लेनिन का पक्ष लेने वाला धड़ा था जिसमें लेनिन के अलावा, जिनोवियेव, स्तालिन, स्वेर्दलोव और स्मिलगा शामिल थे। इन नौ लोगों को ही केन्द्रीय कमेटी में भी चुना गया जिससे पता चलता है कि पार्टी में कामेनेव धड़े का भी काफ़ी प्रभाव था और इसी मध्यमार्गी धड़े को इसी वजह से नेतृत्व में इतना स्थान मिला था। यहाँ भी देख सकते हैं कि एक बुर्जुआ अनुभववादी इतिहासकार यदि बोलशेविक पार्टी के भीतर चलने वाले दो लाइनों के संघर्ष का इतिहास लिखेगा तो किस नज़रिये से लिखेगा। वह उसमें दो लाइनों के संघर्ष और उसके कारण बनने वाली व्यापक अवस्थितियों को गुटों के रूप में देखेगा और साथ ही हर वोटिंग या चुनाव को प्रभावी गुटों के बीच एक समझौते के रूप में पेश करेगा। इसलिए रैबिनोविच के अनुसार सातवें सम्मेलन में लेनिन की अवस्थिति की कोई भारी विजय नहीं हुई बल्कि एक सन्तुलन स्थापित करने वाला समझौता किया गया! ज़ाहिर है, रैबिनोविच जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त को ही नहीं समझते हैं और हर पार्टी फ़ोरम पर सत्ता के लिए गुटों के बीच संघर्ष की तलाश करते नज़र आते हैं। पार्टी के भीतर जारी विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष का इस्तेमाल वे बोलशेविक पार्टी को एक 'विभाजित पार्टी' के रूप में प्रदर्शित करने के लिए करते हैं और यह दावा करते हैं कि सोवियत स्रोतों में कहीं भी इस संघर्ष की तस्वीर नहीं मिलती है और अगर कहीं ज़िक्र आता भी है तो लेनिन की कार्यदिशा से विपथगमन करने वाले को वाम या दक्षिण भटकाव का शिकार बता दिया जाता है। यह एक विचित्र आपत्ति है।

निश्चित तौर पर, बोलशेविक पार्टी जिस कार्यदिशा को तमाम बहस-मुबाहसे के बाद सही कार्यदिशा के रूप में स्वीकार करेगी उससे विचलन को निश्चित तौर पर वह सही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवस्थिति से वाम या दक्षिण विचलन के तौर पर ही देखेगी। इस बात पर दुखी होने का रैबिनोविच के पास कोई वैध कारण नहीं है। दूसरी बात जो स्पष्ट तौर पर सामने आती है वह यह है कि एक कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर जारी राजनीतिक व विचारधारात्मक उथल-पुथल, बहस और विमर्श के बीच तथा उस पार्टी की सांगठनिक एकता और अनुशासन के बीच रैबिनोविच व तमाम बुर्जुआ इतिहासकार फ़र्क नहीं कर पाते हैं। इसका कारण यही है कि वे जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त को नहीं समझ पाते हैं। अगर हम रैबिनोविच द्वारा लिखे गये इतिहास को ही देखें तो हम पाते हैं कि पार्टी में जो तमाम बहसें चल रही थीं, उसके बावजूद, अगर हम अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा पार्टी की तय कार्यदिशा से किये गये विचलनों को छोड़ दें, तो सांगठनिक अनुशासन के मामले में कमोबेश एकता मौजूद थी। पार्टी की कमेटियाँ केवल उन सूरतों में अपने से ऊपर की कमेटियों या केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों को लागू करने में असफल दिखती हैं, जबकि उनके बीच सम्पर्क टूट चुका होता है, या फिर जब कुछ विशिष्ट व्यक्ति अनुशासन का उल्लंघन करते हैं। इसके अतिरिक्त, सभी मौकों पर हर कमेटी सदस्य अपनी कमेटी के बहुमत द्वारा तय कार्यदिशा और केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों का पालन करता है और हर कमेटी अपने से ऊपर की कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों का पालन करती नज़र आती है। इसलिए विचारों और

कार्यदिशाओं के घमासान के बावजूद, अपवादस्वरूप स्थितियों, जैसे कि सम्पर्क का टूट जाना, के अलावा, कार्रवाई की एकता बोल्शेविक पार्टी की खासियत के तौर पर सामने आती है। और चूँकि रैबिनोविच भी एक अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी इतिहासकार हैं, इसलिए वे भी तथ्यों की प्रस्तुति में इतना हेर-फेर नहीं कर पाते कि कोई और तस्वीर पेश कर पायें। उनका इतिहास-लेखन भी ग़ैर-इरादतन ही सही मगर इस तथ्य को सही सिद्ध करता है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच का पूरा ब्यौरा दिखलाता है कि किस प्रकार सैन्य संगठन के पोदवॉइस्की और नेव्स्की केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को सैन्य संगठन के सम्मेलन में लागू करवाने का प्रयास करते हैं और साथ ही व्यापक सैनिक आबादी में बोल्शेविक कार्यदिशा को लागू करवाने के लिए अथक प्रयास करते हैं, लेकिन अलग से रैबिनोविच एक स्थान पर यह दावा करते हैं कि पोदवॉइस्की और नेव्स्की स्वतन्त्र व्यक्तित्व के स्वामी थे और वे अक्सर केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को लागू नहीं करते थे। इस दावे को सही सिद्ध करने के लिए रैबिनोविच संशोधनवाद के दौर के स्रोत का हवाला देते हैं। इस प्रकार के अन्तरविरोध रैबिनोविच के इतिहास-लेखन में हमें पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

## बोल्शेविक सैन्य संगठन और उसके नेतृत्व के बारे में रैबिनोविच के अन्तरविरोधी विचार

बोल्शेविक सैन्य संगठन के बारे में रैबिनोविच के विचारों की पड़ताल विशेष तौर पर उपयोगी है क्योंकि फ़रवरी से जुलाई के बीच जो कुछ हो रहा था उसमें सैन्य संगठन और सेना की भूमिका पर रैबिनोविच का अतिशय ज़ोर है, और राजनीतिक पहलू पर ज़ोर कम है। यह अलग से आलोचना का विषय है, लेकिन अभी हम सैन्य संगठन और उसके नेतृत्व के विषय में रैबिनोविच के विचारों पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया है, 'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को पुष्ट करने के लिए रैबिनोविच सैन्य संगठन के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं की स्वायत्तता और राजनीतिक स्वतन्त्रता पर ज़्यादा बल देते हैं। लेकिन उसके बाद 10 जून के प्रदर्शन की तैयारी के विषय में हम उनके ही ब्यौरे को देखें तो हम पाते हैं कि चाहे इन नेताओं के विचार केन्द्रीय कमेटी के निर्णय से मेल खाते हों या नहीं, अन्ततः ये केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को ही लागू करने का प्रयास करते थे। इनमें दो नेता प्रमुख थे - पोदवॉइस्की और नेव्स्की। निश्चित तौर पर, आकस्मिक परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर सैन्य संगठन के ये नेता अपने स्वतन्त्र निर्णय का उपयोग करते थे और इसके अलावा उनसे और कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती है। लेकिन बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इन नेताओं ने विलक्षण अनुशासन का प्रदर्शन किया।

रैबिनोविच बताते हैं कि 10 जून के प्रदर्शन की योजना मूलतः बोल्शेविक सैन्य संगठन ने बनायी थी। लेकिन केन्द्रीय कमेटी मई माह के मध्य तक इस पर कोई ठोस निर्णय नहीं ले पा रही थी। वास्तव में केन्द्रीय कमेटी इस बात को लेकर सशंकित थी कि ऐसे किसी प्रदर्शन में सैनिकों के अतिरिक्त मज़दूरों की भागीदारी किस हद तक सुनिश्चित की जा सकती है। केन्द्रीय कमेटी का

स्पष्ट मानना था कि यदि प्रदर्शन में व्यापक जन भागीदारी सुनिश्चित नहीं की जा सकती, तो महज़ सैनिकों के भारी असन्तोष के आधार पर ऐसे प्रदर्शन के भारी नकारात्मक नतीजे सामने आ सकते हैं। यही कारण था कि केन्द्रीय कमेटी तत्काल सैन्य संगठन की इस योजना को स्वीकृति नहीं दे रही थी। वहीं दूसरी ओर बोल्शेविक सैन्य संगठन की स्थिति भी नाज़ुक थी क्योंकि पेत्रोग्राद के सैनिकों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था और उसके आक्रोश को फूट पड़ने से रोक पाना मुश्किल हो रहा था। यही कारण था कि सैन्य संगठन के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं के लिए एक मुश्किल हालत थी। केन्द्रीय कमेटी के निर्देश के बिना वे प्रदर्शन का आह्वान नहीं कर सकते थे और सैनिकों का दबाव नीचे से बहुत ज़्यादा था क्योंकि उनके लिए अब और इन्तज़ार करना बेहद मुश्किल था। अगर हम रैबिनोविच के ही ब्यौरे को देखें तो हम पाते हैं कि इसी दौरान पीटर्सबर्ग कमेटी की बैठक के दौरान नेव्स्की ने स्वयं कहा था कि केन्द्रीय कमेटी के निर्णय के बिना इस दिशा में कोई क़दम न उठाये जायें। 23 मई की सैन्य संगठन की एक बैठक में भी सैन्य संगठन के एक अन्य नेता दाशकेविच और नेव्स्की दोनों ने ही प्रदर्शन की योजना को बाशर्त समर्थन देते हुए यह कहा कि जनसमर्थन के बिना किसी प्रदर्शन का आयोजन करना एक रणकौशलात्मक भूल होगी लेकिन अगर व्यापक जनसमर्थन और भागीदारी को सुनिश्चित किया जा सकता हो, तो निश्चित तौर पर प्रदर्शन किया जाना चाहिए। रैबिनोविच की किताब में ही इस बैठक का और इसमें नेव्स्की द्वारा किये गये हस्तक्षेप का ज़िक्र आता है (पृ. 55)। यहाँ नेव्स्की और कुछ नहीं बल्कि केन्द्रीय कमेटी की राय को ही पेश कर रहे थे। इसके बावजूद, आगे रैबिनोविच नेव्स्की को उन लोगों में से एक व्यक्ति के तौर पर पेश करते हैं जो कि बोल्शेविक सैन्य संगठन में थे और केन्द्रीय कमेटी की इच्छाओं के विपरीत एक अपरिपक्व प्रदर्शन करने की हिमायत कर रहे थे।

रैबिनोविच का यह कहना बिल्कुल सही है कि पेत्रोग्राद में अलग-अलग गैरीसनों में प्रदर्शन करने को लेकर भारी माँग थी और इसका बोल्शेविक सैन्य संगठन पर काफ़ी दबाव पड़ रहा था। साथ ही, रैबिनोविच स्वयं ही दिखलाते हैं कि दुस्साहसवादी अवस्थिति अपनाने वाले अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के कारण भी सैनिकों के बीच में बोल्शेविकों का राजनीतिक कार्य काफ़ी मुश्किल हो जाता था। कई बार अधैर्य और असन्तोष से भरे हुए सैनिक अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के वाम दुस्साहसवाद की ओर आकृष्ट होने लगते थे। ऐसे में, बोल्शेविक सैन्य संगठन के संगठनकर्ताओं को रैडिकल रेटरिक का इस्तेमाल करते हुए, विस्फोट की स्थिति को रोकना पड़ता था। इस रैडिकल रेटरिक के कारण ही कई बार रैबिनोविच भ्रमित हो जाते हैं और उन्हें लगता है कि बोल्शेविक संगठनकर्ता भी अपरिपक्व प्रदर्शन का आह्वान कर रहे थे। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था, क्योंकि बोल्शेविक संगठनकर्ताओं के लिए रैडिकल जुमलों और मुहावरों का इस्तेमाल करना एक मजबूरी बन गया था, अन्यथा तमाम गैरीसनों पर उनका राजनीतिक प्रभाव ख़तरे में पड़ जाता। अगर हम स्वयं रैबिनोविच के ही पूरे ब्यौरे को पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के ये नेता किसी भी तरह से जनआक्रोश के विस्फोट को तब तक टालने का प्रयास कर रहे थे, जब तक कि केन्द्रीय कमेटी इस

प्रश्न पर एक ठोस निर्णय न ले ले। पोदवॉइस्की और नेव्स्की इस प्रक्रिया में केन्द्रीय कमेटी को यह भी सम्प्रेषित कर रहे थे कि इस विस्फोट को बहुत लम्बे समय तक नहीं टाला जा सकता है क्योंकि अगर बोलशेविक इसमें नहीं भी हिस्सा लेते हैं, तो सैनिक देर-सबेर सब्र खो बैठेंगे और प्रदर्शन करेंगे। उस सूरत में गैरीसनों में बोलशेविकों के प्रभाव में हास आयेगा और अराजकतावादियों का प्रभाव बढ़ सकता है। इसी पूरे सन्दर्भ में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग समिति में तीखी बहस और नोक-झोंक हुई। लेकिन रैबिनोविच द्वारा इससे यह नतीजा निकाला जाना कि यह बोलशेविक पार्टी के विभाजित चरित्र को दिखलाता है, क्रतई गलत है। यह भी सही हो सकता है कि कई बार बोलशेविक पार्टी के सैन्य संगठन में काम कर रहा नेतृत्व आम सैनिकों के भारी दबाव के प्रभाव में आकर काम कर रहा हो; तब भी इससे यह नतीजा निकालना अनुचित होगा कि बोलशेविक सैन्य संगठनकर्ता या बोलशेविक सैन्य संगठन पार्टी के भीतर सत्ता का एक अलग केन्द्र था जिसके अपने हित और अपने लक्ष्य थे और जो लगातार अपने प्रभाव और स्वायत्तता को बढ़ाने के लिए प्रयासरत रहता था। नेव्स्की और पॉड्वाइस्की लगातार यह प्रयास करते थे कि सैनिकों के बीच केन्द्रीय कमेटी द्वारा तय कार्यदिशा पर सहमति बनायी जा सके। बताने की आवश्यकता नहीं है कि हमेशा ऐसा कर पाना सम्भव नहीं होता था, विशेष तौर पर उन परिस्थितियों में जिनसे उस समय रूस गुज़र रहा था।

आगे रैबिनोविच बताते हैं कि किस तरह पहले 6 जून को केन्द्रीय कमेटी के साथ संयुक्त बैठक में पोदवॉइस्की ने केन्द्रीय कमेटी से इस प्रश्न पर तत्काल निर्णय लेने की अपील की, किस प्रकार केन्द्रीय कमेटी में इसे लेकर तीखी बहस हुई जिसमें लेनिन, स्तालिन, स्वेर्दलोव और फेदोरोव ने इसका समर्थन किया जबकि कामेनेव, नोगिन और ज़िनोवियेव ने इसका विरोध किया। यहाँ तक कि क्रुप्सकाया भी इस प्रश्न पर पूरी तरह से लेनिन के साथ नहीं थीं और उनके भी इस विषय पर कुछ संशय थे। इसके बाद यह मसला पीटर्सबर्ग कमेटी में भी उठा वहाँ भी व्यापक बहस के बाद लेनिन की अवस्थिति को स्वीकार किया गया, लेकिन टॉम्स्की के आग्रह पर अन्तिम निर्णय को 9 जून की पीटर्सबर्ग कमेटी की विस्तारित बैठक तक के लिए टाल दिया गया। बाद में इस बैठक में भी प्रदर्शन करने के फ़ैसले पर मुहर लगी। इन बहसों का विवरण देते हुए रैबिनोविच वास्तव में 'विभाजित पार्टी' की थीसिस को ही सही ठहराने का निरन्तर प्रयास करते नज़र आते हैं, जिसके अनुसार सोवियत स्रोतों में (रैबिनोविच के लिए 1953-56 के बाद के सोवियत स्रोत) में लेनिन के प्रश्नेतर नेतृत्व की तस्वीर पेश करने के लिए इन बहसों के ब्यौरों को दबा दिया गया। लेकिन जो वास्तविक सोवियत स्रोत हैं, यानी 1953-56 से पहले के सोवियत स्रोतों में, जिसमें कि 'बोलशेविक पार्टी का इतिहास' भी शामिल है, इस बहसों को छिपाया नहीं गया है और इनका एक ब्यौरा दिया गया है। दूसरी बात यह है कि इन बहसों से क्रतई यह साबित नहीं होता कि बोलशेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी; उल्टे 'कार्रवाई में पूर्ण एकता' इन्हीं तीखी बहसों से पैदा होती थी और ये सांगठनिक कार्रवाई का धरातल है जहाँ यह देखा जाना चाहिए कि पार्टी एकजुट थी या नहीं। लेकिन रैबिनोविच लेनिन-कालीन और स्तालिन-काल से पहले की बोलशेविक पार्टी को

उदार बुर्जुआ चौखटे में फिट करने के प्रयास में बोल्शेविक पार्टी में लगातार 'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को थोपने का प्रयास करते रहते हैं।

10 जून के प्रस्तावित और बाद में रद्द कर दिये गये प्रदर्शन के ठीक पहले और ठीक बाद की स्थितियों और इस दौरान सैन्य संगठन की गतिविधियों की चर्चा करते हुए एक स्थान पर रैबिनोविच बोल्शेविकों और अराजकतावादियों व अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के बीच मौजूद कुछ समानताओं की बात करते हैं। हालाँकि, बाद में वे उनके बीच मौजूद विचारधारात्मक मतभेदों की चर्चा भी करते हैं, लेकिन समानताओं और असमानताओं, दोनों की ही चर्चा में यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मुद्दे पर रैबिनोविच की स्पष्ट समझदारी नहीं है। साथ ही, जिस रूप में रैबिनोविच कम्युनिस्टों व अराजकतावादियों के अन्तिम लक्ष्य का जिक्र करते हैं, उससे ही स्पष्ट हो जाता है कि वे इस लक्ष्य को ही आदर्शवादी यूटोपिया समझते हैं, हालाँकि वे ऐसा खुलकर नहीं कहते। रैबिनोविच लिखते हैं :

*"अराजकतावादी-कम्युनिस्टों और बोल्शेविकों द्वारा कल्पित भावी आदर्श समाजों के बीच कई समानताएँ थीं। इसके अलावा ऐसे तात्कालिक मुद्दों पर भी उनकी अवस्थितियाँ एक थीं जैसे कि युद्ध को जारी रखना, सेना में अनुशासन की पुनर्स्थापना, उद्योगों पर मजदूरों का नियन्त्रण, और आरजी सरकार के प्रति दृष्टिकोण।" (वही, पृ. 62)*

स्पष्ट है कि रैबिनोविच जो दिखता है उसी को सच समझ बैठे हैं। यह सच है कि अन्तिम लक्ष्य के तौर पर एक राज्यविहीन समाज अराजकतावादियों और कम्युनिस्टों दोनों का ही लक्ष्य होता है, लेकिन कम्युनिस्ट इस बात को समझते हैं कि एक वर्गविहीन समाज के बिना एक राज्य विहीन समाज नहीं हो सकता है और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के बिना एक वर्गविहीन समाज में संक्रमण सम्भव नहीं है। अगले ही पृष्ठ पर रैबिनोविच इस बात को मानते हैं। लेकिन तात्कालिक तौर पर भी आरजी सरकार के विरोध के प्रति बोल्शेविकों का रवैया अलग था और अराजकतावादियों का अलग। बोल्शेविक आरजी सरकार को बुर्जुआ सरकार मानते हुए, उसका ध्वंस कर सर्वहारा सत्ता कायम करना चाहते थे, जबकि अराजकतावादी हर प्रकार की सत्ता के खात्मे की बात कर रहे थे। उद्योगों पर नियन्त्रण के प्रश्न पर भी बोल्शेविकों की समझदारी समूचे राष्ट्रीय उद्योगों पर मजदूर वर्ग के नियन्त्रण की थी, न कि एक-एक कारखाने पर मजदूरों के नियन्त्रण की। हालाँकि बोल्शेविक पार्टी ने कुछ ही माह बाद क्रान्ति की तात्कालिक शक्ति के तौर पर कारखाना समितियों द्वारा कारखानों पर कब्जे के आन्दोलन का समर्थन किया था, लेकिन इसके समर्थन के साथ ही पार्टी इस अनिवार्यता के प्रति सचेत थी कि आगे इसे अलग-अलग कारखानों पर मजदूरों के नियन्त्रण से राष्ट्रीय उद्योग पर मजदूर वर्ग के नियन्त्रण में तब्दील करना होगा। इसलिए तात्कालिक तौर पर भी बोल्शेविकों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के बीच कई अन्तर थे, जिन्हें कई बार आम रूसी मजदूर और सैनिक नहीं समझ पाते थे, जैसा कि रैबिनोविच ने भी लिखा है। लेकिन निश्चित तौर पर रैबिनोविच आम रूसी मजदूर या सैनिक नहीं हैं!

## 10 जून, 18 जून और 3-5 जुलाई की घटनाएँ : बोल्शेविक पार्टी के बदलते मूल्यांकन और निर्णय और रैबिनोविच का 'विभाजित पार्टी' का सिद्धान्त

रैबिनोविच कहीं भी "आधिकारिक सोवियत व्याख्या" का पुतला खड़ा करना नहीं भूलते ताकि बाद में उसे ध्वस्त कर सकें। 10 जून के प्रदर्शन के लाटिसस पहले के दौर के बारे में लिखते हुए रैबिनोविच दावा करते हैं कि वाईबोर्ग ज़िला कमेटी के सदस्य लाटिसस ने अपनी डायरी में दर्ज किया है कि 8 जून को हुई बोल्शेविकों की बैठक में सैनिक समर्थन को लेकर तो कोई सन्देह नहीं था, लेकिन मज़दूरों की भागीदारी को लेकर अभी भी कुछ सन्देह बना हुआ था। छठी कांग्रेस में स्तालिन की रिपोर्ट में भी बताया गया था कि मज़दूरों की भागीदारी किस हद तक होगी, इसे लेकर कुछ प्रश्न चिन्ह बने हुए थे। लेकिन 11 जून के ही *प्राव्दा* में यह दावा किया गया था कि 10 जून के प्रदर्शन को मज़दूरों और सैनिकों, दोनों का ही समर्थन प्राप्त था, जो कि रैबिनोविच के मुताबिक आगे चलकर आधिकारिक सोवियत व्याख्या बन गयी। यहाँ सोचने की बात यह है कि छठी कांग्रेस में स्तालिन की रिपोर्ट से ज़्यादा आधिकारिक व्याख्या बोल्शेविकों के अखबार *प्राव्दा* के एक लेख को क्यों माना जाना चाहिए? एक केन्द्रीय कमेटी सदस्य और एक वाईबोर्ग ज़िला कमेटी जैसी अहम कमेटी के सदस्य की व्याख्या को आधिकारिक क्यों नहीं माना जायेगा? इसी प्रकार के अन्तरविरोधों से रैबिनोविच का ब्यौरा भरा हुआ है।

यह भी एक गौरतलब बात है कि रैबिनोविच हर उपलब्ध तथ्य को पेश ज़रूर करते हैं लेकिन जहाँ कहीं भी कोई तथ्य उनके 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त के विपरीत जाता है, वहाँ वे शान्त रहते हैं और कोई टिप्पणी नहीं करते। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच यह तथ्य हमारे सामने पेश करते हैं 10 जून के प्रदर्शन के पक्ष में निर्णय लिये जाने की सूचना सोवियत के बोल्शेविक प्रतिनिधियों को नहीं दी गयी थी (जिसका कारण एक भ्रम प्रतीत होता है; केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों ने सोच लिया था कि यह कार्य पीटर्सबर्ग कमेटी करेगी और पीटर्सबर्ग कमेटी के सदस्यों ने यह सोच लिया था कि यह कार्य केन्द्रीय कमेटी करेगी)। सोवियत के बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने केन्द्रीय कमेटी व पीटर्सबर्ग कमेटी के समक्ष इसका कड़ा विरोध किया और कहा कि 10 जून के प्रदर्शन का आयोजन नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन साथ ही 9 जून की आधी रात साढ़े बारह बजे जब पहली अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने इस प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध लगाते हुए सैनिकों व मज़दूरों को अपनी वैकल्पिक समानान्तर अपील जारी की और प्रदर्शन में हिस्सेदारी न करने को कहा तो इस प्रस्ताव पर बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने वोट देने से इंकार कर दिया। यह घटना बोल्शेविक पार्टी में अनुशासन के उच्च स्तर को दिखलाने वाली एक प्रातिनिधिक घटना है। यह दिखलाती है कि पार्टी के भीतर राजनीतिक असहमति और संघर्ष जितना भी तीखा हो, ज़िम्मेदार बोल्शेविक निकायों ने हमेशा और ज़िम्मेदार बोल्शेविक संगठनकर्ताओं ने लगभग हमेशा पार्टी

अनुशासन का पालन किया। लेकिन इस घटना के बावत सभी तथ्य पेश करते हुए भी रैबिनोविच इस पर कोई टिप्पणी नहीं करते, क्योंकि यह घटना उनके 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त का खण्डन करती है।

ठीक ऐसी ही एक घटना थी 10 जून की भोर में 2 बजे केन्द्रीय कमेटी द्वारा प्रदर्शन को रद्द करने का फैसला। रैबिनोविच स्वयं बताते हैं कि पीटर्सबर्ग कमेटी, जो पहले से भी केन्द्रीय कमेटी के कुछ निर्णयों को लेकर आलोचनात्मक रही थी, केन्द्रीय कमेटी के आखिरी मौक़े पर लिये गये इस निर्णय से क्रतई सहमत नहीं थी। लेकिन इसके बावजूद पीटर्सबर्ग कमेटी ने बेहद कम समय में 10 जून के प्रदर्शन को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयास किया और काफ़ी हद तक उसे रोकने में कामयाब भी रही। यह दीगर बात है कि बाद में पीटर्सबर्ग कमेटी के अधिकांश सदस्यों ने केन्द्रीय कमेटी द्वारा आखिरी समय पर प्रदर्शन रद्द किये जाने को लेकर काफ़ी कड़ी आलोचना रखी और इस आलोचना पर लेनिन को स्वयं केन्द्रीय कमेटी का दृष्टिकोण रखना पड़ा। लेकिन यहाँ गौरतलब बात यह है कि पीटर्सबर्ग कमेटी ने केन्द्रीय कमेटी से गम्भीर असहमति रखते हुए भी उसके निर्णय को लागू किया और बाद में उचित मंच पर इस बहस को उठाया। लेकिन रैबिनोविच इस पर कुछ भी नहीं कहते और बाद में हुई बैठक का हवाला देकर यह चित्र प्रस्तुत करते हैं कि उसमें पीटर्सबर्ग कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के बीच एक बेहद तीखी बहस हुई और इस तस्वीर के आधार पर वे फिर से 'विभाजित पार्टी' की ही अपनी अवधारणा को पुष्ट करते हैं। जैसा कि हम देख सकते हैं चुन-चुनकर तथ्य लिये जाते हैं और फिर अपनी थीसीज़ को पुष्ट करने का प्रयास किया जाता है, हालाँकि रैबिनोविच अपने अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी पूर्वाग्रहों के कारण वे तथ्य भी पेश करते हैं, जो उनकी थीसीज़ का खण्डन करते हैं। इतिहास-लेखन हमेशा ही एक विचारधारात्मक और राजनीतिक उपक्रम होता है और रैबिनोविच का इतिहास-लेखन इस बात को बिना शक सिद्ध कर देता है।

रैबिनोविच जो विवरण पेश करते हैं, उससे एक और बात सिद्ध हो जाती है। स्वयं त्रात्स्की के हवाले से रैबिनोविच बताते हैं कि 10 जून के प्रदर्शन को कुछेक अतिवामपन्थी बोलशेविक ही सत्ता पर क़ब्जे के प्रयास के तौर पर व्याख्यायित कर रहे थे और ऐसी योजनाएँ भी बना रहे थे। लेकिन ये कुछ व्यक्तियों की व्यक्तिगत सोच थी और बोलशेविक पार्टी के किसी भी ज़िम्मेदार निकाय या संगठनकर्ता की ऐसी सोच नहीं थी। इसलिए 10 जून के प्रदर्शन के सन्दर्भ में भी बोलशेविक पार्टी में तीन सत्ता केन्द्र (केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी व बोलशेविक सैन्य संगठन) नहीं थे जिनके "अलग-अलग लक्ष्य और अलग-अलग हित" थे, जैसा कि रैबिनोविच ने किताब की शुरुआत में दावा किया था। निश्चित तौर पर, ऐसे मौक़े आये थे (और इसमें कोई ताज्जुब की बात भी नहीं है) जब इन तीन निकायों के बीच भी और उनके भीतर भी मत-भिन्नता मौजूद थी। लेकिन इन तीनों ही निकायों के काम करने में हम कठोर सांगठनिक अनुशासन देख सकते हैं। यही बात हम एक अन्य घटना में भी देख सकते हैं। जब 10 जून के प्रदर्शन को केन्द्रीय कमेटी ने वापस ले लिया तो स्मिल्गा और स्तालिन उससे विशेष तौर पर नाराज़ थे और उन्होंने केन्द्रीय कमेटी से इस्तीफ़ा देने

तक की पेशकश की थी, जिसे कि खारिज कर दिया गया था। स्मिल्गा का मानना था कि केन्द्रीय कमेटी ने सोवियत के बोलशेविक प्रतिनिधियों की यह बात मानकर गलती की है कि प्रदर्शन रद्द कर दिया जाये और लेनिन समेत केन्द्रीय कमेटी का गैरीसन व कारखानों में हावी माहौल का मूल्यांकन गलत है। लेकिन फिर भी स्मिल्गा ने क्रॉस्टाट में सैनिकों को क्या कहा, वह बोलशेविक पार्टी के अनुशासन को ही दिखलाता है। स्वयं रैबिनोविच ने स्मिल्गा के भाषण को उद्धृत किया है : "यह प्रश्न हरेक मजदूर और सैनिक के सामने खड़ा है; यह शब्दों नहीं बल्कि कार्रवाई की माँग करता है...क्रॉस्टाट में हम सभी के लिए यह कड़वी और दुख भरी बात है कि प्रदर्शन को रद्द कर दिया गया, लेकिन हमें गर्व होना चाहिए कि अपनी शक्ति के प्रति हम सचेत हैं, हम क्रान्तिकारी अनुशासन की ज़रूरत को समझते हैं और जिससे कि क्रॉस्टाट ने अपने से ही प्रदर्शन नहीं किया।" (रैबिनोविच, 1991, में उद्धृत, पृ. 85-86)

जैसा कि हम देख सकते हैं कि तमाम वैचारिक व राजनीतिक संघर्षों के बावजूद बोलशेविक पार्टी कार्रवाई के मामले में अद्भुत अनुशासन का पालन करती थी। यही बोलशेविक पार्टी की असली शक्ति थी, न कि इसका 'विभाजित पार्टी' होना, जैसा कि रैबिनोविच दावा करते हैं। रैबिनोविच का विवरण कुछ और कहता है, लेकिन वे जहाँ कहीं भी कोई मूल्यगत निर्णय देते हैं, वे कुछ और ही कहते हैं। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच के विवरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी पार्टी निकाय 10 जून के प्रदर्शन को (यदि वह होता तो भी) सत्ता पर कब्जे के प्रयास के तौर पर नहीं देख रहा था। इस मायने में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी का मूल्यांकन भी समान था। जिस एक बोलशेविक बोग्दातियेव ने (और उससे सहमत कुछ वामपन्थी बोलशेविकों ने) ऐसे सपने पाल रखे थे, उसे आगे कमेटी से निष्कासित कर दिया गया था, हालाँकि उसकी पार्टी सदस्यता बरकरार रखी गयी थी। लेकिन इसके बावजूद रैबिनोविच लिखते हैं :

"ये मतभेद 11 जून की पीटर्सबर्ग कमेटी की एक आपात बैठक में उभरकर सामने आ गये जो कि विशेष तौर पर केन्द्रीय कमेटी की व्याख्या सुनने के लिए आयोजित की गयी थी। इस बैठक के विस्तृत प्रकाशित प्रोटोकॉल से त्सरेतली के कांग्रेस भाषण के प्रति बोलशेविकों की आरंभिक प्रतिक्रिया, पीटर्सबर्ग कमेटी की कड़वाहट और स्वतन्त्रता की भावना, और 10 जून के प्रदर्शन के बारे में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी की आश्चर्यजनक रूप से भिन्न अवधारणाएँ सामने आती हैं।" (वही, पृ. 86)

रैबिनोविच यह नहीं बताते कि 10 जून के प्रदर्शन की केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी की अवधारणाओं में क्या भिन्नताएँ थीं? क्या पीटर्सबर्ग कमेटी इसे एक शान्तिपूर्ण प्रदर्शन से ज्यादा मानती थी? नहीं! फिर दोनों की अवधारणाओं में फ़र्क़ क्या था? जब आप 11 जून की बैठक के बारे में रैबिनोविच के ही ब्यौरे को पढ़ते हैं तो आप पाते हैं कि अन्तर 10 जून के प्रदर्शन की अवधारणाओं में नहीं था, बल्कि इस बात के आकलन और मूल्यांकन में था कि सोवियत कांग्रेस द्वारा इस प्रदर्शन के खिलाफ़ प्रस्ताव पारित करने के बाद और इस बात की स्पष्ट सूचना मिलने के बाद कि दक्षिणपन्थी गिरोह, जैसे कि ब्लैक हण्ड्रेड्स, इस प्रदर्शन में घुसपैठ कर इसे हिंसात्मक

बना सकते हैं और फिर बोलशेविकों के दमन का और उनके खिलाफ़ एक माहौल तैयार हो सकता है, प्रदर्शन को करना उचित होगा या नहीं। साथ ही, इस बात के आकलन में भी अन्तर मौजूद थे कि मज़दूरों की भागीदारी किस हद तक होगी, क्योंकि इसके बारे में पीटर्सबर्ग कमेटी के भीतर भी कोई एक राय नहीं थी। तीसरा कारण था सोवियत कांग्रेस में बोलशेविक प्रतिनिधियों को सूचना न होना, जिसके कारण वे सोवियत की भावी कार्रवाइयों में पार्टी की ओर से सही तरीके से कोई अवस्थिति पेश नहीं कर पाते। रैबिनोविच ने लेनिन द्वारा दी गयी सफ़ाई का एक बेहद छोटा हिस्सा पेश किया है। यदि लेनिन के भाषण को पढ़ा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रदर्शन से जुड़े ठोस मसलों के बारे में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी का मूल्यांकन और आकलन अलग था, न कि प्रदर्शन की अवधारणाओं में कोई फ़र्क़ था। लेनिन समझ रहे थे कि जब तक सोवियतें सत्ता की अर्द्धनिकाय बनी हुई हैं और उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रतिक्रान्तिकारी अवस्थिति नहीं अपनायी है और वे केवल दुलमुलपन दिखला रही हैं, तब तक सोवियतों के सीधे तौर पर खिलाफ़ जाने से बोलशेविक जनसमुदायों में अलग-थलग पड़ सकते हैं; सोवियतों में बोलशेविक अभी अल्पमत में थे और पार्टी अभी प्रान्तों में हावी माहौल को लेकर भी सुनिश्चित नहीं थी। ऐसे में, यदि 10 जून के प्रदर्शन के हिंस्र होने और अराजकता फैलने का खतरा स्पष्ट हो गया था, तो इसे रद्द कर लेनिन व केन्द्रीय कमेटी ने प्रशंसनीय लचीलापन दिखलाया था।

रैबिनोविच का पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा केन्द्रीय कमेटी के प्रति गुस्से के इज़हार को पीटर्सबर्ग कमेटी की "स्वतन्त्रता की भावना" के तौर पर पेश किया जाना भी तथ्यों का विकृतीकरण है। यदि ऐसा होता तो पीटर्सबर्ग कमेटी प्रदर्शन के रद्द किये जाने के फ़ैसले को ही मानने से इंकार कर देती। लेकिन उसने असहमत होने के बाद भी इस फ़ैसले को लागू किया। चूँकि इस प्रदर्शन को संगठित और सही तरीके से आयोजित करने की पूरी ज़िम्मेदारी पीटर्सबर्ग कमेटी ही मुख्य रूप से उठा रही थी, इसलिए आखिरी समय पर प्रदर्शन का रद्द किया जाना उसके लिए एक शर्मनाक स्थिति पैदा करता था क्योंकि अब उन्हीं जनसमुदायों को प्रदर्शन करने से मना करना, जिन्हें पिछले दो दिनों से वे प्रदर्शन के लिए तैयार कर रहे थे, उनके लिए एक अजीब हालत पैदा करता था। पीटर्सबर्ग कमेटी ने जिस कड़वाहट के साथ केन्द्रीय कमेटी की इस मसले पर आलोचना रखी, उसका मुख्य कारण यह था। लेकिन इसे अलगाववाद या स्वतन्त्रता की भावना के तौर पर पेश करना किसी भी तरीके से तार्किक नहीं है। बहरहाल, इसके बाद रैबिनोविच 18 जून को हुए प्रदर्शन का एक अच्छा ब्यौरा पेश करते हैं, जो कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के आह्वान पर हुआ था, मगर जिसमें बोलशेविक नारे व बैनर पूरी तरह हावी हो गये थे। एक प्रकार से 10 जून का रद्द प्रदर्शन ही 18 जून को आयोजित हो गया और यह स्पष्ट हो गया कि बोलशेविकों की मान्यता मज़दूरों व सैनिकों में बढ़ती जा रही है।

चौथे अध्याय में रैबिनोविच 16 जून से 23 जून तक बोलशेविक सैन्य संगठन के अखिल रूसी सम्मेलन का विवरण पेश करते हैं। इसमें रैबिनोविच कई महत्वपूर्ण प्रेक्षण पेश करते हैं, जो कि रूसी क्रान्ति के इतिहास के अध्ययन के लिए मूल्यवान हैं। लेकिन यहाँ भी 'विभाजित पार्टी' की

अवधारणा को बल प्रदान करने के लिए रैबिनोविच कुछ ऐसी टिप्पणियाँ करते हैं, जिनका कोई आधार नहीं है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच दावा करते हैं कि इस सम्मेलन को कई बोलशेविक संगठनकर्ता सत्ता पर कब्जा करने के उपकरण के रूप में देख रहे थे। यह प्रेक्षण केवल बेतुका दिख ही नहीं रहा है, बल्कि बेतुका है भी। बोलशेविकों के सैन्य संगठन के सम्मेलन को ही कोई जिम्मेदार बोलशेविक संगठनकर्ता सत्ता पर कब्जे के उपकरण के रूप में देख रहा हो, इसकी सम्भावना नगण्य है। यह जरूर सच है कि सैन्य संगठन के आम बोलशेविक काडर में यह भावना बढ़ती जा रही थी कि सत्ता पर कब्जे को लम्बे समय तक टाला नहीं जा सकता है, और पार्टी को जल्द से जल्द उस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए और पेत्रोग्राद गैरीसन से आये कुछ प्रतिनिधि 18 जून को कार्यक्रम समाप्त होने के ठीक पहले मंच पर आकर इस बात की माँग कर रहे थे कि सम्मेलन के एजेण्डा में बदलाव किया जाये और सम्मेलन को ही सशस्त्र बगावत के प्रचालन स्टाफ़ में तब्दील कर दिया जाये। लेकिन सैन्य संगठन के आम काडरों में ऐसी भावना होना लाजिमी है क्योंकि राज्यसत्ता के ध्वंस में बल प्रयोग का पहलू ही प्रधान होता है और जो निकाय क्रान्तिकारी बल प्रयोग के लिए विशिष्ट तौर पर निर्मित, शिक्षित, प्रशिक्षित हो, उसके आम काडर में यह भावना आना सहज है। दूसरी बात यह है कि इसी सम्मेलन के बीच 18 जून का प्रदर्शन हुआ जिसके लिए 18 जून के पहले सत्र को रद्द कर दिया गया था। इस प्रदर्शन से लौटने पर बोलशेविकों के लिए व्यापक जनसमर्थन होने की भावना बोलशेविक सैन्य संगठन में वैसे भी उभार पर थी और सशस्त्र बगावत के लिए आम काडर में अर्धैर्य बढ़ता जा रहा था, जिसे लेनिन को स्वयं सम्मेलन में आकर नियन्त्रित करना पड़ा। लेकिन इसकी इस रूप में व्याख्या करना कि कुछ बोलशेविक इस सम्मेलन में हुए जुटान को ही सशस्त्र विद्रोह और क्रान्ति का उपकरण मान रहे थे, निहायत बेतुका है और रैबिनोविच यह उपक्रम सम्भवतः इसलिए करते हैं, ताकि बोलशेविक पार्टी के भीतर विचारों की बहुलता और 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को बल दे सकें।

साथ ही, रैबिनोविच इस प्रक्रिया में यह भी बताते हैं कि सम्मेलन में इस अर्धैर्य के माहौल पर पोदवाँइस्की ने स्वयं लेनिन से चर्चा की और लेनिन ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में बताया कि अभी कोई भी सशस्त्र विद्रोह अपरिपक्व होगा और अगर वह सफल भी हो गया तो बोलशेविक सत्ता में टिके नहीं रह पायेंगे। लेनिन ने इस माहौल को नियन्त्रित करने का निर्देश दिया और स्पष्ट कर दिया कि कोई भी दुस्साहसवाद पार्टी और क्रान्ति से भारी क्रीमत वसूल करेगा। इस निर्देश के अनुसार ही काम करते हुए पोदवाँइस्की और नेव्स्की दोनों ने ही जिम्मेदार बोलशेविक संगठनकर्ता और नेता की भूमिका निभाते हुए सम्मेलन के प्रतिनिधियों के मन में यह बात बिठाने का अथक प्रयास किया कि अभी सशस्त्र विद्रोह के लिए वक़्त पका नहीं है। लेकिन अन्यत्र रैबिनोविच यह भी दावा करते हैं कि पोदवाँइस्की और नेव्स्की विशेष तौर पर स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की भावना से भरे हुए थे और अनुशासन के प्रति उनका प्रतिरोध होता था। लेकिन जब वास्तविक तथ्यों का विवरण यह प्रदर्शित करता है कि बोलशेविक सैन्य संगठन के ये दोनों ही शीर्ष नेता केन्द्रीय कमेटी और लेनिन के निर्देशों पर सख्ती से अमल कर रहे थे, तो उस पर रैबिनोविच कोई भी टिप्पणी

नहीं करते हैं। चूँकि यह घटनाक्रम स्वयं रैबिनोविच की व्याख्याओं के विपरीत जाता है, इसलिए उसे रैबिनोविच "केन्द्रीय कमेटी के दबाव" के रूप में व्याख्यायित करते हैं, क्योंकि बोल्शेविक सांगठनिक अनुशासन को समझ पाना उनके उदार बुर्जुआ विचारों के कारण उनके लिए सम्भव नहीं है। रैबिनोविच लिखते हैं :

"पेत्रोग्राद सैन्य संगठन के विकास का विवरण देते हुए नेव्स्की ने बेहतर संगठन और ज़्यादा पार्टी अनुशासन के बारे में कुछ विशिष्ट बिन्दु पेश किये। उन्होंने माना, "फ़िलहाल, पीटर्सबर्ग संगठन अपने संगठन के बारे में ज़्यादा शेखी नहीं बघार सकता है...ऐसी रेजीमेण्टें हैं जहाँ हमारा काफ़ी प्रभाव है लेकिन वहाँ कोई औपचारिक संगठन नहीं है।" शायद केन्द्रीय कमेटी के दबाव में नेव्स्की ने सैन्य संगठन की गतिविधियों और केन्द्रीय कमेटी के बीच तालमेल की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि हालाँकि "सैन्य संगठन का एक विशेष चरित्र है"...और हालाँकि "सैनिक विशेष परिस्थितियों में रहते हैं...मगर फिर भी सैन्य संगठन को नियमित पार्टी संगठन का संघटक अंग होना चाहिए।" " (वही, पृ. 115-116)

रैबिनोविच यह अटकल लगाते हैं कि जून में यह तय किये जाने का, कि छठी कांग्रेस जुलाई में की जायेगी, एक कारण यह भी था कि परिस्थितियाँ बेहद तेजी से बदल रही थीं, जनसमुदायों में असन्तोष बढ़ रहा था और इसके मद्देनज़र भी जुलाई में छठी कांग्रेस करने का निर्णय लिया गया। वैसे तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता है, लेकिन फिर भी इस अटकल को पूरी तरह से खारिज नहीं किया जा सकता है। लेकिन इसके आगे रैबिनोविच कहते हैं कि यह कांग्रेस मध्यमार्गी लेनिनवादी धड़े, वामपन्थी स्तालिन और स्मिल्गा तथा दक्षिणपन्थी कामेनेव व नोगिन के धड़े के बीच भी बहस का मंच होने वाली थी। लेकिन अगर हम छठी कांग्रेस के ब्यौरों को देखें तो हम पाते हैं कि स्तालिन और बुखारिन ने इसमें प्रमुख रिपोर्टें पेश कीं। लेनिन उस समय छिपे हुए थे और त्रात्स्की गिरफ़्तार थे। लेनिन ने *नारों के बारे में* नामक लेख के ज़रिये स्पष्ट किया था कि पार्टी को इस समय कौन-सी कार्यदिशा अपनानी चाहिए। ऐसे में स्तालिन को सीधे वामपन्थी धड़े का अंग बताना उचित नहीं प्रतीत होता है, हालाँकि 10 जून के प्रदर्शन के रद्द किये जाने के समय उनकी अवस्थिति वाम अवस्थिति के नज़दीक पड़ती थी। ई.एच. कार ने छठी कांग्रेस का ब्यौरा देते हुए बताया है कि इस कांग्रेस को स्तालिन ने सक्षम नेतृत्व दिया, लेनिन की सशस्त्र विद्रोह की कार्यदिशा का समर्थन किया और साथ ही कांग्रेस में आये प्रतिनिधियों को अपरिपक्व कार्रवाई के विरुद्ध विशेष तौर पर आगाह किया। ऐसे में, कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता कि स्तालिन उस समय वाम धड़े का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, उल्टे इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि स्तालिन लेनिन द्वारा प्रस्तुत कार्यदिशा पर पूरी कांग्रेस को संचालित कर रहे थे।

रैबिनोविच छठी कांग्रेस के पहले पीटर्सबर्ग कमेटी में सशस्त्र विद्रोह के प्रश्न पर जारी बहस का ब्यौरा देते हैं। इसके ठीक पहले रैबिनोविच बताते हैं कि किस प्रकार लेनिन ने सैन्य संगठन की अखिल रूसी कांग्रेस में अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह के खिलाफ़ बात रखी थी, हालाँकि रैबिनोविच के अनुसार लेनिन, पोदवॉइस्की व नेव्स्की की दलीलों के बावजूद तत्काल सशस्त्र विद्रोह के प्रति

आकर्षण आम बोलशेविक काडर में कम नहीं हुआ था और यह मसला अभी हल नहीं हुआ था, हालाँकि तात्कालिक तौर पर सम्मेलन में लेनिन की कार्यदिशा से मिलती-जुलती कार्यदिशा ही पारित हुई थी। इसके ठीक बाद वे पीटर्सबर्ग कमेटी में बहस का विवरण देते हैं और बताते हैं :

"इस चर्चा के समापन पर पीटर्सबर्ग कमेटी ने 2 के मुक़ाबले 19 वोटों से वोलोदास्की और टॉम्स्की द्वारा प्रायोजित एक प्रस्ताव पारित किया जो कि सैन्य संगठन और केन्द्रीय कमेटी के साथ मिलकर (पीटर्सबर्ग कमेटी के) कार्यकारी आयोग को सर्वहारा वर्ग के प्रति एक अपील का मसौदा तैयार करने का अधिकार देता था, जो कि सर्वहारा वर्ग को अलग-थलग क्रान्तिकारी कार्रवाइयों में शिरकत न करने के लिए कहती और आबादी के अन्य वर्गों के बीच प्रभाव जीतने के लिए सभी प्रयास करने को कहती। यह केन्द्रीय कमेटी द्वारा किये गये विरोध के बिल्कुल अनुरूप उठाया गया क़दम था। लाटसिस द्वारा पेश एक संशोधन 9 के मुक़ाबले 12 वोटों से पारित हुआ और वह केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा के अनुरूप नहीं था; यह कहता था कि "अगर जनसमुदायों को रोकना असम्भव हुआ तो पार्टी को आन्दोलन को अपने हाथों में ले लेना चाहिए और इसका इस्तेमाल सोवियत और सोवियतों की कांग्रेस पर दबाव डालने के लिए करना चाहिए।" देखने में लगता है कि इस संशोधन का मक़सद यह सुनिश्चित करना था कि वोलोदास्की व टॉम्स्की का प्रस्ताव पीटर्सबर्ग कमेटी और विशेष तौर पर वाईबोर्ग कमेटी को प्रदर्शन आन्दोलन का नियन्त्रण लेने से नहीं रोकेगा, अगर इसे नियन्त्रित नहीं किया जा सके। लेकिन इसका प्रभाव था लाटसिस, नाउमोव, डाइल और स्तुकोव जैसे रैडिकल नेताओं और ज़िला स्तर पर तमाम आम पार्टी सदस्यों की हरकतों को वैध ठहराना और उन्हें प्रोत्साहित करना, जो कि पहले से ही एक जल्दी होने वाले विद्रोह को अवश्यम्भावी और वांछनीय मानते थे।" (वही, पृ. 127-128)

स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है कि रैबिनोविच विभिन्न पार्टी निकायों के बीच दीवार खींचने का कोई भी अवसर गँवाना नहीं चाहते। यहाँ उन्होंने बेवजह पार्टी की केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच एक खाई बनाने का प्रयास किया है। रैबिनोविच दावा करते हैं कि पीटर्सबर्ग कमेटी ने भारी बहुमत से ऐसा प्रस्ताव पारित किया जो कि लेनिन की कार्यदिशा के अनुरूप था लेकिन एक वामपन्थी लाटसिस के प्रस्ताव पर उसमें एक ऐसा संशोधन भी जोड़ दिया जो कि लेनिन की कार्यदिशा के अनुरूप नहीं था। लेकिन हम स्तालिन और लेनिन दोनों के ही लेखन में देखते हैं कि केन्द्रीय कमेटी का भी यही मानना था कि अगर पार्टी अपने तमाम प्रयासों के बावजूद जनता को जुलाई के प्रस्तावित प्रदर्शन में शामिल होने से नहीं रोक पाती है, तो फिर पार्टी को उसमें शामिल होकर उसे अपने नियन्त्रण में ले लेना चाहिए। मिसाल के तौर पर, छठी कांग्रेस में स्तालिन ने जो रिपोर्ट पेश की उसमें बताया गया है कि जब स्वतःस्फूर्त प्रदर्शनों के फूट पड़ने की खबर पार्टी तक पहुँची तो उस समय बोलशेविक पार्टी का पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन जारी था। इस दिन का पूरा घटनाक्रम पेश करते हुए स्तालिन बताते हैं कि अन्त में तौरीदा महल में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी की एक बैठक हुई। आगे स्तालिन कहते हैं :

"बैठक ने फ़ैसला लिया कि जब क्रान्तिकारी मज़दूर और सैनिक जनता "सारी सत्ता

सोवियतों को!" के नारे के तहत प्रदर्शन कर रही है, तो सर्वहारा वर्ग की पार्टी को इससे हाथ झाड़ लेने और आन्दोलन से अलग-थलग खड़े रहने की कोई इजाजत नहीं है; यह जनता को भाग्य के उतार-चढ़ाव पर नहीं छोड़ सकती है; इसे इस स्वतःस्फूर्त आन्दोलन को एक सचेत और संगठित चरित्र देने के लिए जनता के साथ बने रहना होगा।" (स्तालिन, 1953, वही, पृ. 174)

लेनिन ने भी इस दौर के अपने लेखों नारों के बारे में, तीन संकट, एक जवाब आदि में यही बात दुहराई है। ऐसे में, रैबिनोविच का यह दावा कि आन्दोलन को रोक पाने में असफल होने पर उसे अपने नेतृत्व में ले लेने का लाटसिस का प्रस्ताव केन्द्रीय कमेटी के विपरीत था, बिल्कुल गलत है। तथ्यों के प्रति वफ़ादारी रखने के बावजूद रैबिनोविच ऐसी गलती क्यों कर बैठते हैं? क्योंकि रैबिनोविच हर मौके पर केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच एक दीवार खड़ी करना चाहते हैं और पीटर्सबर्ग कमेटी को ज़्यादा वामपन्थी दिखलाना चाहते हैं। जहाँ तक इन तमाम निकायों के बीच या उनके भीतर चल रही बहसों का प्रश्न है, अलग-अलग बोलशेविक नेताओं ने कई बार वामपन्थी या दक्षिणपन्थी अवस्थिति अपनायी हो सकती है। लेकिन यह तो स्वाभाविक ही है। 'विभाजित पार्टी' की अवधारणा तभी सही ठहर सकती है जबकि इस कमेटियों के भीतर बहुमत द्वारा लिये गये निर्णयों को और ऊपर की कमेटियों द्वारा या केन्द्रीय कमेटी द्वारा लिये गये निर्णयों की नीचे की कमेटियों ने अवहेलना की हो। ऐसा कोई वाक्या स्वयं रैबिनोविच नहीं बता पाते हैं।

ऐसा ही एक प्रयास रैबिनोविच तब करते हैं जब वे 22 जून की एक बैठक की बात करते हैं। यह बैठक सैन्य संगठन द्वारा प्रस्तावित की गयी थी और इसमें केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के सदस्यों को भी हिस्सेदारी करनी थी। लेकिन इन तीनों ही निकायों के नेतृत्वकारी और प्रमुख सदस्यों की ग़ैर-मौजूदगी के कारण इस बैठक को रद्द करना पड़ा। मौके पर जुटे तृणमूल बोलशेविक सदस्यों और इकाई स्तर के नेतृत्व के लोगों ने एक अनौपचारिक बातचीत की। जैसा कि उम्मीद की जा सकती है कि आम सैन्य काडर और सैन्य इकाई स्तर के कुछ तृणमूल नेताओं के एकत्र होने पर सशस्त्र विद्रोह के प्रति अधैर्य का ही प्रदर्शन होना था। इस अनौपचारिक बातचीत में भी इस अधैर्य का पहलू हावी था। लेकिन इस बैठक का पूरी पार्टी की रणनीति को निर्धारित करने में या पार्टी के औपचारिक निकायों के बीच कार्यदिशा के अन्तर को दर्शाने में कोई महत्व नहीं है। देखा जाये तो यह ऐसी अनौपचारिक चर्चा थी नहीं जिसे बहुत महत्व दिया जाये क्योंकि ऐसी चर्चाएँ उस समय पेत्रोग्राद की कई छावणियों में चल रही थीं। इससे केवल आम बोलशेविक काडरों के एक हिस्से और जनसमुदायों के बीच हावी माहौल का पता चलता है। यह माहौल किस तरफ झुका था यह पार्टी के शीर्ष नेतृत्व को भी पता था और वह इसी को नियन्त्रित करने का प्रयास कर रहा था। लेकिन इस अनौपचारिक चर्चा को रैबिनोविच काफ़ी महत्व देते हैं, क्योंकि इससे उन्हें यह साबित करने में मदद मिलती है कि पूरी पार्टी एकमत होकर कभी लेनिन के मातहत नहीं थी, जो कि रैबिनोविच के अनुसार "सोवियत स्रोतों की औपचारिक व्याख्या" है। हम पहले ही बता

चुके हैं कि रैबिनोविच के "सोवियत स्रोत" क्या हैं।

जब बोल्शेविक पार्टी जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का प्रयास कर रही थी, यानी 3 जुलाई की सुबह तक, तब तक के दौर के बारे में रैबिनोविच कहते हैं कि इस दौर में रणकौशलात्मक रूप में लेनिन की अवस्थिति लगभग वही हो गयी थी जो कि कामेनेव की अवस्थिति थी। यह भी जो दिख रहा है, उसे सच मान लेने की रैबिनोविच की प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी प्रवृत्ति को ही दिखलाता है। रैबिनोविच लिखते हैं, "दिलचस्प बात है कि इस दौर के प्राव्दा में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि लेनिन की रणकौशलात्मक अवस्थिति कुछ समय के लिए पार्टी के दक्षिणपन्थी धड़े की अवस्थिति से मिलने लगी थी। वास्तव में, पार्टी के वामपन्थी धड़े पर 22 जून के प्राव्दा में कामेनेव द्वारा हमला करने के लिए लिखा गया (जिसका शीर्षक था "यह इतना सरल नहीं, कॉमरेडो") लेख इस समय लेनिन द्वारा भी लिखा जा सकता था।" (रैबिनोविच, 1991, पृ. 132) आगे रैबिनोविच कामेनेव के लेख से जो उद्धरण पेश करते हैं उसी से पता चला जाता है कि लेनिन की अवस्थिति और कामेनेव की अवस्थिति कतई एक जैसी नहीं थी, उस वक्त भी एक जैसी नहीं थी जबकि पार्टी 3-5 जुलाई की घटनाओं को घटित होने से रोकने के प्रयासों में संलग्न थीं।

कामेनेव ने लिखा था कि रूसी जनवाद को अभी विश्व सर्वहारा और विश्व सर्वहारा क्रान्ति में भरोसा नहीं है और तब तक सत्ता पर कब्जा करने का कोई अर्थ नहीं होगा क्योंकि रूसी क्रान्ति टिक नहीं पायेगी। इसका अर्थ यह था कि उन्नत पश्चिमी यूरोपीय देशों के सर्वहारा क्रान्ति के पहले रूस में क्रान्ति के बुर्जुआ जनवादी चरण को ही जारी रखना होगा। यह लेनिन की कार्यदिशा कभी नहीं थी, न तो रणकौशलात्मक दृष्टि से और न ही रणनीतिक दृष्टि से। लेनिन के अनुसार जुलाई सशस्त्र विद्रोह का समय इसलिए नहीं था क्योंकि सोवियतों में अभी बोल्शेविक बहुमत में नहीं थे और साथ ही प्रान्तों की स्थिति अभी पेत्रोग्राद की स्थिति से काफ़ी पीछे थी और बोल्शेविकों की वहाँ पकड़ भी कमजोर थी। लेनिन स्पष्ट तौर पर समझ रहे थे कि रूस इस समय साम्राज्यवादी विश्व के अन्तरविरोधों का सन्धि-बिन्दु बन रहा है और ऐसे में सर्वहारा क्रान्ति यहाँ सम्पन्न हो सकती है और इस रूप में रूस दुनिया में पहली समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा सत्ता की ज़मीन बन सकता है। इसलिए रणकौशलात्मक तौर पर भी लेनिन और कामेनेव के तर्क एकदम अलग थे। लेकिन चूँकि 2 जुलाई तक समूचा पार्टी नेतृत्व एकमत होकर जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का प्रयास कर रहा था, इसलिए हर कोई प्राव्दा व अन्य बोल्शेविक पत्रों व पर्चों में प्रदर्शन रोकने के लिए ही दलीलें पेश कर रहा था। नतीजतन, इससे रैबिनोविच भ्रमित हो गये हैं कि लेनिन की अवस्थिति इस समय रणकौशलात्मक तौर पर कामेनेव से मिलने लगी थी। प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद की अन्तर्दृष्टि में इस प्रकार की दृष्टिहीनता को रैबिनोविच की पुस्तक पढ़ते हुए बार-बार देखा जा सकता है।

चौथे अध्याय में ही रैबिनोविच प्राव्दा और सोल्दात्स्काइया प्राव्दा के बीच अन्तर निकालते हैं। उनका दावा है कि जून के आखिरी दिनों में जबकि बोल्शेविक पार्टी एक अपरिपक्व विद्रोह को रोकने के लिए जूझ रही थी उस समय प्राव्दा और सोल्दात्स्काइया प्राव्दा में छप रही सामग्री में फ़र्क

दिख रहा था क्योंकि *प्राव्दा* लेनिन के कठोर नियन्त्रण में काम कर रहा था जबकि *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* सैन्य संगठन का मुखपत्र होने के कारण काफ़ी स्वायत्त था और वह पोदवाँइस्की, नेव्स्की और झेनेव्स्की (सैन्य संगठन के एक अन्य बोल्शेविक नेता) की देख-रेख में निकल रहा था। रैबिनोविच का मक़सद यहाँ यह दिखलाना है कि बोल्शेविक सैन्य संगठन में अलगाववाद और स्वायत्तता की प्रवृत्तियाँ थीं, जिन्हें बाद में केन्द्रीय कमेटी ने नियन्त्रित किया। यह सिद्ध करने के लिए कि इन दोनों मुखपत्रों में अन्तर था, रैबिनोविच इन दोनों मुखपत्रों में छपे कई लेखों का उदाहरण देते हैं। मज़ेदार बात यह है कि अगर हम इन लेखों की ही विषय-वस्तु और प्रस्तुति को देखें तो पाते हैं कि दोनों मुखपत्रों में शैली और विषय की प्रस्तुति के फ़र्क़ के अलावा और कोई फ़र्क़ नहीं था। अन्तर्वस्तु में कोई अन्तर नहीं था।

यदि शैली और प्रस्तुति में अन्तर था तो यह अन्तर होना लाज़िमी था क्योंकि *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* सैनिकों के लिए निकलता था और उसमें उसी शैली और अन्दाज़ में बातें रखी जाती थीं जिस अन्दाज़ में सैनिकों को सम्प्रेषित करने के लिए आवश्यक था। चूँकि दोनों मुखपत्रों को पढ़ने वाले पाठक वर्ग का दायरा अलग था, इसलिए कहीं-कहीं ज़ोर में कुछ फ़र्क़ था। लेकिन इस फ़र्क़ को यूँ पेश किया जाना कि सैनिकों के लिए निकलने वाले मुखपत्र में बोल्शेविक सैन्य संगठन अपनी स्वतन्त्रता की भावना और स्वायत्तता दिखलाते हुए केन्द्रीय कमेटी से अलग कोई कार्यदिशा पेश कर रहा था, तथ्यतः ग़लत है। मिसाल के तौर पर, *प्राव्दा* में लेनिन ने 21 जून के अंक में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए सशस्त्र विद्रोह का कोई भी अपरिपक्व प्रयास आगे भारी नुक़सान की ओर ले जा सकता है और इसके लिए इन्तज़ार करना होगा। लेनिन ने यह भी जोड़ा कि यह इन्तज़ार ज़्यादा लम्बा नहीं होगा। रैबिनोविच स्वयं कहते हैं : "इस समय से लेकर जुलाई के दिनों तक *प्राव्दा* की कार्यदिशा आम तौर पर लेनिन की अवस्थिति से मेल खाती थी।" (वही, पृ. 132) रैबिनोविच यह सूचना भी बिल्कुल दुरुस्त देते हैं कि बोल्शेविक पार्टी इस समय पेत्रोग्राद सोवियत में बहुमत जीतने और अन्य वर्गों और विशेषकर प्रान्तों में किसानों के बीच अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने के लिए मोहलत चाहती थी। लेनिन जानते थे कि इससे पहले सशस्त्र विद्रोह कामयाब हो भी गया तो बोल्शेविक सत्ता में बने नहीं रह पायेंगे और एक नये रूप में पेरिस कम्यून की कहानी दुहराई जायेगी।

लेकिन इसके आगे रैबिनोविच का ब्यौरा तथ्यात्मक ग़लतियों और मनमानीपूर्ण व्याख्याओं के गड्ढे में गिर गया है। मिसाल के तौर पर, पहले वे स्वीकार करते हैं कि 21 जून को *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में भी एक लेख छपा जिसमें कि असंगठित प्रदर्शन न करने की अपील की गयी है। लेकिन चूँकि इस घोषणा में निम्न बात भी जोड़ दी गयी इसलिए रैबिनोविच के अनुसार पूरी बात *प्राव्दा* में छपी बात से अलग हो गयी: "आवश्यकता पड़ने पर, सैन्य संगठन केन्द्रीय और पीटर्सबर्ग कमेटियों से सहमति लेकर एक प्रदर्शन का आह्वान करेगा।" पाठक स्वयं देख सकते हैं कि इस टिप्पणी से पूरी बात की अन्तर्वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। यह भूलना नहीं चाहिए कि *प्राव्दा* में भी लेनिन ने लिखा था कि निर्णायक घड़ी का इन्तज़ार बहुत लम्बा नहीं होगा। साथ ही यह भी याद

रखना होगा कि आबादी के जिस हिस्से में इस समय सबसे विस्फोटक स्थिति थी वह था सैनिकों का हिस्सा। सैनिकों के बीच निकलने वाला मुखपत्र यदि सीधे प्रदर्शनों को अनियतकालीन तौर पर रोक देने की बात करता तो निश्चित तौर पर बोल्शेविकों का प्रभाव आम सैनिक जनसमुदायों में घटता। ऐसा इसलिए भी होता क्योंकि इस आबादी में अपने प्रभाव को बरकरार रखने के लिए बोल्शेविकों को बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में अराजकतावादियों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही थी। ऐसे में, *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में शैली का इतना फ़र्क होना लाज़िमी था।

रैबिनोविच की दलील है कि जिस प्रकार *प्राव्दा* में स्पष्ट रूप में से कहा गया था कि क्रान्ति के अगले चरण में जाने से पहले "टटपुंजिया भ्रमों" के दौर पर विजय पानी होगी और बोल्शेविकों को अपनी बुनियादी कमज़ोरियों को दूर करना (यानी सोवियत में बहुमत प्राप्त करना और प्रान्तों में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना) होगा, उसी प्रकार *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में इस भाषा में कभी कुछ नहीं लिखा गया था; ज़्यादा से ज़्यादा *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* ने 23 जून को लिखा था, "सबसे पहले संगठन", लेकिन इसमें भी ज़्यादा ज़ोर अनियोजित और असंगठित प्रदर्शनों को रोकने पर था। ज़ाहिर है, रैबिनोविच एक अनुभववादी अकादमिक दृष्टिकोण से दोनों बेहद भिन्न प्रकार के मुखपत्रों में तुलना करने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में, अपनी पुस्तक में ही रैबिनोविच ने कुछ बोल्शेविक नेताओं को उद्धृत किया है जो यह कह रहे हैं कि सैनिक और सेना में काम करने वाले बोल्शेविक बहुत ही अलग और विशिष्ट परिस्थितियों में रहते हैं। यह बात आज के दौर में भी लागू होती है। सशस्त्र बलों और सेना में काम करने वाली आबादी के बीच राजनीतिक चेतना का स्तर और उनके मुद्दे बिल्कुल भिन्न होते हैं। रैबिनोविच ने *प्राव्दा* और *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में जो भी फ़र्क बताये हैं, वे सारे फ़र्क वही हैं जो कि दो भिन्न प्रकार के पाठक समुदाय को सम्बोधित करने वाले मुखपत्रों में होता है। आगे भी, रैबिनोविच कुछ इसी प्रकार के अन्य अन्तर बताते हैं जो कि किसी भी प्रकार से अन्तर्वस्तु का फ़र्क नहीं है, बल्कि शैली और प्रस्तुति का अन्तर है।

जुलाई के प्रदर्शन के बारे में रैबिनोविच विस्तृत ब्यौरा देते हैं। सही कहा जाये तो उनकी पुस्तक 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' विशेष तौर पर जुलाई की घटनाओं के बारे में ही है। जहाँ तक 20-21 जून से लेकर 6-7 जुलाई की घटनाओं के विवरण का प्रश्न है, रैबिनोविच लगभग हरेक घण्टे का विवरण देते हैं और अलग-अलग निकायों में, अलग-अलग जगहों पर और जनता के अलग-अलग हिस्सों में क्या हो रहा था, इसका विस्तृत चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि यह पूरा विवरण हरेक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी के लिए बेहद उपयोगी है। क्योंकि क्रान्तिकारी सिद्धान्तों पर गहरी पकड़ बनाने के साथ ही क्रान्तिकारी प्रक्रिया और वर्ग संघर्ष के विभिन्न रूपों में ठोस तौर पर घटित होने को समझना भी बेहद ज़रूरी है। इस मायने में रूसी क्रान्ति का पूरा घटनाक्रम और उसके साथ ही बोल्शेविक पार्टी द्वारा इस घटनाक्रम में किये गये हस्तक्षेपों के बारे में पढ़ना आज किसी भी अन्य क्रान्तिकारी घटना के ऐतिहासिक ब्यौरों से कुछ मायनों में ज़्यादा महत्वपूर्ण है। विशेष तौर पर, लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी द्वारा अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्दुओं की पहचान करने के कौशल का अध्ययन करना और उसे समझना आज बेहद

महत्वपूर्ण है। इसके लिए रैबिनोविच की यह पुस्तक और साथ ही इस श्रृंखला की उनकी अगली पुस्तक 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर', दोनों ही बेहद अहम हैं। इसके अलावा, जनता के विभिन्न वर्ग, विभिन्न तबके बोल्शेविक पार्टी के इन क्रान्तिकारी हस्तक्षेपों को किस प्रकार देख रहे थे और उन पर किस तरह से प्रतिक्रिया दे रहे थे, यह समझना भी बेहद आवश्यक है क्योंकि यह दिखलाता है कि कुशल से कुशल क्रान्तिकारी पार्टी भी जनसमुदायों की सभी प्रतिक्रियाओं को पहले से पूर्वानुमानित व नियन्त्रित नहीं कर सकती है। उसे लगातार इन प्रतिक्रियाओं को समझना होता है, उनके साथ अन्तर्क्रिया करनी होती है और सतत् जनदिशा लागू करके पार्टी की कार्यदिशा को सही तरीके से सूत्रबद्ध करना होता है। तभी वह बदलते समय और हालात के मुताबिक लचीलापन और दाँव-पेच की क्षमता अर्जित कर सकती है, जो कि पार्टी के लिए हमेशा ही ज़रूरी होती है, लेकिन एक क्रान्तिकारी परिस्थिति में अपरिहार्य हो जाती है, जबकि लेनिन के शब्दों में, सदियों में घटित होने वाली घटनाएँ दशकों में, वर्षों में, महीनों में या कई बार तो कुछ ही दिनों में घट जाती हैं। इन सारे पहलुओं को समझने के लिए भी रैबिनोविच का ब्यौरा काफ़ी उपयोगी है।

लेकिन इन ब्यौरों में भी, जो कि तथ्यों के मामले में काफ़ी समृद्ध हैं, रैबिनोविच वही विचारधारा-अन्धता प्रकट करते हैं, जिसका हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं। हालाँकि उनके विवरण उपयोगी हैं, लेकिन उनकी व्याख्याएँ अन्तर्दृष्टि की उस दृष्टिहीनता का ही प्रदर्शन करती हैं, जो कि सभी प्रत्यक्षवादी व अनुभववादी विवरणों व इतिहास-लेखन की खासियत होती है।

पहली बात जो कि जुलाई के घटनाक्रम के बारे में सबसे पहले एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी के तौर पर हमारा ध्यान खींचती है, वह यह कि रैबिनोविच किसी भी हथियारबन्द विद्रोह और एक सुनियोजित क्रान्तिकारी सशस्त्र विद्रोह या आम बगावत (insurrection) में कोई अन्तर नहीं करते हैं। जहाँ तक सशस्त्र विद्रोह की मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवधारणा का प्रश्न है वह कोई अनियोजित, स्वतःस्फूर्त और बेतरतीब हथियारबन्द बगावत नहीं होती। यह एक क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में वर्ग शक्तियों के सन्तुलन के बारीक अध्ययन और आकलन, सही समय और सही मौक़े के सटीक निर्धारण पर आधारित एक योजनाबद्ध कार्रवाई होती है जिसका एक निश्चित लक्ष्य होता है : बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस और क्रान्तिकारी सर्वहारा सत्ता की स्थापना। लेकिन इस बुनियादी अन्तर को न समझ पाने के कारण और साथ ही कुछ अलग-अलग बोल्शेविक सदस्यों की "वामपन्थी" कार्रवाइयों और गैरीसन में व्याप्त भयंकर असन्तोष के कारण 3-5 जुलाई की घटनाओं को एक सशस्त्र विद्रोह के प्रयास के तौर पर देखते हैं। हालाँकि, रैबिनोविच मानते हैं कि बोल्शेविक पार्टी का केन्द्रीय नेतृत्व इसे सशस्त्र विद्रोह नहीं मानता था और न ही उस समय सशस्त्र विद्रोह करने का उसका कोई इरादा था, लेकिन फिर भी कुछ बोल्शेविकों और यहाँ तक कि मेशेविकों के संस्मरणों और रिपोर्टाजों के आधार पर रैबिनोविच यह अटकल भी लगाते हैं कि लेनिन तथा सैन्य संगठन के नेतृत्व के कई लोगों ने सशस्त्र विद्रोह के विकल्प को पूरी तरह से छोड़ा नहीं था। हालाँकि इन अटकलों को वे सिद्ध नहीं कर पाते हैं। कई बार तो जुलाई की घटनाओं के बाद आरज़ी सरकार ने बोल्शेविकों के खिलाफ़ जो जाँच की और मुक़दमे चलाये, उनके आधार

पर भी रैबिनोविच ऐसे दावे करते प्रतीत होते हैं कि 3-5 जुलाई के दौरान बोल्शेविकों ने सत्ता पर कब्जा करने का विकल्प खुला रखा था। ज़ाहिर है, 5 जुलाई के बाद जब प्रतिक्रान्तिकारी ताकतें विजयी हो गयी थीं, तो आरज़ी सरकार का पहला लक्ष्य यही था कि बोल्शेविक नेताओं की गिरफ्तारियाँ की जायें, बोल्शेविक पार्टी का दमन किया जाये और उन्हें षड्यन्त्रकारी घोषित करके प्रतिबन्धित कर दिया जाये। ऐसे में, आरज़ी सरकार द्वारा की गयी जाँच और मुक़दमे को सही सूचना का आधार मानना ही एक बड़ी भूल होगी।

यदि हम रैबिनोविच के ही ब्यौरे को गौर से पढ़ें तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि पार्टी 2 जुलाई की देर रात तक जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का ही प्रयास कर रही थी, हालाँकि तृणमूल बोल्शेविक इकाइयों के आम सदस्यों व बोल्शेविकों के समर्थकों से ही प्रदर्शन आयोजित करने का पर्याप्त दबाव मौजूद था। केरेंस्की सरकार द्वारा गैलीशियन हमले की शुरुआत, तमाम रेजीमेण्टों को मोर्चे पर भेजने के निर्णय और प्रथम विश्वयुद्ध में रूसी सैनिकों के क़त्ले-आम के ख़िलाफ़ जो ज़बरदस्त असन्तोष था, उसे फटने से रोक पाना अब बहुत मुश्किल था। वास्तव में, बोल्शेविक पार्टी जून माह से ही कई बार गुस्से के ज्वालामुखी को फटने से रोक चुकी थी और जनता का सब्र अब जवाब दे रहा था। केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और साथ ही बोल्शेविक सैन्य संगठन तीनों ही जुलाई के प्रदर्शनों को रोकने के प्रयास में लगे हुए थे। इसमें कोई दो राय नहीं है कि इन तीनों ही निकायों में कुछ ऐसे नेता भी थे जिनका मानना था कि प्रदर्शन किया जाना चाहिए। लेकिन इस बात पर मोटे तौर पर सभी सहमत थे कि प्रदर्शन को अगर नहीं भी रोका जा सका, तो उसे शान्तिपूर्ण बनाये रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। लेनिन का स्पष्ट तौर पर मानना था कि अभी संकट पका नहीं है और जब तक बोल्शेविक सोवियतों में और साथ ही प्रान्तों में, विशेष तौर पर किसानों के बीच, अपनी स्थिति सुदृढ़ नहीं करते, तब तक वे पेत्रोग्राद में सत्ता पर काबिज़ हो भी गये तो वे सत्ता पर क्रायम नहीं रह पायेंगे। लेनिन की इस बात को अब इन तीनों ही निकायों, यानी कि केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और बोल्शेविक सैन्य संगठन के बहुमत ने स्वीकार कर लिया था, हालाँकि लेनिन को इसके लिए काफ़ी प्रयास करना पड़ा था। लेकिन जब 3 जुलाई को यह स्पष्ट हो गया कि अब प्रदर्शन फूट पड़ा है और उसे नहीं रोका जा सकता है, तो बोल्शेविक पार्टी उसमें शामिल हुई।

अगर हम छठी कांग्रेस में पेश राजनीतिक रिपोर्ट को पढ़ें तो साफ़ हो जाता है कि जब पार्टी का पीटर्सबर्ग नगर सम्मेलन जारी था उसी समय फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट ने प्रदर्शन की शुरुआत कर दी थी। यह प्रदर्शन सशस्त्र सैनिक कर रहे थे। तेज़ी से अन्य रेजीमेण्टों व गैरीसनों के सैनिक इसमें शामिल हो रहे थे। कारखानों के मज़दूर प्रतिनिधि इसी बीच पीटर्सबर्ग कमेटी के दफ़्तर पर पहुँचे और इस प्रदर्शन की कमान अपने हाथों में लेने के लिए पार्टी से अपील करने लगे क्योंकि अगर पार्टी ऐसा नहीं करती है तो भारी रक्तपात होगा और क्रान्ति को हानि होगी। इस समय पार्टी ने प्रदर्शन की कमान अपने हाथों में लेने का निर्णय किया। इस बीच एक और बात जो गौरतलब है वह यह कि पार्टी के नेतृत्व और ग्रासरूट धरातल के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं में सम्पर्क

सुचारू रूप से नहीं चल रहा था। ऊपर से सैनिकों का प्रदर्शन ठीक उन्हीं नारों के तले हो रहा था जो कि उस समय के बोल्शेविक नारे थे, विशेष तौर पर, "सारी सत्ता सोवियतों को"। इसने एक भ्रम की स्थिति भी पैदा कर रखी थी। कई आम बोल्शेविक भी इस नारे और तत्काल सशस्त्र विद्रोह के नारे के बीच अन्तर नहीं कर पा रहे थे। यह क्रान्ति की उस मंजिल के लिए दिया गया आम रणनीतिक नारा था, न कि एक 'एक्शन स्लोगन'। लेकिन इन विभ्रमों के कारण भी सारी चीजें पार्टी नेतृत्व के नियन्त्रण से बाहर थीं। नतीजतन, जब प्रदर्शन स्वतःस्फूर्त रूप से शुरू हो गये तो पार्टी ने उसकी कमान अपने हाथों में लेने का निर्णय किया, जैसा कि पहले से तय था। 4 जुलाई को लेनिन वापस आये। उन्होंने अपने बेहद संक्षिप्त भाषण में चौकसी और धैर्य बनाये रखने और उकसावे में न आने का आह्वान किया। वे जानते थे कि अब प्रदर्शन को रोका नहीं जा सकता है, इसलिए इसे अधिकतम सम्भव संगठित और शान्तिपूर्ण स्वरूप देना होगा। लेनिन के लिए यह क्रान्ति को बचाने के लिए अपरिहार्य था। प्रदर्शनों को न रोक पाने का एक कारण अराजकतावादी-कम्युनिस्टों का गैरीसन व सैनिकों के बीच प्रभाव भी था।

इसलिए अब बोल्शेविकों के पास एक ही विकल्प था: प्रदर्शन को संगठित और शान्तिपूर्ण बनाये रखना और उचित अवसर आते ही कम-से-कम नुकसान के साथ क्रम पीछे हटाना। इसमें समूची बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व एकजुट होकर काम कर रहा था। जैसा कि लेनिन ने अपने लेख 'एक जवाब' में लिखा है, अगर बोल्शेविकों का मकसद 3-5 जुलाई के बीच सत्ता पर कब्जा करना होता तो ऐसा करने से उन्हें कोई ताकत रोक नहीं सकती थी क्योंकि इन दिनों पेत्रोग्राद एक प्रकार से बोल्शेविक समर्थक बलों के ही कब्जे में था। बोल्शेविकों का मकसद था इस प्रदर्शन को एक अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह बनने से रोकना और इसमें अन्ततः वे सफल रहे, हालाँकि तात्कालिक तौर पर उन्हें काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा, कई बोल्शेविक संगठनकर्ता मारे गये, जेल गये; *प्राव्दा* प्रतिबन्धित हो गया, पार्टी दफ़्तरों पर छापे पड़े, त्रात्स्की व कामेनेव गिरफ़्तार हो गये, लेनिन और जिनोवियेव को भूमिगत होना पड़ा। तात्कालिक तौर पर, लेनिन व बोल्शेविकों के जर्मन एजेण्ट होने की अफवाह के आधार पर एक प्रतिक्रान्तिकारी लहर भी हावी हो गयी। इस पूरी प्रक्रिया का विवरण भी रैबिनोविच ने विस्तार से दिया है। लेकिन यहाँ भी दिक्कत उनकी व्याख्या के साथ है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच कुछ आम बोल्शेविकों व ग्रासरूस सैनिक नेताओं की अनुशासनहीनता को और जनदबाव में प्रदर्शन की तैयारियों में शामिल होने को बोल्शेविक पार्टी के 'विभाजित पार्टी' होने के प्रमाण के तौर पर पेश करते हैं। इससे यह क्रतई नहीं साबित होता कि बोल्शेविक पार्टी कई (रैबिनोविच के अनुसार, तीन) सत्ता केन्द्रों वाली एक विभाजित पार्टी थी जिसमें सभी सत्ता केन्द्रों के "अलग-अलग लक्ष्य और हित" थे। इससे केवल यह साबित होता है कि 3-5 जुलाई जैसे अपवादस्वरूप दौरों में तृणमूल धरातल पर काम करने वाले कुछ आम पार्टी सदस्य स्वतःस्फूर्त जन लहर के प्रभाव में आ सकते हैं। लेकिन यह भी सच है कि पार्टी के नेतृत्व द्वारा नियन्त्रित किये जाने पर वे पार्टी अनुशासन को बहाल भी करते हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो 3 व 4 जुलाई को आर.जी सरकार का तख़्ता पलट करने के प्रयास हुए होते।

यह भी सही है कि केन्द्रीय कमेटी व अन्य नगर कमेटियों, प्रान्तीय कमेटियों आदि के निर्णयों व चिन्तन में एक अन्तर मौजूद होता है क्योंकि ये अलग-अलग कमेटियाँ लगातार अलग-अलग क्रिस्म के सवालों और स्थितियों से रूबरू हो रही होती हैं। ऐसे में, इन निम्नतर कमेटियों का या सैन्य संगठन का कई सवालों पर केन्द्रीय कमेटी के फैसलों से मतभेद होना भी लाजिमी है। लेकिन अन्त में निर्णायक तथ्य यह होगा कि केन्द्रीय कमेटी के बहुमत के अन्तिम निर्णयों को असहमति रखने के बावजूद ये निकाय लागू करते हैं या नहीं। जून से लेकर जुलाई तक के घटनाक्रम में हमें इन विभिन्न पार्टी निकायों के बीच सतत् बहस के बहुत से उदाहरण मिलते हैं और इन बहसों को 1953-56 के पहले के सोवियत स्रोतों में छिपाया भी नहीं गया है, जैसा कि रैबिनोविच दावा करते हैं।

बुर्जुआ व मेशेविक स्रोतों के प्रति रैबिनोविच का रख सहज विश्वास का है। जहाँ कहीं बोल्शेविक स्रोतों की बात आती है, वहाँ वे व्यक्तिगत संस्मरणों से निकाले गये उद्धरणों के आधार पर कोई अन्तरविरोध तलाशने में लग जाते हैं। और व्यक्तिगत संस्मरणों के आधार पर अन्तरविरोध निकालना बेहद आसान है, जैसा कि कोई भी इतिहासकार या इतिहास का छात्र जानता है। लेकिन रैबिनोविच जब त्सेरेतली या सुखानोव जैसे मेशेविकों के इतिहास, संस्मरण या रिपोर्टाज को उद्धृत करते हैं, या त्रात्स्की के बाद के लेखन जैसे कि *हिस्ट्री ऑफ़ दि रशियन रिवोल्यूशन* और *स्तालिनस स्कूल ऑफ़ फ़ॉलिसफ़िकेशन* जैसी पुस्तकों को उद्धृत करते हैं, तो उन्हें आकाशवाणी के समान सत्य माना जाता है।

यहाँ तक तो हम रैबिनोविच के उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रहों को ही देखते हैं, लेकिन जब वे **रिचर्ड पाइप्स** जैसे अमेरिकी साम्राज्यवादी सत्ता के एजेण्ट के इतिहास-लेखन को भरोसेमन्द स्रोत के तौर पर देखते हैं, तो वाकई आश्चर्य होता है। मिसाल के तौर पर, 1917 की जुलाई में ही आरजी सरकार के समक्ष पैदा हुए यूक्रेन संकट के विषय में वे पूरी तरह से रिचर्ड पाइप्स और त्सेरेतली के लेखन पर निर्भर करते हैं। न सिर्फ़ जानकारी के मामले में, बल्कि रिचर्ड पाइप्स के मूल्य-आधारित निर्णयों को भी रैबिनोविच ने अनालोचनात्मक तौर पर लिया है। मिसाल के लिए पाइप्स के इस प्रेक्षण को रैबिनोविच अनुमोदन के साथ उद्धृत करते हैं : *"यह रवैया नैतिक और संवैधानिक दृष्टिकोण से तो सही था, मगर राजनीतिक व्यवहार के नज़रिये से यह घातक सिद्ध हुआ।"* (वही, पृ. 141) यहाँ बता दें कि पाइप्स राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के प्रति आरजी सरकार के रवैये की बात कर रहे हैं; दमित राष्ट्रीयताएँ फ़रवरी क्रान्ति के बाद तत्काल राष्ट्रीय मुक्ति व स्वायत्तता की माँग कर रही थीं, जबकि आरजी सरकार उन्हें संविधान सभा के बुलाये जाने तक टाल रही थी, ठीक उसी प्रकार जैसे कि भूमि प्रश्न के समाधान को मेशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी और साथ ही आरजी सरकार भी संविधान सभा बुलाये जाने तक टाल रहे थे और किसानों द्वारा भूमि कब्जे का विरोध कर रहे थे। पाइप्स आरजी सरकार के रवैये को नैतिक तौर पर सही मानते हैं। यह एक क्लासिकीय बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है जो कि परिवर्तन को वैधिकता (legality) का परिणाम मानता है और जनविरोधी है; प्रगतिशील दृष्टिकोण हमेशा क्रान्ति को वैधिकता के

ऊपर वरीयता देता है। अगर यह दृष्टिकोण नैतिक तौर पर सही है तो फ्रांसीसी बुर्जुआ क्रान्ति को भी इन बुर्जुआ इतिहासकारों को गलत ठहराना चाहिए क्योंकि उस क्रान्ति ने भी वैधिकता की परवाह नहीं की थी। रैडिकल परिवर्तन, रूपान्तरण और क्रान्तियाँ हमेशा गैर-क्रान्ती ही हुआ करती हैं। क्रान्तिकारी व प्रगतिशील नैतिकता के अनुसार वे नैतिक होती हैं, हालाँकि पाइप्स जैसे असुधारणीय कम्युनिस्ट-विरोधियों और साथ ही प्रतिक्रियावादियों के लिए वे अनैतिक और असंवैधानिक होती हैं। इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण को भी रैबिनोविच अनालोचनात्मक तौर पर लेते हैं।

इसके बाद रैबिनोविच 3 जुलाई को ज़मीनी स्तर पर चल रही कार्रवाइयों का एक ब्यौरा देते हैं जिसमें वे दिखलाते हैं कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के कई सैनिक सदस्य इस समय तत्काल सशस्त्र विद्रोह और सरकार को गिराने के लिए छटपटा रहे थे और उनके भाषणों और अराजकतावादियों के भाषणों में कोई ज़्यादा अन्तर नहीं था। सेमाशको, गोलोविन आदि जैसे बोल्शेविक स्वयं गैरीसनों का समर्थन जीतने, क्रॉस्टाट का समर्थन लेने के लिए ज़िम्मेदारियाँ ले रहे थे। फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट के सैनिकों ने बोल्शेविक काडर व अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की पहल पर एक आरज़ी क्रान्तिकारी समिति भी बनायी जिसकी अगुवाई बोल्शेविक सेमाशको कर रहे थे। इस समिति को रैबिनोविच एक प्रकार से सशस्त्र विद्रोह के संचालन की ज़िम्मेदारी सम्भालने वाली समिति के तौर पर पेश करते हैं। लेकिन आगे बताया जाता है कि 4 जुलाई को यह समिति स्वयं अपने नेतृत्व को बोल्शेविक केन्द्रीय कमेटी व पीटर्सबर्ग कमेटी को सौंप देती है! अगर इस समिति को सशस्त्र विद्रोह ही करना था, तो इसने स्वेच्छा से अपना नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व को क्यों सौंप दिया जो कि प्रदर्शन को संगठित, शान्तिपूर्ण और अनुशासित रखने की बात कर रहा था और कह रहा था कि फ़िलहाल हमें सोवियत कांग्रेस के समक्ष अपनी मांगों को ज़ोरदार तरीके से रखने को ही लक्ष्य बनाना चाहिए? इस सवाल का जवाब देना रैबिनोविच आवश्यक नहीं समझते हैं।

यह सिद्ध करने के लिए कि बोल्शेविक तृणमूल संगठनकर्ताओं ने आरज़ी सरकार के विरुद्ध तख्तापलट की पूरी योजना बना ली थी, रैबिनोविच किस स्रोत पर निर्भर करते हैं, यह जानकर आपको ताज्जुब होगा। वे आरज़ी सरकार द्वारा 3-5 जुलाई के बाद बोल्शेविकों के खिलाफ़ बिठायी गयी जाँच समिति की रिपोर्ट और उसमें पेश की गयी गवाहियों और प्रमाणों को अपना स्रोत बनाते हैं! यह ताज्जुब की बात इसलिए है कि बोल्शेविक क्रान्ति के विषय में हुए इतिहास-लेखन में अधिकांश बेहतर इतिहासकारों की इस बात पर सहमति है कि जुलाई की घटनाओं के बाद सोवियतें दक्षिणपन्थी अवस्थिति पर चली गयीं और पूरी तरह आरज़ी सरकार के साथ खड़ी हो गयीं थीं, और साथ ही बुर्जुआ सत्ता सुदृढ़ हो गयी थी; इसके सुदृढ़ होते ही मॅशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने बोल्शेविकों के दमन को अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने बोल्शेविकों और लेनिन के जर्मन एजेण्ट होने का आरोप लगाने, मोर्चे पर हो रही हार के लिए बोल्शेविकों को दोषी ठहराने, सोवियत सत्ता के विरुद्ध षड्यन्त्र करने से लेकर चरित्र-हनन तक, हर प्रकार की

चाल का सहारा लिया; जाँच करवाना तो सिर्फ़ एक बहाना था, जाँच के नतीजे तय थे और इसका मक़सद था जनता का बोल्शेविकों में भरोसा और जनता के समर्थन को तोड़ देना। ऐसी जाँच में पेश गवाहियों के आधार पर रैबिनोविच यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी इस समय खण्ड-खण्ड में विभाजित थी, उसके अलग-अलग खण्ड अलग-अलग हितों और लक्ष्यों के साथ काम कर रहे थे, और इनमें से कई 3-5 जुलाई के बीच सशस्त्र विद्रोह करने के प्रयासों में ही लगे हुए थे। लेकिन रैबिनोविच का अपना ब्यौरा ही इसे ग़लत साबित कर देता है।

हमारे पास आज इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि सैन्य संगठन के नेता पोदवॉइस्की व नेव्स्की लगातार सशस्त्र विद्रोह को रोकने के प्रयासों में लगे हुए थे; वे लगातार तमाम गैरीसनों व रेजीमेण्टों में संगठनकर्ताओं को भेज रहे थे ताकि सैनिकों को प्रदर्शन में भाग लेने से रोका जा सके। यह ज़रूर है कि बहुत से गैरीसनों व रेजीमेण्टों में ये अपीलें सुनीं नहीं जा रही थीं और कई जगह तो ऐसा माहौल था कि ये संगठनकर्ता कुछ बोलने की हिम्मत भी नहीं कर पाये; पीटर्सबर्ग कमेटी के टॉम्सकी ने बोल्शेविक पार्टी के पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन में केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को पढ़कर सुनाया जिसमें यह कहा गया था कि प्रदर्शनों को रोकने का प्रयास किया जाना चाहिए। यह सच है कि टॉम्स्की ने इसके अन्त में यह जोड़ दिया कि हम इस आग को बुझा नहीं पायेंगे क्योंकि हमने यह आग जलाई नहीं है। लेकिन साथ में टॉम्स्की ने यह भी कहा कि हमें केन्द्रीय कमेटी के निर्णय को किसी भी तरह लागू करना होगा। चूँकि पीटर्सबर्ग कमेटी और सैन्य संगठन ज़मीनी स्तर पर हो रहे परिवर्तनों के ज़्यादा करीब थे, इसलिए वे केन्द्रीय कमेटी के मुक़ाबले ज़्यादा बेहतर तरीक़े से यह समझ पा रहे थे कि इन प्रदर्शनों का एक अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह में परिवर्तित होना ख़तरनाक होगा, लेकिन वे यह भी समझ रहे थे कि अब इन प्रदर्शनों को रोक पाना मुश्किल होगा। इसलिए पार्टी को इसमें शामिल होकर इसे नेतृत्व देना चाहिए और इसे अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह में तब्दील होने से रोकना चाहिए। रैबिनोविच यह भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि प्रदर्शनों को न रोके जा सकने की सूरत में इसमें शामिल होने की कार्यदिशा केन्द्रीय कमेटी की नहीं थी और वह उसके खिलाफ़ थी। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि ऐसा नहीं है। स्वयं लेनिन और स्तालिन के तत्कालीन लेखन को देखने से साफ़ हो जाता है कि केन्द्रीय कमेटी इस विचार पर सहमत थी, भले ही यह विचार मूलतः पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा पेश किया गया हो।

आगे रैबिनोविच लिखते हैं :

"सोवियत इतिहासकार जुलाई "प्रदर्शनों" को एक शान्तिपूर्ण विरोध आन्दोलन के रूप में पेश करते हैं, जो कि सोवियतों को सत्ता के हस्तान्तरण के लिए संघर्ष के "शान्तिपूर्ण दौर" की अन्तिम घटना थी। लेकिन ग़ौरतलब है कि 3 जुलाई की जनसभाओं पर स्रोत सामग्री दिखलाती है कि जुलाई आन्दोलन का प्रतीतिगत लक्ष्य, जिस रूप में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और फ़र्स्ट मशीलगन रेजीमेण्ट ने उसे सूत्रबद्ध किया था, आरज़ी सरकार को सशस्त्र शक्ति द्वारा उखाड़ फेंकना था।" (वही, पृ 152)

जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं कि लेनिन और स्तालिन के लेखन में कहीं यह नहीं

लिखा गया है कि जुलाई का प्रदर्शन शान्तिपूर्ण प्रदर्शन था; हम यह भी दिखला चुके हैं कि बुर्जुआ इतिहासकारों के लिए सबसे सन्देशास्पद स्रोत, यानी 'बोलशेविक पार्टी का इतिहास' में भी यह कहीं नहीं लिखा है कि ये प्रदर्शन शान्तिपूर्ण थे; यहाँ तक कि त्रात्स्की के लेखन में भी इसे शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं माना गया है। त्रात्स्की ने तो अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के प्रभाव की भी बात की है। ऐसे में, रैबिनोविच के सोवियत स्रोतों का अर्थ केवल एक ही रह जाता है : संशोधनवादी दौर की इतिहास की पुस्तकें, जब सामाजिक फ़ासीवादी सत्ता की यह आवश्यकता थी कि बोलशेविक पार्टी की एक एकाशमी छवि पेश की जाये क्योंकि जनता से एक ऐसी एकाशमी पार्टी के प्रति ही अनालोचनात्मक एकनिष्ठा की माँग की जा सकती है! लेकिन रैबिनोविच यह दिखलाने में असफल रहते हैं कि स्वयं बोलशेविक नेताओं के लेखन में, त्रात्स्की के लेखन में, पार्टी के आधिकारिक इतिहास लेखन में और 1953 से पहले के सोवियत इतिहासकारों के लेखन में कहाँ इस प्रदर्शन को शान्तिपूर्ण कहा गया है। उल्टा उस दौर के जिन एक-दो इतिहासकारों को, जैसे कि स्तुलोव को, वे उद्धृत करते हैं, उन्होंने इस प्रदर्शन के दौरान हुई हिंसा का जिक्र किया है। इस हिंसा के आधार पर ही रैबिनोविच इसे सशस्त्र विद्रोह (insurrection) की संज्ञा दे देते हैं। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, रैबिनोविच सशस्त्र विद्रोह के अर्थ को नहीं समझते और उसे बेपरवाह तरीके से इस्तेमाल करते हैं। यह उनके इस उद्धरण से ही पता चल जाता है :

*"वास्तव में, जुलाई सशस्त्र विद्रोह की शुरुआत का अध्ययन करते हुए आपको ऐसा प्रतीत होता है कि जिन अराजकतावादियों और अर्द्ध-अराजकतावादियों ने इसका शुरुआत की थी, विशेष तौर पर वे जो कि गैरीसन में थे, स्वयं उनके दिमाग में ही इन प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर मौजूद नहीं थे।" (वही, पृ. 152)*

ये प्रश्न थे कि आरज़ी सरकार को उखाड़कर कैसे फेंका जायेगा और उसकी जगह क्या लाया जायेगा? सत्ता बोलशेविकों को दी जायेगी या फिर सोवियतों को? यानी इन प्रश्नों का रैबिनोविच के "सशस्त्र विद्रोहियों" के पास कोई जवाब नहीं था! लेकिन फिर भी यह सशस्त्र विद्रोह (insurrection) था! इसी से पता चल जाता है कि रैबिनोविच ने यहाँ सारी चीज़ें गड्ड-मड्ड कर दी हैं। मिसाल के तौर पर, आगे रैबिनोविच लिखते हैं कि इस "सशस्त्र विद्रोह" के विस्तार का कारण यह था कि तमाम सैन्य रेजीमेण्टों व गैरीसनों में सैनिकों के ढेर सारे तात्कालिक असन्तोष व शिकायतें इकट्ठा हो गयीं थीं। इनमें मोर्चे पर स्थानान्तरण किया जाना प्रमुख कारण था। इस प्रकार रैबिनोविच खुद मानते हैं कि स्वतःस्फूर्त उभार का कारण आम तौर पर तात्कालिक शिकायतें और असन्तोष था। यह भी किसी सशस्त्र विद्रोह का विवरण नहीं बल्कि असन्तोष और गुस्से के एक स्वतःस्फूर्त विस्फोट का विवरण ज़्यादा लगता है।

## पीटर्सबर्ग कमेटी और केन्द्रीय कमेटी को अन्तरविरोधी दिखाने के रैबिनोविच के प्रयास

पीटर्सबर्ग कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के बीच एक खाई दिखाने का प्रयास करने का कोई

भी अवसर रैबिनोविच छोड़ते नहीं हैं। पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी के दूसरे नगर सम्मेलन का जिक्र करते हुए रैबिनोविच बताते हैं कि एक जुलाई को इस सम्मेलन का आरम्भ हुआ और उस समय सम्मेलन इस बात पर चर्चा कर रहा था कि लेनिन द्वारा पीटर्सबर्ग कमेटी के अलग मुखपत्र निकालने की राय को माना जाये या उसे रद्द कर दिया जाये। केवल शब्दों के थोड़े से हेर-फेर से पूरा अर्थ बदला जा सकता है। यह सच है कि पीटर्सबर्ग कमेटी अपना एक अलग मुखपत्र चाहती थी क्योंकि उसे लगता था कि उसकी राजनीतिक उद्वेलनात्मक आवश्यकताओं को प्राप्ति पूरा नहीं कर पाता है। लेकिन अन्ततः इस कमेटी ने लेनिन व केन्द्रीय कमेटी के निर्देश का ही पालन किया। इसके बदले में केन्द्रीय कमेटी ने यह तय किया था कि मुखपत्रों के सम्पादक मण्डल में पीटर्सबर्ग कमेटी के प्रतिनिधि को परामर्शदाता की स्थिति में शामिल किया जाये। लेकिन रैबिनोविच पूरी पुस्तक में यह ब्यौरा कहीं नहीं देते। पीटर्सबर्ग कमेटी को इतना स्वायत्त दिखाने का प्रयास किया गया है कि वह किसी पार्टी सम्मेलन या पार्टी कांग्रेस के मंच पर बहस करने और अपने प्रस्ताव पर बहुमत प्राप्त करने के पहले ही केन्द्रीय कमेटी के किसी निर्देश की अवहेलना करने के बारे में विचार कर रही थी। इस स्वायत्तता की छवि को और बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने के लिए रैबिनोविच लिखते हैं कि *"कई सदस्य एक अलग मुखपत्र की स्थापना को ज्यादा रूढ़िवादी केन्द्रीय कमेटी की शक्ति की क्रीम पर पीटर्सबर्ग कमेटी की शक्ति और लचीलेपन को बढ़ाने के एक जरिये के तौर पर देखते थे।"* (वही, पृ. 155) इसमें कोई दो राय नहीं है कि इस प्रश्न पर लेनिन और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच बहस चली थी, लेकिन इस बहस की चर्चा करना एक अलग बात है और केन्द्रीय कमेटी के निर्णय की अवहेलना करने की बात करना एक अलग बात है। एक संगठन के भीतर जीवन्त बहस-मुबाहसे की बात करना है और दूसरा है सांगठनिक अनुशासन की बात करना। रैबिनोविच जाने-अनजाने दोनों बातों में अक्सर कोई फ़र्क नहीं करते और इस फ़र्क को सामने न रखा जाये, जो कि जनवादी केन्द्रीयता के लेनिनवादी उसूलों का सार है, तो फिर दो कार्यदिशाओं के बीच के संघर्ष को भी 'विभाजित पार्टी' की छवि पेश करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। और रैबिनोविच अक्सर ऐसा ही करते हैं।

नगर सम्मेलन के बारे में ही बात करते हुए रैबिनोविच कहते हैं कि इसमें फिर से 20 जून को पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा तय की गयी कार्यदिशा पर मुहर लगायी गयी, जिसके अनुसार यदि प्रदर्शनों को रोका न जा सका तो पार्टी उसके नेतृत्व को अपने हाथ में लेने में हिचकिचायेगी नहीं। रैबिनोविच का दावा है कि यह कार्यदिशा केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा से अलग थी। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि स्वयं लेनिन व स्तालिन के तत्कालीन लेखों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि केन्द्रीय कमेटी इस कार्यदिशा से सहमत थी।

केन्द्रीय कमेटी के भीतर भी उस समय जो संघर्ष चल रहा था, रैबिनोविच अपने दृष्टिकोण और व्याख्या की पुष्टि के लिए उसका एक चयनबद्ध ब्यौरा देते हैं। लेकिन अगर उस ब्यौरा को ही पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्रीय कमेटी का क्या निर्णय था। रैबिनोविच 3 जुलाई को तौरीदा महल में केन्द्रीय कमेटी की जारी बैठक का हवाला देते हैं और बताते हैं कि इस बैठक में प्रदर्शन को रोकने

का प्रयास करने का निर्देश पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन को भिजवाया गया। लेकिन साथ में वे जोड़ते हैं, "यह सन्देह के दायरे में है कि इस सावधानीपूर्ण रणनीति को सर्वसम्मति से समर्थन मिला। जैसी परिस्थितियाँ थीं, उसमें कम-से-कम स्मिल्गा ने इस पर ज़रूर आपत्ति की होगी। चाहे जो भी हो, केन्द्रीय कमेटी ने दो दिनों में दूसरी बार किसी प्रदर्शन में हिस्सेदारी करने के विरोध में वोट किया..." (वही, पृ 157, जोर हमारा) हम देख सकते हैं कि स्मिल्गा द्वारा आपत्ति की रैबिनोविच ने अटकल लगायी है। इसका स्रोत क्या है? यदि आप पश्चटिप्पणी को देखें तो रैबिनोविच इस अटकल का स्रोत स्तालिनकालीन इतिहास लेखन को बताते हैं, जिसमें स्मिल्गा को लाटसिस के साथ इस बात का हामी बताया गया था कि वह सशस्त्र विद्रोह के लिए फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट पर निर्भर रहने की लाइन को मानते थे। यानी, जो स्रोत आम तौर पर रैबिनोविच के लिए प्रोपगैण्डा लेखन है, वह अचानक विश्वसनीय बन जाता है। क्यों? क्योंकि रैबिनोविच इस बात को कैसे स्वीकार करें कि केन्द्रीय कमेटी ने कभी सर्वसम्मति से कोई निर्णय लिया होगा या फिर किसी अन्य कमेटी ने उस निर्णय की अवहेलना नहीं की? अगर रैबिनोविच ऐसा मानते हैं, तो 'विभाजित पार्टी' का उनका उदार बुर्जुआ मॉडल ढह जाता है। इसलिए जहाँ कहीं रैबिनोविच को कोई भी प्रमाण नहीं मिलता वहाँ वे अपनी सुविधा के अनुसार अटकलबाज़ी के विकल्प को अपनाते हैं।

यहीं आगे रैबिनोविच टॉम्स्की के भाषण को उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि अन्ततः पीटर्सबर्ग कमेटी ने 3 जुलाई को केन्द्रीय कमेटी द्वारा भेजे गये निर्देश को स्वीकार तो किया लेकिन केवल औपचारिक तौर पर। हम इस बात का ऊपर खण्डन कर चुके हैं। इस सम्मेलन द्वारा केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों की उपेक्षा के दावे के बाद अन्त में रैबिनोविच चलते-चलते स्वीकार कर लेते हैं कि इस सम्मेलन ने अन्ततः केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा का ही अनुमोदन किया। रैबिनोविच लिखते हैं :

"राखिया ने अधैर्य के साथ टिप्पणी की कि सम्मेलन पेरिस कम्यून के समान दिख रहा है जो कि शत्रुतापूर्ण शक्तियों से घिरे होने के बावजूद केवल बात ही कर रहा है। उन्होंने सुझाव दिया कि केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों को स्वीकार करते हुए पीटर्सबर्ग कमेटी को केन्द्रीय कमेटी के साथ कारखाना प्रतिनिधियों व सैन्य प्रतिनिधियों की बैठक का इन्तज़ाम करना चाहिए, ताकि परिवर्तित होती स्थिति का सही आकलन बनाया जा सके...बैठक जब अन्त की ओर बढ़ रही थी, तो कैक्टिन, ओग्रेत्सा और सालना ने विद्रोही रेजीमेण्टों का समर्थन करने का प्रस्ताव रखा जो कि पराजित हो गया। उल्टे इस बात पर सहमति बनी कि (सोवियत की) केन्द्रीय कार्यकारी समिति को एक प्रतिनिधि मण्डल द्वारा अल्टीमेटम भेजा जाये कि अभी सत्ता अपने हाथ में लें, अथवा एक सशस्त्र जनउभार के लिए तैयार हो जायें। इसी के साथ सम्मेलन समाप्त हो गया।" (वही, पृ. 159)

एक बात इस उद्धरण से ही स्पष्ट है कि सम्मेलन किसी भी रूप में विद्रोह करने वाली रेजीमेण्टों के साथ नहीं था हालाँकि उसे यह ज़रूर लग रहा था कि केन्द्रीय कमेटी निर्णय लेने में देरी कर रही है। साथ ही वह सोवियत पर सत्ता अपने हाथों में लेने का दबाव डालने के लिए इस जनउभार के भय का इस्तेमाल करने को लेकर सहमत था। ऐसे में, यह किस प्रकार साबित हुआ कि पीटर्सबर्ग

कमेटी या उसका द्वितीय नगर सम्मेलन केन्द्रीय कमेटी के निर्णय से सहमत नहीं था या उसकी अवहेलना कर रहा था? पाठक को इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता मगर फिर भी उससे उम्मीद की जाती है कि रैबिनोविच के 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त को वह स्वीकार कर ले।

## अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों द्वारा शुरू किया गया सशस्त्र विद्रोह?

हम ऊपर देख चुके हैं कि 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों को रैबिनोविच अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों द्वारा, विशेषकर जो गैरीसनों में थे, शुरू किया गया सशस्त्र विद्रोह मानते हैं। लेकिन कुछ ही पृष्ठ बाद वे 3 जुलाई की शाम का पूरा ब्यौरा देते हैं, जिसमें कि बोल्शेविक संगठनकर्ता गैरीसनों से प्रदर्शन के लिए सैनिकों और कारखानों से निकले मजदूरों को बोल्शेविक मुख्यालय की तरफ लाते हैं और सारे प्रदर्शनकारी क्शेसिंस्काया महल के बाहर एकत्र होने लगते हैं, जहाँ कि बोल्शेविक मुख्यालय स्थित था। अब प्रश्न यह उठता है कि अगर यह अराजकतावादियों व अराजकतावादी-कम्युनिस्टों द्वारा शुरू किया गया सशस्त्र विद्रोह (insurrection) था तो इन सशस्त्र विद्रोहियों ने सीधे सरकारी इमारतों, संस्थानों, रेलवे स्टेशनों, टेलीग्राफ कार्यालयों पर कब्जा क्यों नहीं किया? दूसरी बात, अगर बोल्शेविक पार्टी सशस्त्र विद्रोह के विकल्प को एक खुला विकल्प मानती थी तो उसने प्रदर्शन का नेतृत्व अपने हाथ में आते ही ये सारे काम क्यों नहीं किये? ऐसी खतरनाक और फ़ैसलाकुन घड़ी में लाखों सशस्त्र प्रदर्शनकारियों को सड़क पर लेकर बोल्शेविक नेतृत्व क्या कर रहा था? उस समय के अखबारी स्रोत तक मानते हैं कि उस दिन यदि बोल्शेविक सत्ता पर कब्जा करना चाहते तो यह उनके लिए ज्यादा मुश्किल नहीं होता। तो फिर बोल्शेविकों ने ऐसा क्यों नहीं किया? लेनिन ने हूबहू यही प्रश्न अपने लेख 'एक जवाब' में आरजी सरकार के षड्यन्त्रकारियों से पूछा था। और यही प्रश्न रैबिनोविच जैसे इतिहासकारों से भी पूछा जा सकता है। रैबिनोविच का दावा है कि केन्द्रीय कमेटी का बहुमत चाहे जो चाहता हो लेकिन पीटर्सबर्ग कमेटी और सैन्य संगठन में विद्रोह का विचार पनप रहा था और ज्यादा प्रभावी था। ऐसे में भी यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों निकायों के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं ने सत्ता पर कब्जे का आह्वान क्यों नहीं किया? केन्द्रीय कमेटी की तो वे सुन नहीं रहे थे, बकौल रैबिनोविच। और प्रदर्शन का सीधा नेतृत्व भी तमाम अतिवादी बोल्शेविक नेताओं जैसे कि सेमाशको, गोलोविन आदि के हाथों में था। तो फिर उन्हें किस चीज ने सशस्त्र विद्रोह करने और सत्ता पर कब्जा करने से रोका?

3 जुलाई की देर रात का ब्यौरा देते हुए रैबिनोविच बताते हैं कि पेत्रोग्राद सोवियत के मुख्यालय तौरीदा महल के बाहर हजारों सैनिकों व मजदूरों ने डेरा डाल दिया था। वे अपने नेताओं के भाषण सुन रहे थे, जिनमें से अधिकांश यह कह रहे थे कि अब समय आ गया है कि सोवियत बुर्जुआ वर्ग की आरजी सरकार से सत्ता अपने हाथों में ले ले। इन भाषण देने वालों में जिनोवियेव और त्रात्स्की भी शामिल थे। यहाँ पर रैबिनोविच स्वयं स्वीकार करते हैं, "सभी समाजवादी नेताओं

के लिए सौभाग्य की बात थी कि फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट और अराजकतावादी-कम्युनिस्ट अब मज़दूरों और सैनिकों को नियन्त्रित नहीं कर रहे थे," लेकिन आगे रैबिनोविच यह भी जोड़ देते हैं, "और बोलशेविकों को अभी आपस में इस प्रश्न पर सहमति बनानी थी कि वे एक प्रदर्शन के साक्षी बन रहे हैं या फिर क्रान्ति के।" (वही, पृ. 172) लेकिन इसके बाद रैबिनोविच यह भी कहते हैं कि जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा था, सैनिक बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर टहलने लगे, लोग थकावट महसूस करने लगे, वगैरह। लेकिन आपके दिमाग में तुरन्त ही यह प्रश्न आता है कि पिछले 170 पृष्ठों में रैबिनोविच आपको यह क्यों यकीन दिलाते हैं कि प्रदर्शनकारी स्वतःस्फूर्त रूप से विद्रोह करना चाहते थे; अराजकतावादी और अराजकतावादी-कम्युनिस्ट भी यही चाहते थे और बोलशेविक फैसला नहीं कर पा रहे थे? क्योंकि अगर ऐसा ही था तो 3 जुलाई की रात को कौन-सी चीज़ इन हजारों-लाखों सैनिकों और मज़दूरों को रोके हुए थी? उन्होंने तत्काल आरज़ी सरकार का तख़्तापलट क्यों नहीं कर दिया? ये सारे सवाल अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

इन प्रश्नों का उत्तर आपको रैबिनोविच की पुस्तक में नहीं मिलेगा। इसका उत्तर आपको वास्तविक बोलशेविक स्रोतों में मिलेगा। इसका उत्तर यह है कि यह बोलशेविक पार्टी का अनुशासन था जिसने 3 से 5 जुलाई के बीच बोलशेविक संगठनकर्ताओं को इस प्रदर्शन को एक संगठित और शान्तिपूर्ण रूप देने के लिए प्रेरित किया, चाहे वे व्यक्तिगत तौर पर केन्द्रीय कमेटी के धीरज बरतने और सही मौक़े का इन्तज़ार करने और उसके लिए तैयारी करने की कार्यदिशा से सहमत हों या नहीं हों; चाहे उन्होंने बाद में पार्टी मंचों पर इसके लिए केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों से बहस की हो; चाहे उन्होंने बाद में भी सहमत होने के बजाय अपनी असहमति ही दर्ज करायी हो; तब भी उन्होंने दो सम्मेलनों या कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी के निर्णय को सर्वोच्च निर्णय मानने के बोलशेविक उसूलों का पालन किया। अगर उन्होंने ऐसा नहीं किया होता तो 3-5 जुलाई 1917 के दिनों का इतिहास किसी और ही प्रकार लिखा जाता। बल्कि कहा जा सकता है कि बोलशेविक क्रान्ति का ही इतिहास कुछ और होता। यह ज़रूर है कि बोलशेविक पार्टी के सैन्य संगठन ने इस सम्भावना के लिए भी तैयारी कर रखी थी कि यदि प्रदर्शन का नेतृत्व उनके हाथों से निकलता है और सशस्त्र प्रदर्शनकारी उनके अनुमोदन के बिना सत्ता पर क़ब्ज़ा करने और आरज़ी सरकार को अपदस्थ करने का प्रयास करते हैं, तो वे क्या करेंगे। लेकिन इसे सशस्त्र विद्रोह करने की तैयारी की संज्ञा देना मूर्खता होगी। निश्चित तौर पर, यह पूरा प्रदर्शन जनसमुदायों के बोलशेविकीकरण का ही नतीजा था; यह दिखला रहा था कि जनता के बीच बोलशेविक पार्टी की कार्यदिशा का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था। लेकिन इस प्रदर्शन का समय-निर्धारण अकेले बोलशेविक पार्टी मनोगत तरीक़े से नहीं कर सकती थी। ज़ाहिर है, इसके समय-निर्धारण के पीछे बहुत से वस्तुगत कारक और बहुत-सी अन्य मनोगत शक्तियाँ काम कर रही थीं। लेकिन चूँकि यह जनउभार बोलशेविक नारों और कार्यदिशा के समर्थन में और उसके अन्तर्गत ही हो रहा था इसलिए बोलशेविक पार्टी एक जिम्मेदार क्रान्तिकारी पार्टी के समान हर प्रकार की सम्भावना के लिए तैयारी कर रही थी : इस सम्भावना के लिए भी जबकि नेतृत्व पूरी तरह उनके हाथों में रहता और प्रदर्शन पूरी तरह शान्तिपूर्ण और संगठित रहता

और इस सम्भावना के लिए भी जबकि यह प्रदर्शन लेनिन के शब्दों में "महज़ एक प्रदर्शन" नहीं रह जाता, जैसा कि हुआ और जैसा कि लेनिन ने बाद में 'तीन संकट' नामक अपने लेख में लिखा भी था। लेकिन बोलशेविक फिर भी एक अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह रोकने में कामयाब रहे; हालाँकि इस प्रक्रिया में तात्कालिक तौर पर उन्हें काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा था।

इस दौरान, किसी भी मौक़े पर किसी ज़िम्मेदार पार्टी के निकाय का इरादा सशस्त्र विद्रोह का नहीं था। रैबिनोविच ही द्वितीय पीटर्सबर्ग नगर सम्मेलन में पारित प्रस्ताव को उद्धृत करते हैं जिसमें स्पष्ट तौर पर पार्टी की पीटर्सबर्ग कमेटी ने यह निर्णय लिया था कि मज़दूर एवं सैनिक सड़कों पर उतरकर प्रदर्शन करें और सोवियत के समक्ष अपनी यह इच्छा पुरजोर तरीक़े से पेश करें कि वह सत्ता पूर्ण रूप से अपने हाथों में ले ले (देखें, वही, पृ. 164)। इससे ज़्यादा का लक्ष्य न तो केन्द्रीय कमेटी ने तय किया था और न ही किसी अन्य पार्टी निकाय ने।

वास्तव में, 4 जुलाई की सुबह प्रदर्शन पूरी तरह से बोलशेविक पार्टी के हाथों में था। यही कारण था कि जब 4 जुलाई को प्रदर्शन की शुरुआत हुई तो बोलशेविक संगठनकर्ताओं के आह्वान पर पहले प्रदर्शनकारियों की समूची भीड़ लेनिन को सुनने के लिए क़ेशेसिंस्काया महल पहुँची, जो कि उसी सुबह, फिनलैण्ड में अपनी छुट्टियाँ पूरी किये बिना ही बीच में ही वापस लौट आये थे। लेनिन ने अपने छोटे से भाषण में जनता को धैर्य, चौकसी और मज़बूती बनाये रखने का सन्देश दिया। लेकिन सारे प्रदर्शनकारियों को क़ेशेसिंस्काया महल की ओर ले जाने पर प्रदर्शन में शामिल अराजकतावादियों, अराजकतावादी-कम्युनिस्टों और मारिया स्पिरिदोनोवा जैसे वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने यह कहकर आपत्ति जतायी कि पूरे प्रदर्शन को एक बोलशेविक प्रदर्शन में तब्दील किया जा रहा है। जनता ने उनकी बातें नहीं सुनीं और सारे प्रदर्शनकारी क़ेशेसिंस्काया महल की ओर चल पड़े, जहाँ पर लेनिन मौजूद थे क्योंकि यह प्रदर्शन 3 जुलाई की देर रात से एक बोलशेविक प्रदर्शन ही बन चुका था। बोलशेविक पार्टी ने अब इस प्रदर्शन की बागडोर अपने हाथों में ले ली थी ताकि उसे एक संगठित और शान्तिपूर्ण चरित्र प्रदान कर सकें।

इसी बीच पेत्रोग्राद सोवियत के मज़दूर सेक्शन में पहली बार बोलशेविक बहुमत में आ गये। इसके बाद वहाँ बोलशेविक संगठनकर्ताओं जिनोवियेव, कामेनेव और उस समय तक मेज़रायोन्त्सी ग्रुप के सदस्य त्रात्स्की ने हूबहू और शब्दशः वह प्रस्ताव पारित किया जो कि बोलशेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने पारित किया था। स्वयं रैबिनोविच ने इस प्रस्ताव को उद्धृत किया है :

*"इस बैठक के सभी भागीदार ज़िलों में जायेंगे ताकि इस निर्णय के बारे में मज़दूरों और सैनिकों को सूचित कर सकें और इस आयोग से निरन्तर सम्पर्क में रहकर आन्दोलन को एक शान्तिपूर्ण और संगठित चरित्र देने का प्रयास करेंगे।"* (वही, पृ. 170)

जैसा कि हम देख सकते हैं, यह हूबहू वही बात है जोकि केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के प्रस्तावों में कही गयी थी। रैबिनोविच यह ब्योरा देना भी भूल जाते हैं कि जब 3 जुलाई को तौरीदा महल में केन्द्रीय कमेटी की बैठक चल रही थी तो शाम के वक्रत विभिन्न कारखानों के

मज़दूर प्रतिनिधि उसके पास आ रहे थे और शुरू हो चुके प्रदर्शन की सूचना देते हुए इस प्रदर्शन को शान्तिपूर्ण बनाये रखने के लिए बोलशेविक पार्टी से कमान अपने हाथ में लेने का आग्रह कर रहे थे। गौरतलब है, मज़दूरों की व्यापक बहुसंख्या प्रदर्शन में हिस्सेदारी करने को तो इच्छुक थी, लेकिन वह चाहती थी कि पार्टी प्रदर्शन की कमान अपने हाथों में ले अन्यथा सैनिकों का अधैर्य एक अपरिपक्व बगावत की ओर जा सकता था। यह पूरा ब्यौरा भी रैबिनोविच की पुस्तक से अनुपस्थित है।

## लेनिन की पेत्रोग्राद वापसी और लेनिन के अनिर्णय का रैबिनोविच का मिथक

रैबिनोविच बताते हैं कि किस प्रकार 3 जुलाई की रात में अन्ततः बोलशेविक नेतृत्व ने तय किया कि वे प्रदर्शन को रोक नहीं सकते और उन्हें इसे नेतृत्व देकर एक संगठित और शान्तिपूर्ण प्रदर्शन में तब्दील करना चाहिए। इसी के साथ वे तत्काल किसी को लेनिन को बुलाने के लिए भेजने का निर्णय लेते हैं। रैबिनोविच इस सूचना की पुष्टि के लिए जि़नोवियेव को उद्धृत करते हैं, "जिनोवियेव ने पुष्ट किया कि तौरीदा महल पर तीस हजार पुतिलोव मज़दूरों के आने और क्रॉस्टाट से रैस्कॉलनिकोव (एक अन्य बोलशेविक नेता) का फोन आने के साथ, जिन्होंने स्पष्ट तौर पर बताया कि कोई चीज़ या कोई व्यक्ति क्रॉस्टाट के नाविकों को अगली सुबह पेत्रोग्राद जाने से नहीं रोक सकता है, अन्ततः यह तय किया गया कि केन्द्रीय कमेटी अगले दिन (यानी 4 जुलाई) को मज़दूरों और सैनिकों के "सशस्त्र लेकिन शान्तिपूर्ण" प्रदर्शन की आज्ञा देगी और उसका नेतृत्व करेगी।" (वही, पृ. 174) हालाँकि रैबिनोविच पश्चटिप्पणी में रैस्कॉलनिकोव द्वारा दी गयी सूचना पर सन्देह करते हैं, लेकिन उनके द्वारा दिया गया ब्यौरा ही रैस्कॉलनिकोव के दावे को पुष्ट करता है। इसके बाद ही केन्द्रीय कमेटी ने लेनिन के लिए बुलावा भेजा। अगली सुबह लेनिन क्शेसिंस्काया महल पहुँचे और सारे प्रदर्शनकारी लेनिन को सुनने के लिए 4 जुलाई की सुबह वहाँ पहुँचे। यहाँ क्या हुआ था, यह हम पहले ही बता चुके हैं।

रैबिनोविच सही दावा करते हैं कि लेनिन पहले लोगों को सम्बोधित नहीं करना चाहते थे लेकिन फिर कई बोलशेविक नेताओं के कहने पर उन्होंने सम्बोधित करने का आग्रह स्वीकार किया। लेनिन ने अपने भाषण में सब्र बरतने और चौकसी बनाये रखने की अपील की। इस बारे में रैबिनोविच का कहना है कि लेनिन ने प्रदर्शन की शुरुआत के बाद आरज़ी सरकार का तख़्तापलट करने की सम्भावना से इंकार नहीं किया था। इसके समर्थन में वे एक अन्य नेता कालिनिन को उद्धृत करते हैं, जिन्होंने इस मौक़े पर लेनिन से पूछा था कि यह क्या यह सिर्फ़ एक प्रदर्शन हो रहा है या फिर सत्ता क़ब्ज़ा करने की शुरुआत। इसके जवाब में लेनिन ने कहा कि यह वक्रत आने पर ही पता चलेगा। निश्चित तौर पर, लेनिन उस समय यही जवाब दे सकते थे क्योंकि अभी बोलशेविक भी नहीं जानते थे कि प्रदर्शनकारी किस हद तक उनके नेतृत्व और नियन्त्रण में रहेंगे। लेकिन इसे

रैबिनोविच मंशा का प्रश्न बना देते हैं। उनके अनुसार, इरादे के स्तर पर भी लेनिन अभी अनिश्चय की स्थिति में थे और उन्होंने तख्तापलट करने का विचार त्यागा नहीं था। लेकिन अन्य सभी स्रोतों से सिद्ध किया जा सकता है कि जहाँ तक लेनिन के आकलन, इच्छा और इरादे का प्रश्न था, आरजी सरकार का तख्तापलट करना किसी भी रूप में अभी उनके एजेण्डा पर नहीं था। वह स्पष्ट तौर पर मानते थे कि अभी संकट पका नहीं है और पेत्रोग्राद की स्थिति पूरे रूस की स्थिति नहीं है। लेकिन रैबिनोविच यह अनिश्चय की स्थिति लेनिन पर एक प्रकार से थोप देते हैं। तत्काल क्या सम्भावनाएँ थीं और लेनिन के अनुसार क्या वांछनीय था, इसमें रैबिनोविच फ़र्क नहीं करते ताकि 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों को वे एक बाधित सशस्त्र विद्रोह (aborted insurrection) के रूप में पेश कर सकें। अगर लेनिन वाकई किसी अनिश्चय में थे, तो 4 जुलाई के पूरे घटनाक्रम में ऐसा कुछ नहीं था जो कि उन्हें सत्ता पर कब्जा कर लेने का अनुमोदन करने और इसके लिए निर्देश देने से रोकता। लेकिन लेनिन ने ऐसा नहीं किया; क्योंकि जब यह स्पष्ट हो गया था कि प्रदर्शनकारी मुश्किल से ही सही, मगर बोल्शेविक पार्टी के नियन्त्रण में हैं, तो लेनिन की रणनीति कम-से-कम नुकसान उठाकर पीछे हटने की थी। इस बात को रैबिनोविच आगे स्वयं भी स्वीकार करते हैं।

रैबिनोविच स्वयं कम-से-कम दो स्थानों पर स्वीकार करते हैं कि 4 जुलाई को जो हिंसा की घटनाएँ हुईं उसके लिए बोल्शेविक नेतृत्व जिम्मेदार नहीं था। हालाँकि वे दक्षिणपन्थी गिरोहों (जैसे कि 'ब्लैक हण्ड्रेड्स') को बचाने का पूरा प्रयास करते हैं और कहते हैं कि हिंसा के लिए पूरा माहौल जिम्मेदार था। वे लिखते हैं :

*"उस समय यह प्रश्न काफ़ी महत्वपूर्ण था कि पहली गोली किसने चलायी। पचास वर्षों बाद, अख़बारी ब्यौरों, दस्तावेज़ों और संस्मरणों के भ्रमित कर देने वाले समुच्चय को देखने से यह प्रभाव छूटता है कि काफ़ी सम्भावना थी कि गोली चलाने को तैयार प्रदर्शनकारी, उकसाने वाले तत्व, दक्षिणपन्थी तत्व और कई बार शुद्ध रूप से भ्रम का माहौल और भय का माहौल बराबर जिम्मेदार थे।" (वही, 171)*

लेकिन आगे वह सच्चाई छिपा नहीं पाते और लिखते हैं :

*"जब बीच दोपहर में करीब साठ हजार लोगों का जुलूस सादोवाइया और अप्राक्सना मार्गों के कोने पर एक चर्च के पास से गुज़रा, तो एक बार फिर, मानो चर्च की घण्टी के संकेत पर, ऊपरी खिड़कियों और छतों से प्रदर्शनकारियों पर गोलियों की बौछार हुई। बाद में बोगदातियेव ने आरजी सरकार के जाँच आयोग के सामने गर्व से गवाही थी कि पुतिलोव के मज़दूरों ने इन निशानेबाज़ों का इलाज कर दिया।" (वही, पृ. 185)*

उस समय के कई बोल्शेविक स्रोतों और अख़बारों से स्पष्ट तौर पर साबित किया जा सकता है कि पहले हमला करने का काम दक्षिणपन्थी गिरोहों ने किया था ताकि प्रदर्शन हिंस्र हो जायेगा और फिर बोल्शेविक पार्टी का दमन करने और उसके खिलाफ़ माहौल बनाने में प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों को कोई दिक्कत न पेश आये। सही मायने में प्रदर्शनकारियों ने इन हमलों का बेहद सीमित

जवाब दिया और इसीलिए मारे गये और हताहत हुए लोगों में दोनों पक्षों की संख्या लगभग बराबर थी। अन्यथा, अगर वे खुलकर इन हमलों का जवाब देते तो उस दिन पेत्रोग्राद से इन दक्षिणपन्थी गिरोहों का सफ़ाया हो गया होता। लेनिन ने अपने लेख 'एक जवाब' में इसका साक्ष्यों और प्रमाणों के साथ पूरा ब्यौरा दिया है। लेकिन रैबिनोविच इस लेख को एक बार भी उद्धृत नहीं करते क्योंकि इससे एक 'बाधित सशस्त्र विद्रोह' की उनकी थीसिस कूड़े की पेटी के हवाले हो जायेगी। इसलिए वे जानबूझकर चयन करके तथ्यों को पेश करते हैं। सच्चाई यह थी कि बोलशेविकों ने अपने नेतृत्व में इस प्रदर्शन को अराजकतापूर्ण हिंसा या सशस्त्र विद्रोह के अपरिपक्व प्रयास में तब्दील होने से रोका था।

लेकिन बोलशेविकों और लेनिन के अनिर्णय और अनिश्चय की बात को रैबिनोविच लगातार पेश करने की कोशिश करते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं :

*"अन्त में, बीच में अनिर्णय के साथ दोलन कर रहे थे क्रॉस्टा के बोलशेविक नेता, जो कि आम तौर पर बेहद प्रभावी हुआ करते थे। वे भी अराजकतावादियों के ही समान अधैर्यवान थे कि आरज़ी सरकार का निपटारा कर दिया जाये और निश्चित तौर पर यही धारणा सम्प्रेषित करना चाहते थे कि इस आन्दोलन का शुरू से मक़सद ही यही था, लेकिन पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के अनिर्णय के कारण उनके पंख कट गये थे, ठीक उसी प्रकार जैसे कि पिछली रात गैरीसन के सैन्य संगठन के पर कट गये थे।" (वही, पृ. 187)*

इस सूचना का स्रोत कौन है? मेशेविक सुखानोव! उपरोक्त उद्धरण की पश्चटिप्पणी में रैबिनोविच सुखानोव का हवाला देते हैं। लेकिन उसके ठीक आगे प्रत्यक्षवादी ईमानदारी से मजबूर होकर उन्हें सैन्य संगठन के नेता नेव्स्की का भी उद्धरण देना पड़ा है जिसमें नेव्स्की ने स्पष्ट किया है कि इस अनिर्णय की स्थिति का क्या अर्थ था। बोलशेविक नेतृत्व तौरीदा महल के बाहर एकत्र लोगों को किसी कार्रवाई का निर्देश नहीं दे रहा था क्योंकि उसे किसी कार्रवाई का निर्देश देना ही नहीं था! उसका लक्ष्य ही यही था कि इसे जनसमुदायों की इच्छा को सोवियत के समक्ष पेश करने वाले एक प्रदर्शन के रूप में समाप्त किया जाये। इसलिए प्रदर्शन में भाषण हो रहे थे, बीच-बीच में कुछ प्रतिनिधि मण्डल सोवियत के पास भेजे जा रहे थे। लेकिन किसी कार्रवाई का निर्देश नहीं दिया जा रहा था। आम जनता की निगाह में, जो कि कार्रवाई के लिए उतावली हो रही थी, यह अनिर्णय जैसा ही दिखलायी देगा। बीच में जनता का सब्र थोड़ा टूट भी गया और एक अराजकतावादी नाविक की गिरफ़्तारी पर सफ़ाई देने आये समाजवादी-क्रान्तिकारी मन्त्री वित्तोर चेर्नोव को प्रदर्शनकारियों ने हिरासत में भी ले लिया था, जिसे त्रात्स्की और रैस्कॉलनिकोव छुड़ाकर ले गये। (हालाँकि इसके बाद डरे हुए चेर्नोव ने बोलशेविकों के खिलाफ़ काफ़ी विषममन किया और उनके खिलाफ़ कड़ी कार्रवाई की वकालत की क्योंकि इस गिरफ़्तारी के सदमे से वे काफ़ी समय तक उबर नहीं पाये थे!) लेकिन इस अलग-थलग अकेली घटना को छोड़ दिया जाये तो प्रदर्शनकारियों ने बोलशेविकों द्वारा कोई निर्देश नहीं दिये जाने पर कोई कार्रवाई नहीं की। लेकिन कोई निर्देश नहीं

दिया जाना प्रदर्शनकारियों के बीच मौजूद अतिवादी तत्वों के लिए अनिर्णय और अनिश्चय जैसा दिख रहा था। लेकिन स्पष्ट तौर पर यह बोल्शेविक योजना का हिस्सा था। वास्तव में, लेनिन समेत बोल्शेविक नेतृत्व किसी अनिर्णय की स्थिति में नहीं था।

जब बोल्शेविक पार्टी प्रदर्शन को वापस लेने की सार्वजनिक घोषणा लागू कर देती है, रैबिनोविच के अनुसार लगभग उस समय तक भी सत्ता पर कब्जा करने का विकल्प उसने खुला रखा था और इसीलिए यह सार्वजनिक घोषणा प्राव्दा के पिछले पेज पर 5 जुलाई को प्रकाशित हुई थी। यह विचित्र बात है क्योंकि 4 जुलाई की शाम से ही यह स्पष्ट हो गया था कि प्रदर्शन की लहर अब ढलान पर है और रैबिनोविच स्वयं इसके कई कारण बताते हैं। 4 जुलाई की रात तक यह स्पष्ट हो गया था कि अगले दिन 3 और 4 जुलाई के घटनाक्रम की पुनरावृत्ति नहीं होने वाली है। ऐसे में, यह स्वाभाविक था कि प्राव्दा ने यह सूचना पिछले पेज पर प्रकाशित की। इसके आधार पर यह अटकल लगाना कि बोल्शेविक अभी भी सशस्त्र विद्रोह के लिए माकूल मौक़े के इन्तज़ार में थे, हास्यास्पद है। एक स्थान पर रैबिनोविच अपनी पूरी विचित्र अवस्थिति को थोड़ा सन्तुलित करने के लिए एक और भी विचित्र बात कहते हैं। वह कहते हैं कि सुखानोव के पूरे ब्यौरे पर पूरी तरह निर्भर रहते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि लेनिन किसी असफल विद्रोह का नेतृत्व कर रहे थे क्योंकि लेनिन इसे एक सशस्त्र विद्रोह के रूप में नहीं देखते थे; लेकिन फिर भी लेनिन ने 4 और 5 जुलाई को सत्ता पर कब्जा करने के विकल्प को त्यागा नहीं था! इसका क्या अर्थ है? ज़ाहिर है, रैबिनोविच तय नहीं कर पा रहे हैं कि वे सीधे लेनिन को एक सशस्त्र विद्रोह के योजनाकार के रूप में दिखायें या नहीं। तथ्य क़तई इस पक्ष में नहीं हैं, लेकिन रैबिनोविच की थीसिस उन्हें द्रविड़ प्राणायाम करने को मजबूर करती है।

छठे अध्याय के अन्त में एक बार फिर से रैबिनोविच केन्द्रीय कमेटी और प्राव्दा की अवस्थिति और सोल्दात्स्काइया प्राव्दा की अवस्थिति में अन्तर पैदा करने का प्रयास करते हैं। 5 जुलाई को सोल्दात्स्काइया प्राव्दा में एक सम्पादकीय अग्रलेख छपा जिसका शीर्षक था "सड़कों पर क्या हो रहा है"। इस लेख में यह कहा गया था कि जो प्रदर्शन हुआ है सर्वहारा वर्ग की पार्टी ने उसके नेतृत्व को स्वीकार किया है और आगे भी वह सोवियतों को सत्ता स्थानान्तरित करने के संघर्ष में सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व प्रदान करती रहेगी, तब तक जब तक कि यह संघर्ष जीत नहीं लिया जाता। रैबिनोविच इसे बोल्शेविक संगठन के वामपन्थी भटकाव का नमूना मानते हैं, जिससे केन्द्रीय कमेटी को देर में यह समझ आया कि आम बगावत के लिए अभी समय उपयुक्त नहीं है। एक बार फिर हम देख सकते हैं कि इस लेख की रैबिनोविच द्वारा मनमानी व्याख्या की गयी है। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के वामपन्थ को दिखलाये। निश्चित तौर पर, आबादी का जो हिस्सा सबसे ज्यादा सुलग रहा था उसके बीच प्रदर्शन को फ़िलहाल रोक लेने के लिए जो अपील जारी होती, उसके शब्द कुछ ऐसे ही हो सकते थे। लेकिन चूँकि रैबिनोविच हर मौक़े पर केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और बोल्शेविक सैन्य संगठन के बीच दीवारें खड़ी करना चाहते हैं, इसलिए सोल्दात्स्काइया प्राव्दा के इस सम्पादकीय की भी वे मनमानी व्याख्या

करते हैं।

## जुलाई प्रदर्शन का दमन और प्रतिक्रिया का दौर : रैबिनोविच की अटकलें

आखिरी दो अध्यायों में रैबिनोविच अपनी विभाजित पार्टी की थीसिस के समर्थन में कुछ अन्तिम व्याख्याएँ पेश करते हुए उसे मुकाम तक पहुँचाते हैं। 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों के वापस लिए जाने के फ़ैसले के साथ बोलशेविक पार्टी ने रैस्कॉलनिकोव को यह ज़िम्मेदारी दी कि सशस्त्र प्रदर्शनकारियों को वापस ले जायें और इस प्रक्रिया में प्रदर्शनकारियों पर दक्षिणपन्थियों के हमलों से भी निपटें। यही कारण था कि रैस्कॉलनिकोव ने क्रॉस्टाट के नाविकों को एक अतिरिक्त दिन राजधानी में रहने की आज्ञा दी। रैबिनोविच लगातार इस बात पर शक करते हैं कि ये सारे इन्तज़ामात किस हद तक आत्मरक्षा के लिए किये जा रहे थे और किस हद तक अपनी ओर से हमला करने के लिए, यह बता पाना मुश्किल है। यहाँ भी रैबिनोविच यह छवि पेश करना चाहते हैं कि पार्टी द्वारा प्रदर्शन की वापसी के एलान के बाद भी सैन्य संगठन स्वायत्तता के साथ काम कर रहा था। लेकिन रैबिनोविच स्वयं बताते हैं कि रैस्कॉलनिकोव ने अपने संस्मरणों में लिखा कि प्राव्दा के कार्यालय के ध्वंस की खबर आ चुकी थी और यह स्पष्ट था कि क्रदम पीछे हटाते हुए भी आत्मरक्षा के पूरे इन्तज़ामात करने होंगे। इसीलिए रैस्कॉलनिकोव ने सैनिकों को भी सावधान कर दिया था। बैरकों में पहुँच चुके सैनिकों को भी सावधान कर दिया गया था कि ज़रूरत पड़ने पर उन्हें भी आना पड़ सकता है। लेकिन रैस्कॉलनिकोव ने स्पष्ट शब्दों में बतलाया था कि ये सारे क्रदम केवल और केवल आत्मरक्षा के लिए उठाये जा रहे थे। जबकि रैबिनोविच आगे लिदाक द्वारा लिखी गयी और 1932 में छपी बोलशेविक क्रान्ति के इतिहास पर लिखे एक निबन्ध का हवाला देते हुए बताते हैं कि इसमें लिदाक ने बताया है कि यह बता पाना मुश्किल था कि सैन्य संगठन ने 5 जुलाई को जो-जो क्रदम उठाये थे, वे सभी आत्मरक्षा के लिए ही थे या नहीं। लेकिन रैबिनोविच यह खुलासा इस निबन्ध की चर्चा के साथ नहीं करते, बल्कि पश्च टिप्पणी में करते हैं कि इस निबन्ध पर सम्पादक ने एक टिप्पणी लगायी थी जिसमें लिखा था कि लिदाक की इस सूचना को प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया जा सका। यह ज़रूर है कि पीछे हटते हुए आत्मरक्षा के लिए कहीं-कहीं कुछ बोलशेविक सैनिकों ने हमलावर क्रदम भी उठाये थे, लेकिन यह आम रुझान नहीं था और अलग-थलग कुछ घटनाएँ थीं। जाहिर है, जिन स्थितियों में प्रदर्शन को वापस लिया गया था और जिस प्रकार सैनिकों को वापस बैरकों में ले जाना था, उसमें इस प्रकार की छिटपुट घटनाएँ होना लाज़िमी था। क्रदम पीछे हटाना और वह भी कम-से-कम नुक़सान उठाकर हमेशा ही कठिन होता है, और दी गयी स्थितियों में तो यह और भी कठिन था। लेकिन इसे सैन्य संगठन की स्वायत्ततावादी हरकत करार देना रैबिनोविच की ग़लती है।

जिस उपशीर्षक के मातहत सातवें अध्याय में रैबिनोविच बोलशेविकों द्वारा प्रदर्शन को वापस लिये जाने और क्रदम पीछे हटाने की बात कर रहे हैं, उसका नाम है 'पेत्रोग्राद बोलशेविकों का आत्मसमर्पण'। यह उपशीर्षक कुछ दुरुस्त नहीं है। निश्चित तौर पर, शहर के जिन हिस्सों पर प्रदर्शनकारियों का क़ब्ज़ा था, या जिन इमारतों पर उनका प्रभाव या क़ब्ज़ा था, पार्टी ने उनका

समर्पण करने का निर्देश दे दिया था। सैनिकों को एक प्रक्रिया में उनकी गैरीसनों में वापस भेजा गया। लेकिन बोल्शेविक नेता जिसमें लेनिन, पोदवाँइस्की आदि शामिल थे, वक्रत रहते पलायन कर गये थे और भूमिगत हो गये थे। इस बात का ब्यौरा रैबिनोविच खुद ही देते हैं। प्रमुख नेताओं में त्रात्स्की व जिनोवियेव गिरफ्तार कर लिये गये थे। लेनिन के आत्मसमर्पण का अर्थ होता उनकी जान को प्रतिक्रान्तिकारियों के हाथों में सौंपना। प्रतिक्रान्तिकारियों के लिए पहला निशाना लेनिन ही थे। लेकिन किसी भी रूप में बोल्शेविकों ने क्रदम पीछे हटाये थे, आत्मसमर्पण नहीं किया था। इस गलती के बावजूद रैबिनोविच ने प्रदर्शन वापस लिये जाने के बाद बोल्शेविक पार्टी के क्रिया-कलाप का जो जीवन्त चित्र पेश किया है वह पठनीय है। इसमें बोल्शेविक पार्टी का अनुशासन, अपने नेताओं और पार्टी के मस्तिष्क यानी केन्द्रीय कमेटी को बचाने के लिए इसके आम सदस्यों में कुर्बानी की भावना शानदार थी। गौरतलब है, जब कशेसिंस्काया महल पर प्रतिक्रान्तिकारी ताकतें कब्जा करने वाली थीं, उस समय सात बोल्शेविक जल्दी-जल्दी पार्टी की सभी फ़ाइलों को समेट रहे थे; प्रमुख नेताओं जैसे कि लेनिन व पोदवाँइस्की को पहले ही वहाँ से निकाल दिया गया था। बोल्शेविकों के काम करने के तौर-तरीकों के बारे में रैबिनोविच का ब्यौरा बहुमूल्य है।

रैबिनोविच बताते हैं कि प्रदर्शन को वापस लिये जाने के बाद प्रतिक्रिया का एक दौर चला जिसमें पेत्रोग्राद में बोल्शेविक पार्टी की लोकप्रियता कुछ समय के लिए घट गयी थी। पार्टी कार्यों का काफ़ी नुकसान हुआ था जैसा कि प्रदर्शन के वापस लिये जाने के तत्काल बाद की बैठक में लेनिन ने पूर्वानुमान किया था। लेनिन के जर्मन एजेण्ट होने की अफवाह को पूँजीवादी मीडिया और सरकार ने खूब हवा दी और मोर्चों पर हो रही हार की ज़िम्मेदारी बोल्शेविकों व लेनिन के सिर डालने का प्रयास किया। लेकिन यह प्रतिक्रिया का माहौल ज़्यादा लम्बा नहीं चल सका और कुछ ही समय में बोल्शेविकों का सितारा फिर से बुलन्दी पर जाने लगा। रूस में भूख, गरीबी और युद्ध के कारण भयंकर असन्तोष का माहौल एक बार फिर व्यापक आबादी को अपने प्रभाव में लेने लगा। रैबिनोविच का यह मूल्यांकन भी बिल्कुल दुरुस्त है कि अपनी बेहद चुस्त-दुरुस्त पार्टी सांगठनिक मशीनरी के कारण दमन के दौर में भी बोल्शेविक पार्टी को ज़्यादा नुकसान नहीं उठाना पड़ा। समूचे पार्टी ढाँचे को, इसके प्रमुख नेताओं को और इसके बुनियादी ज़रूरी सम्पर्कों को कुशलतापूर्वक बचा लिया गया। प्राव्दा व अन्य बोल्शेविक मुखपत्रों को दबाये जाने के कुछ ही दिनों के भीतर बदले हुए नामों के साथ नये बोल्शेविक मुखपत्र निकलने लगे। संक्षेप में कहें तो बोल्शेविकों ने अपना सामाजिक आधार और अपनी सांगठनिक मशीनरी को फिर से हासिल करने और रवां करने में ज़्यादा वक्रत नहीं गंवाया।

लेकिन रैबिनोविच पूरा श्रेय बोल्शेविकों को नहीं देते और एक बार फिर रूसी बुर्जुआ वर्ग को एक मौक़ा चूकने के लिए कोसते हुए प्रतीत होते हैं। रैबिनोविच दावा करते हैं कि आरज़ी सरकार का सरकारी मशीनरी और नौकरशाही पर कोई नियन्त्रण नहीं था। नतीजा यह हुआ कि आरज़ी सरकार के आदेश के बावजूद 3-5 जुलाई के बीच सर्वाधिक सक्रिय रही रेजीमेण्टों व गैरीसनों को निशस्त्र करने का कार्य भी ढंग से नहीं किया जा सका। बस इन रेजीमेण्टों को तोड़ दिया गया ताकि

उनके बीच की एकजुटता को तोड़ा जा सके और फिर उन्हें अलग-अलग हिस्सों में मोर्चे पर भेज दिया गया। लेकिन यह करने के अलावा आरज़ी सरकार और क्या कर सकती थी? ज़ाहिर है कि मोर्चे पर उसे सैनिकों की आवश्यकता थी। इसलिए वह सबसे विद्रोही तेवर रखने वाली रेज़ीमेण्टों को तोड़कर मोर्चे पर ही भेज सकती थी; सभी को निशस्त्र करने का अर्थ होता समूची रिज़र्व ताक़त को समाप्त करना। जिस स्थिति में उस समय आरज़ी सरकार थी, उसमें उसने वह सबकुछ किया जो वह कर सकती थी। यह सरकारी अधिकारियों की अकर्मण्यता का या फिर उनके आधे-अधूरे मन से किये गये प्रयासों का प्रश्न नहीं था। यदि इस तर्क को माना जाये तो इसका यह नतीजा निकलता है कि अगर आरज़ी सरकार ने प्रतिक्रिया के माहौल का पूरी कुशलता और समझदारी से फ़ायदा उठाया होता तो फिर से बोलशेविकों के उभार को रोका जा सकता था। हालाँकि, रैबिनोविच सीधे यह बात कहीं नहीं कहते और अलग से वे एक स्थान पर स्वीकार भी करते हैं कि यह बदलती परिस्थिति और बोलशेविकों की कुशलता थी, जिसे इसका श्रेय दिया जाना चाहिए। रैबिनोविच बताते हैं कि मज़दूर अपने हथियार छिपाने में कामयाब हुए और जिनसे हथियार ले लिये गये थे, उन्हें कोर्निलोव के तख़्तापलट के प्रयास के दौरान पेत्रोग्राद सोवियत ने खुद ही फिर से हथियारबन्द कर दिया था। कुल मिलाकर, नतीजा यह था कि बोलशेविक पार्टी बेहद कम नुक़सान उठाकर और प्रतिक्रिया के छोटे-से दौर के बाद फिर से बेहद लोकप्रिय हो गयी और क्रान्ति को नेतृत्व देने की स्थिति में आ गयी।

रैबिनोविच जुलाई की घटनाओं को लेकर छठी पार्टी कांग्रेस में हुई बहस का ब्यौरा देते हैं। 1905 की असफल क्रान्ति के समय सैन्य संगठन ने अतिरेकपूर्ण स्वायत्तता का प्रदर्शन किया था और इसके लिए उसकी आलोचना की गयी थी। छठी कांग्रेस में भी कुछ लोगों ने सैन्य संगठन पर अति-स्वायत्तता प्रदर्शित करने और केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों को शब्दशः न लागू करने और साथ ही सैनिकों में विद्रोह की भावना पर नियन्त्रण करने के लिए पर्याप्त क्रदम न उठाने का आरोप लगाया। इनमें से त्रात्स्की और कामेनेव ने तो यहाँ तक प्रस्ताव रखा कि एक अलग सैन्य संगठन की ज़रूरत पार्टी को नहीं है। लेकिन कांग्रेस ने उनके इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया और स्पष्ट किया कि क्रान्ति की सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सैन्य संगठन का अस्तित्व अपरिहार्य है, लेकिन इसे केन्द्रीय कमेटी की कमान के मातहत रहना चाहिए। ऐसा नहीं था कि इसके पहले सैन्य संगठन केन्द्रीय कमेटी की कमान में नहीं था। जैसा कि हमने उपरोक्त ब्यौरे में देखा, सैन्य संगठन का नेतृत्व हमेशा केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को लागू करने के लिए संघर्ष और प्रयास करता रहता था। जुलाई के शुरुआती दिनों में यह काम ही बेहद मुश्किल था। स्थितियाँ विस्फोटक थीं और अराजकतावादी ताक़तें आग में घी डालने का काम कर रही थीं; ऐसी स्थितियों में सैन्य संगठन का नेतृत्व जो कर सकता था वह उसने किया था। साथ ही, यह भी ध्यान देने वाली बात है कि सैन्य संगठन के अधिकांश लोग सेना में थे और बहुत अलग क्रिस्म की परिस्थितियों में रहते थे; इस बात को पार्टी भी समझती थी। ऐसे में, बोलशेविक सैन्य संगठन ने बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में काफ़ी अच्छा काम किया था। बाद में, स्वयं लेनिन ने कहा था कि सैन्य संगठन के लोगों से

अगर गलतियाँ भी हुई हों तो उनकी मदद की जानी चाहिए क्योंकि जो लोग पहलकदमी लेना नहीं जानते, वे कभी जीतने की उम्मीद नहीं कर सकते हैं और जो पहलकदमी लेते हैं, उनसे गलतियाँ हो सकती हैं। रैबिनोविच आगे लिखते हैं कि सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी के मुखपत्रों को केन्द्रीय कमेटी ने अपने मातहत ले लिया और यह तय हुआ कि ये मुखपत्र पूरी तरह से केन्द्रीय कमेटी के नियन्त्रण में रहेंगे। रैबिनोविच को यह लगता है कि यह पीटर्सबर्ग कमेटी व सैन्य संगठन की स्वायत्तता को दबाने के लिए उठाया गया क़दम है। वास्तव में, बोल्शेविक पार्टी के बुनियादी असूलों के मद्देनज़र यह क़दम बिल्कुल सही था और इसे पहले ही उठा लिया जाना चाहिए था।

लेकिन रैबिनोविच इस घटनाक्रम को अपने 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त के अनुसार व्याख्यायित करते हैं। अगर यह सिद्धान्त सही है तो सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी को ये निर्णय स्वीकार नहीं करने चाहिए थे। लेकिन उन्होंने ये निर्णय स्वीकार किये। साथ ही, रैबिनोविच इस क़दम को केन्द्रीय कमेटी द्वारा क़दम पीछे हटाना मानते हैं कि केन्द्रीय कमेटी ने बाद में सैन्य संगठन को एक केन्द्रीय कमेटी सदस्य की निगरानी में *सोल्दात* का प्रकाशन जारी रखने की इजाज़त दी। ज़ाहिर है, सैन्य संगठन अपना अलग मुखपत्र सैनिकों के लिए निकाले इस पर केन्द्रीय कमेटी की आपत्ति नहीं थी। केन्द्रीय कमेटी का मूल तर्क यह था कि यह मुखपत्र केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा के अनुरूप निकलना चाहिए। इस प्रकार की बहस केन्द्रीय कमेटी के भीतर और केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी व सैन्य संगठन के बीच होना स्वाभाविक था। पीटर्सबर्ग कमेटी की यह माँग भी स्वाभाविक थी कि *प्राव्दा* को पीटर्सबर्ग में पीटर्सबर्ग कमेटी की प्रचारात्मक और उद्देलनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिए। इसीलिए लेनिन ने *प्राव्दा* के सम्पादक मण्डल में परामर्श की शक्ति के साथ पीटर्सबर्ग कमेटी के प्रतिनिधियों को जगह देने की हिमायत की। लेकिन निश्चित तौर पर, अलग-अलग कमेटियों के पूर्ण रूप से स्वायत्त मुखपत्र नहीं हो सकते और यह बात बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व भी व्यवहार के ज़रिये ही समझ सकता था। इस पूरे प्रकरण को 'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को पुष्ट करने के लिए रैबिनोविच इस्तेमाल करते हैं। लेकिन उनके ही अनुसार 'विभाजित पार्टी' से उनका अर्थ था कि पार्टी के भीतर तीन सत्ता केन्द्र यानी केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और बोल्शेविक सैन्य संगठन मौजूद थे जिनके अलग-अलग लक्ष्य और अलग-अलग हित थे। हमने रैबिनोविच की लगभग पूरी पुस्तक का सार इस आलोचना के ज़रिये यहाँ पेश किया है। सच्चाई यह है कि रैबिनोविच के ही इतिहास-लेखन से 'विभाजित पार्टी' की उनकी अवधारणा को पुष्ट नहीं किया जा सकता है। चूँकि पूरी पुस्तक कई तथ्यों की ग़लत प्रस्तुति और व्याख्या के बावजूद रैबिनोविच के मूल तर्क से अलग कुछ कह रही है, इसलिए रैबिनोविच एक अन्तिम अध्याय लिखने की आवश्यकता महसूस करते हैं : 'परिणाम : विभाजित पार्टी', मानो बाकी पुस्तक में वे कुछ और कहने का प्रयास कर रहे हों!

अन्तिम अध्याय में एक सच्चे उदार बुर्जुआ इतिहासकार के समान रैबिनोविच एक आदर्श शुरुआत करते हैं और कहते हैं कि सोवियत रूस में शुरू से ही पार्टी लेखन को पार्टी की राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार नियन्त्रित किया जाता था। हम देख सकते हैं कि इस बात

कोरैबिनोविच ज्यादातर 1956 के बाद के इतिहास-लेखन पर लागू कर रहे हैं क्योंकि उसके पहले के जो स्रोत रैबिनोविच उद्धृत करते हैं, उन्हें वे अनुमोदन के साथ और अपनी थीसीज़ को सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं।

रैबिनोविच इस बात से दुखी हैं कि सोवियत स्रोतों और इतिहास-लेखन में जो भी लेनिन की कार्यदिशा से विचलन करता है उसे दक्षिणपन्थी कहकर, जैसे कि कामेनेव को कहा गया, फिर वामपन्थी कहकर, जैसे कि सेमाशको को कहा गया, खारिज कर दिया जाता है। निश्चित तौर पर जब मार्क्सवादी-लेनिनवादी इतिहासकार इतिहास लिखेंगे तो अपने अप्रोच और पद्धति के अनुसार ही लिखेंगे; ठीक उसी प्रकार जैसे रैबिनोविच ने अपने दृष्टिकोण और पद्धति के अनुसार अपना इतिहास-लेखन किया है। यह उम्मीद करना कि किसी इतिहास-लेखन में इतिहासकार के विचारधारात्मक और राजनीतिक पूर्वाग्रह नहीं होंगे, एक पूर्ण रूप में वस्तुपरक इतिहास की कोरी कल्पना है। यह 'वस्तु अपने आप में' और उस वस्तु के प्रेक्षण के बीच फ़र्क नहीं करता जिन पर हर-हमेशा किसी न किसी वर्गीय दृष्टिकोण की छाप होती है। इस प्रकार की सोच प्रत्यक्षवाद की ख़ासियत होती है, जिसकी स्पष्ट छाप रैबिनोविच के इतिहास-लेखन पर है।

परिणाम के तौर पर रैबिनोविच अपने इस दावे को दुहराते हैं कि सोवियत इतिहास-लेखन में हमें पार्टी में जारी वास्तविक बहसों और मतभेदों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है। हमने ऊपर ही बताया है कि 1953 के पहले के सोवियत स्रोतों के बारे में और विशेष तौर पर 1930 के दशक के पूर्वार्द्ध तक के सोवियत स्रोतों के बारे में यह दावा सही नहीं ठहरता है। साथ ही, यह भी अजीब बात है कि रैबिनोविच प्रमुख बोलशेविक नेताओं में से त्रात्स्की को छोड़कर किसी अन्य को उद्धृत नहीं करते हैं।

रैबिनोविच अप्रैल सम्मेलन (सातवें अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन) के बारे में कहते हैं कि कुछ सोवियत इतिहासकार अब (यानी 1961 के बाद, जबकि यह पुस्तक लिखी गयी थी) यह मानते हैं कि अप्रैल में लेनिन के आने के पहले पार्टी में मतभेद थे लेकिन लेनिन के आगमन के बाद सारे मतभेद समाप्त हो गये। इसके बारे में यह कहा जा सकता है कि कम-से-कम लेनिन और स्तालिन के लेखन से ऐसी तस्वीर क़तई नहीं मिलती। यहाँ तक कि 'बोलशेविक पार्टी का इतिहास' में भी अप्रैल के बाद जारी मतभेदों की एक तस्वीर मिल जाती है। यह एक दीगर बात है कि यह तस्वीर कई बार सटीक नहीं भी हो सकती है। रैबिनोविच शिकायत करते हैं कि अप्रैल सम्मेलन में लेनिन ने जो कार्यदिशा पेश की वह काफ़ी ढीली-ढाली थी और जो प्रस्ताव उसके आधार पर स्वीकार किया गया उसे दक्षिणपन्थी कामेनेव अपनी तरह से व्याख्यायित कर सकते थे, और जल्दबाज़ वामपन्थी धड़ा अपनी तरह से व्याख्यायित कर सकता था। इसका कारण रैबिनोविच के अनुसार यह था कि लेनिन ने यह तो बताया था कि बुर्जुआ जनवादी चरण से क्रान्ति समाजवादी चरण में जा रही है लेकिन यह नहीं बताया था कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए आम बगावत कब की जानी है। पार्टी के एक सम्मेलन में पेश प्रस्ताव से यह उम्मीद करना कि वह आम बगावत का

समय और तिथि बताये क्या मूर्खतापूर्ण नहीं माना जायेगा? और इस आधार पर कि आम बग़ावत का समय नहीं बताया गया, यह कहना कि यह प्रस्ताव बहुत ढीला-ढाला था जिसके आधार पर दक्षिणपन्थी धड़े और वामपन्थी धड़े को अपनी-अपनी कार्यदिशा लागू करने का 'स्पेस' मिल जाता था, किस हद तक समझदारी की बात मानी जायेगी? स्पष्ट है, रैबिनोविच 'विभाजित पार्टी' के अपने तर्क को सही सिद्ध करने के लिए विरोधाभासों के गड्ढे में गिर जाते हैं।

## नतीजे के तौर पर...

जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि रूसी क्रान्ति के इतिहास के सभी विद्यार्थियों को और विशेष तौर पर मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों को रैबिनोविच की यह पुस्तक और उनकी बाकी दो पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए। कारण यह है कि ये पुस्तकें उस दौरान हो रहे घटनाक्रम के लगभग एक-एक दिन का ब्यौरा देती हैं। तथ्यों का चयन करने में कई बार रैबिनोविच चयनपूर्ण रवैया अपनाते हैं, कुछ सीमित मौकों पर वे ग़लत तथ्यों पर या तथ्यों की ग़लत प्रस्तुति पर भी निर्भर करते हैं। लेकिन इसके बावजूद अधिकांश जगहों पर रैबिनोविच सही तथ्यों को ही पेश करते हैं, भले ही उनकी व्याख्या वह ग़लत करते हों। इसलिए उनकी पुस्तक क्रान्ति के दौरान की, विशेष तौर पर पेत्रोग्राद की और उस दौरान बोलशेविक पार्टी और उसके नेतृत्व द्वारा किये जा रहे हस्तक्षेपों की, एक जीवन्त तस्वीर पेश करती है। इस रूप में उनकी तीनों ही पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। हमने यहाँ केवल पहली पुस्तक की आलोचनात्मक समीक्षा रखी है। पिछले अध्याय में हमने उनकी दूसरी पुस्तक की कुछ खामियों की ओर भी इशारा किया है। लेकिन यहाँ तीनों पुस्तकों की आलोचनात्मक समीक्षा रखने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि रैबिनोविच अपनी बुनियादी थीम पर कायम रहते हैं। इन तीनों ही रचनाओं में वे 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को वैध ठहराने का प्रयास करते हैं।

जैसा कि हमने इस आलोचना में देखा है, स्वयं रैबिनोविच का ही इतिहास-लेखन इस निर्णय को या इस मूल्यांकन को पुष्ट नहीं करता है। जब वे एक प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी इतिहासकार के रूप में तथ्यों को दर्ज और व्यवस्थित कर रहे होते हैं तो वहाँ वे चयनपूर्ण तरीके से तथ्यों का चयन करने के अलावा ज़्यादा फेर-बदल नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि उन्हें अपनी व्याख्याओं को अलग से जोड़ना पड़ता है। यानी कि ये व्याख्याएँ और ये नतीजे विचारधारात्मक होते हैं। यदि पाठक रैबिनोविच के इतिहास-लेखन की इन समस्याओं से वाकिफ़ हो तो उनकी पुस्तक उपयोगी साबित हो सकती है।

(अगले अंक में जारी)

# नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन

(चौथी किस्त)

- दीपायन बोस

मार्च 1971 में सुशीतल राय चौधरी का निधन हुआ और उसी महीने चारु मजुमदार की लाइन के प्रबलतम समर्थकों में से एक, सौरिन बसु भी गिरफ्तार हो गये। उनके दूसरे निकटतम व्यक्ति सरोज दत्त की हत्या पुलिस के हाथों कुछ माह बाद, 5 अगस्त 1971 को हुई। असीम चटर्जी 3 नवम्बर 1971 को गिरफ्तार होने से पहले ही चारु की लाइन के विरुद्ध खड़े हो चुके थे, जिसकी चर्चा पहले आ चुकी है।

1971 का उत्तरार्द्ध आते-आते चारु मजुमदार के निकटतम माने जाने वाले चार लोगों में से अन्तिम व्यक्ति – सुनीति कुमार घोष के साथ भी उनके मतभेद उठ खड़े हुए, जो गहराते चले गये। इसकी चर्चा आगे यथास्थान की जायेगी। उसके पहले सौरिन बसु की बहुचर्चित चीन यात्रा और चीनी पार्टी के बिरादराना सुझावों की चर्चा जरूरी है, क्योंकि इन सुझावों में वास्तव में वाम दुस्साहसवादी लाइन की, सार रूप में, ऐसी आलोचना निहित थी जिसने एक-एक करके नेतृत्व के अन्य बचे हुए लोगों को भी चारु मजुमदार के विरुद्ध खड़ा कर देने में अहम भूमिका निभायी। लेकिन इसके पहले, नक्सलबाड़ी और भाकपा (माले) के प्रति चीन की पार्टी के रुख की

संक्षेप में चर्चा जरूरी है, क्योंकि किसी-न-किसी रूप में, काफ़ी हद तक चीन की पार्टी के पुरजोर समर्थन ने 1967-70 के बीच चारु मजुमदार के नेतृत्व और उनकी लाइन को मज़बूत बनाने में मदद पहुँचायी थी।

## नक्सलबाड़ी, भाकपा (माले) और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने नक्सलबाड़ी विद्रोह का उत्साहपूर्ण समर्थन किया था। नक्सलबाड़ी के बाद शुरू हुई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता का भी चीनी प्रेस और रेडियो ने संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के साथ निर्णायक विच्छेद और एक नयी शुरुआत के रूप में गर्मजोशी भरा स्वागत किया। 28 जून 1967 को रेडियो पीकिङ ने पहली बार नक्सलबाड़ी संघर्ष का स्वागत किया और फिर 5 जुलाई को पार्टी मुखपत्र 'पीपुल्स डेली' में 'भारत में बसन्त का वज्रनाद' शीर्षक प्रसिद्ध लेख प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1970 के शुरुआती महीनों तक चीनी मीडिया द्वारा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर के घटना-क्रम-विकास और देश के विभिन्न हिस्सों में हो रहे 'ऐक्शनस' के बारे में प्रसारण और मुद्रण का सिलसिला जारी रहा। 1967 में जुलाई के बाद के किसी महीने में कानू सान्याल, खोकन मजुमदार और कुछ अन्य लोग सीमा पार करके चीन भी गये। वहाँ कुछ नेताओं से बातचीत के अतिरिक्त उनकी माओ से भी संक्षिप्त मुलाकात हुई जिसमें माओ ने बस इतना कहा कि यहाँ देखी-सीखी गयी बातों को यहीं भूलकर आप लोगों को अपने देश वापस लौटकर वहाँ की ठोस परिस्थितियों का ठोस अध्ययन करना चाहिए और उसके हिसाब से संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहिए। जब 'लिबरेशन' का प्रकाशन शुरू हुआ तो उसके कई लेखों के अनुवाद भी चीनी प्रेस में छपे।

चीनी पार्टी के इस समर्थन से नक्सलबाड़ी के सन्देश को पूरे देश में पहुँचाने में और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को एकजुट करने की प्रक्रिया में निश्चय ही महत्वपूर्ण मदद मिली। लेकिन अगले चरण में इस समर्थन ने, 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के भीतर क्रान्तिकारी जनदिशा और वामपन्थी दुस्साहसवाद के बीच जारी दो लाइनों के संघर्ष को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया। चीनी प्रकाशनों और प्रसारणों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का साहित्य (विशेषकर 'लिबरेशन') उन्हें नियमित प्राप्त होता था। तालमेल कमेटी के दौर में परिमल दासगुप्ता, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्ता जैसे कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा और कई छोटे ग्रुपों द्वारा चारु की लाइन पर उठाये गये सवाल और उनके अलग हो जाने की यदि सटीक और विस्तृत जानकारी चीनी पार्टी तक न भी पहुँची हो, लेकिन डी.वी. राव-नागी रेड्डी के नेतृत्व वाली आन्ध्र प्रदेश तालमेल कमेटी और 'दक्षिण देश ग्रुप' के अलग होने की जानकारी उस तक न पहुँची हो, यह लगभग असम्भव है। इसके बाद भी पूरे मामले की विस्तृत पड़ताल करने के बजाय चीन की पार्टी चारु मजुमदार को नक्सलबाड़ी संघर्ष और भारतीय क्रान्ति के निर्विवाद नेता के रूप में प्रस्तुत करती रही, जबकि विशेषकर 1969 के प्रारम्भ से 'लिबरेशन' में प्रकाशित चारु मजुमदार के लेखों-टिप्पणियों से (और अन्य लेखों से भी) वामपन्थी दुस्साहसवाद की लाइन एकदम खुलकर

सामने आने लगी थी। चीन की पार्टी से प्राप्त इस मान्यता ने चारु मजुमदार को अपनी लाइन आगे बढ़ाने में काफ़ी मदद पहुँचायी।

इस दौर में चीनी पार्टी के मीडिया का आचरण कई बार स्वयं माओ त्से-तुङ की शिक्षाओं के भी उलट नज़र आता है। मार्क्स से लेकर माओ तक, विश्व सर्वहारा के सभी महान शिक्षकों ने इस बात को बार-बार रेखांकित किया है कि प्रत्येक देश की कम्युनिस्ट पार्टी को अपने देश की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण करने के बाद अपनी लाइन और नीतियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं निर्धारित करनी चाहिए। कोमिण्टर्न के दौर के कुछ नकारात्मक अनुभवों के बाद चीन की पार्टी इस बात पर हमेशा से बहुत बल देती आयी थी। 1957 में लातिन अमेरिकी देशों की कुछ कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधिमण्डल से बातचीत के दौरान माओ ने स्पष्ट कहा था : "चीनी क्रान्ति का अनुभव, यानी देहाती आधार पर इलाके बनाने, गाँवों से शहरों को घेरने और अन्ततः शहरों को क्रब्जा करने का रास्ता, आपके बहुतेरे देशों में पूरी तरह लागू नहीं हो सकता है, हालाँकि यह आपके लिए एक सन्दर्भ का काम कर सकता है। मैं आपको विनम्र सुझाव देता हूँ कि चीनी अनुभव को यान्त्रिक ढंग से 'ट्रांसप्लाण्ट' न करें। किसी बाहरी देश का अनुभव मात्र सन्दर्भ की तरह काम कर सकता है, और उसे एक जड़सूत्र के समान क़तई नहीं लिया जाना चाहिए। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सार्वभौमिक सच्चाई और आपके अपने देश की ठोस परिस्थितियाँ – इन दोनों को समेकित किया जाना चाहिए।" (सम एक्सपीरियेन्सेज़ इन अवर पार्टीज़ हिस्ट्री', सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 5, पृष्ठ. 326)। गौरतलब है कि चीनी मीडिया में नक्सलबाड़ी और भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन पर छपने वाले लेखों का अप्रोच प्रायः माओ के उपरोक्त अप्रोच से अलग होता था। 'भारत में बसन्त का वज्रनाद' लेख में ही इस बात पर बल दिया गया था कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता चीन जैसा ही होगा। 'सिन्हुआ समाचार एजेन्सी' ने 27 दिसम्बर 1967 को एक लेख छपा : 'भारतीय क्रान्ति अध्यक्ष माओ द्वारा प्रकाशित दीप्तिमान मार्ग पर अग्रसर है।' थोड़े परिवर्तनों के साथ यही लेख 'भारतीय क्रान्ति में ऐतिहासिक मोड़बिन्दु' नाम से कुछ और पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था। लेख के इन दोनों रूपों में 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' की पहली घोषणा और उसके द्वारा घोषित कार्यभारों का हवाला दिया गया था। लेकिन तालमेल कमेटी के चार कार्यभारों में से जिस एक को गायब कर दिया गया था, वह था : 'मजदूर वर्ग और अन्य उत्पीड़ित जनगण के जुझारू क्रान्तिकारी संघर्षों को विकसित करना...।' यहाँ इस सम्भावना से इन्कार नहीं कि यह लोप जानबूझकर किया गया हो और यह कार्यवाई सुझावमूलक हो, क्योंकि चीनी टिप्पणीकार के दृष्टिकोण से यह कार्यभार 'चीनी रास्ते' की उनकी सोच के अनुकूल न हो। जो भी हो, यदि यह एक चूक भी थी तो गम्भीर थी और इसका पूरा लाभ वाम दुस्साहसवादी लाइन को ही मिलने वाला था। चीन की पार्टी लगातार इस आशय की बातें कर रही थी कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता चीनी क्रान्ति का रास्ता होगा और साथ ही वह चारु मजुमदार को ही भारतीय क्रान्ति का नेता बता रही थी। यही कारण था कि जब चारु ने 'चीन का रास्ता हमारा रास्ता' का नारा दिया और फिर उसे आगे बढ़ाते हुए यहाँ तक कहा कि 'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन'

तो तालमेल कमेटी के भीतर से कोई विरोध नहीं आया। जिनके द्वारा विरोध की सम्भावना हो सकती थी, उन्हें पहले ही किनारे लगाया जा चुका था। शेष लोगों की विचारधारात्मक समझ इतनी कमजोर थी कि चीन की पार्टी से प्राप्त मान्यता के बाद, कम-से-कम उस समय, उन्होंने इन नारों के औचित्य-अनौचित्य पर कुछ सोचने तक की जरूरत नहीं समझी।

जैसाकि इस निबन्ध में पहले उल्लेख आ चुका है, चारु मजुमदार के आठ दस्तावेजों में से शुरुआती छह में अतिवामपन्थी विचलन के सूत्र मौजूद थे, लेकिन नक्सलबाड़ी में क्रान्तिकारी जनदिशा पर अमल के बाद से लेकर 1969 के प्रारम्भ तक उन्होंने 'कॉम्बैट यूनिट्स' या वर्ग शत्रुओं के गुप्त सफ़ाये की कभी कोई चर्चा नहीं की। मई 1968 की अपनी दूसरी मीटिंग के बाद जारी अपनी घोषणा में तालमेल कमेटी ने स्पष्ट कहा था : *"यदि भारतीय जनता के शत्रुओं को उखाड़ फेंकना है, तो षड्यन्त्र के तौर-तरीकों को नहीं, बल्कि सिर्फ़ जनदिशा को अमल में लाना होगा।"* यह चर्चा भी आ चुकी है कि श्रीकाकुलम के गिरिजन संघर्ष के नेतृत्व से सम्पर्क होने, फ़रवरी 1969 में आन्ध्र की यात्रा करने और श्रीकाकुलम के साथियों को लेकर आन्ध्र राज्य तालमेल कमेटी बनाने के बाद चारु मजुमदार ने फिर अपनी लाइन को तेज़ी से और खुले तौर पर आगे बढ़ाया। श्रीकाकुलम में शुरुआती दौर में सफ़ाये की लाइन बड़े पैमाने पर सफलता से लागू हुई और अपनी लाइन में चारु का विश्वास और अधिक पुख़्ता हुआ। 'आठ दस्तावेजों' के 'कॉम्बैट यूनिट्स' का स्थान अब 'गुरिल्ला यूनिट्स' ने ले लिया। चारु मजुमदार ने *'छापामार कार्रवाइयों के बारे में कुछ बातें'* शीर्षक टिप्पणी में स्पष्ट किया कि छापामार इकाइयों का गठन षड्यन्त्रकारी तौर-तरीकों से होगा और वे जनसमुदाय से और पार्टी इकाइयों से भी गुप्त होंगी *'जिन्होंने ग़ैर-क्रान्ती कामों के लिए ज़रूरी तौर-तरीकों और अनुशासन में अभी महारत नहीं हासिल की है।'* कहने की जरूरत नहीं कि चारु मजुमदार की छापामार युद्ध की सोच माओ और चीन की पार्टी से एकदम अलग थी। चीन में छापामार युद्ध लोकयुद्ध की एक मंज़िल था जो व्यापक जनसमुदाय की सक्रिय सहायता से चलाया गया था और जिसने अपने से अधिक शक्तिशाली दुश्मन को भारी नुक़सान पहुँचाकर, उसकी कमजोर पकड़ और पहुँच वाले सुदूर देहाती क्षेत्रों में आधार इलाकों के निर्माण को अंजाम दिया। वर्ग-शक्ति-सन्तुलन में अधिक अनुकूल बदलाव होने के बाद लोकयुद्ध चलायमान युद्ध की उन्नततर अवस्था में और फिर अवस्थितियों के युद्ध ('पोज़ीशनल वारफ़ेयर') में प्रविष्ट हो गया।

चारु एक निश्चित सीमा तक जनता की लामबन्दी के बाद छापामार युद्ध की शुरुआत की जगह छापामार युद्ध को ही जनता को लामबन्द करने का एकमात्र रास्ता मानते थे और छापामार युद्ध का उनके लिए मतलब था, गुप्त दस्तों द्वारा वर्ग शत्रुओं का सफ़ाया। माओ ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के बारे में लिखते हुए यह स्पष्ट बताया था कि बुर्जुआ वर्ग के सफ़ाये (एनिहिलेशन) का मतलब यह नहीं है कि उसका शारीरिक तौर पर सफ़ाया कर दिया जायेगा, बल्कि इसका मतलब यह है कि एक वर्ग के रूप में उसका सफ़ाया कर दिया जायेगा। उन्होंने यह भी कहा था कि शत्रु को तबाह कर देने का मतलब है उसे निश्शस्त्र कर देना और प्रतिरोध करने की ताक़त से वंचित कर

देना (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड पाँच, पृ. 504, और सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड दो, पृ. 156)। माओ ने यह ज़रूर कहा था कि हर काउण्टी में किसानों और गरीबों पर बर्बर जुल्म ढाने वाले कुछ भूस्वामी और प्रतिक्रियावादी होते हैं। शत्रुओं को दबाने के लिए इनमें से सर्वाधिक ज़ालिम कुछ लोगों को मृत्युदण्ड दिया जा सकता है, लेकिन अन्धाधुन्ध हत्या सख्ती से वर्जित है, हत्याएँ जितनी कम हों उतना बेहतर (देखिए, रिपोर्ट ऑन ऐन इनवेस्टिगेशन ऑफ़ द पीज़ेण्ट मूवमेण्ट इन हुनान, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड एक, और ऐसैंशियल प्वाइण्ट्स इन द लैण्ड रिफ़ॉर्म इन दि न्यू लिबरेटेड एरिया, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड चार, पृ. 202)। चीन की पार्टी के पोलित ब्यूरो के एक महत्वपूर्ण सदस्य और भूमि सुधार के विशेषज्ञ जेन पी-शिह ने भी वर्ग शत्रुओं के दमन और हत्या के बारे में माओ के विचारों को ही अपने एक वक्तव्य में विस्तार दिया है और मज़े की बात यह है कि उनका यह भाषण 'लिबेरेशन' के मार्च 1968 के अंक (1, अंक 5) में प्रकाशित भी हुआ था (जेन पी-शिह, 'इम्पोर्टेंट क्वेश्चंस एराइज़िंग ड्यूरिंग द एग्रेरियन रिफ़ॉर्म इन चाइना', 'स्पीच टु ऐन एनलार्ज्ड सेशन ऑफ़ दि नॉर्थ-वेस्ट पीपुल्स लिबेरेशन आर्मी'ज़ फ़्रण्ट कमेटी, 12 जनवरी 1948, 'लिबेरेशन', मार्च 1968, पृ. 34, 37, 38, 42, 43)।

उपरोक्त चर्चा हमने यहाँ चार मजुमदार की लाइन के वाम दुस्साहसवादी चरित्र को स्पष्ट करने के लिए नहीं की है, यह तो निबन्ध में पहले ही किया जा चुका है। यहाँ यह चर्चा हम चीन की पार्टी के राजनीतिक व्यवहार में आये विचलन को समझने के लिए कर रहे हैं। माओ और चीनी पार्टी के लेखन में छापामार युद्ध की समझ पूरी तरह से क्रान्तिकारी जनदिशा पर आधारित है और वर्ग शत्रुओं की हत्या को संघर्ष का आम रूप बनाने के पक्ष में चीनी पार्टी क़तई नहीं थी। लेकिन उल्लेखनीय है कि जबसे (यानी 1969 के शुरू से) चारु मजुमदार ने अपनी वाम दुस्साहसवादी लाइन को एकदम खुलकर रखना और तेज़ी से आगे बढ़ाना शुरू किया था, उसी समय चीनी मीडिया दिन-रात चारु मजुमदार को उद्धृत कर रहा था और उन्हें भारतीय क्रान्ति के नेता के रूप में प्रस्तुत कर रहा था। सिर्फ़ एक उदाहरण यहाँ काफ़ी होगा। 'सिनहुआ समाचार एजेन्सी' ने 28 मार्च 1970 के अपने डिस्पैच में लिखा था : "भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के नेता चारु मजुमदार ने निर्दिष्ट किया है कि 1969 में संघर्ष के अमल ने सिद्ध कर दिया है कि : गरीब और भूमिहीन किसानों पर भरोसा करो। उन्हें माओ त्से-तुङ विचारधारा में शिक्षित करो; सशस्त्र संघर्ष के रास्ते पर दृढ़ता से डटे रहो, छापामार बलों का निर्माण करो और वर्ग शत्रुओं के सफ़ाये के रास्ते पर आगे बढ़ो, केवल तभी संघर्ष का ऊँचा ज्वार अप्रतिरोध्य रूप से आगे बढ़ सकता है" ('सीपीआई (एमएल) लीड्स इण्डियन पीपुल ऑनवर्ड अलांग द पाथ ऑफ़ सीज़िंग पावर बाइ आर्म्ड फ़ोर्स', 'लिबेरेशन' में पुनर्मुद्रित, III, अंक 6, अप्रैल 1970)। कहना न होगा कि इस तरह के महिमामण्डन और "प्रमाण पत्र" ने चारु मजुमदार की वर्ग शत्रुओं के सफ़ाये की लाइन को स्थापित होने में विशेष मदद पहुँचायी। स्मरणीय है कि यही वह समय था जब चारु मजुमदार अपनी और तालमेल कमेटी की पूर्ववर्ती अवस्थिति को पलटते हुए जन संगठनों और जनान्दोलनों का खुलकर विरोध करने लगे थे और उन्हें क्रान्तिकारी संघर्षों के रास्ते की बाधा तथा संशोधनवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा

देने वाला बताने लगे थे।

तालमेल कमेटी और फिर भाकपा (माले) विश्व परिस्थितियों का अपना आकलन भी आँख मूँदकर चीनी पार्टी के हिसाब से ही करती थीं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि 1969-70 के दौर में चीनी पार्टी के विश्व-परिस्थितियों के मूल्यांकन में, दो अतिमहाशक्तियों के बीच गहराती प्रतिस्पर्धा, तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना और साम्राज्यवाद के "अन्तिम ध्वंस" की सम्भावना के आधार पर, चन्द दशकों के भीतर विश्व सर्वहारा क्रान्ति की निर्णायक विजय की जो अतिआशावादी और अतिउत्साहवादी भविष्यवाणियाँ प्रस्तुत की जा रही थीं, उनका भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 'कन्फ़ेशन इन ऐन इम्पास : ए कमेण्ट ऑन निक्सन्स' "इन्गॉरल एड्रेस" एण्ड द कण्टेम्प्टिबल एप्लॉज बाय द सोवियत रिवीजनिस्ट रीनिगेड क्लिक', 'पीकिड रिव्यू', अंक 5, 1969 में प्रकाशित हुआ (चीनी भाषा के पार्टी मुखपत्रों में यह पहले प्रकाशित हो चुका था)। इस लेख के अन्त में यह आश्चर्यजनक रूप से बेतुकी भविष्यवाणी की गयी थी कि तीसरी सहस्राब्दी की शुरुआत यानी वर्ष 2001 सर्वहारा क्रान्ति और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा की विश्वव्यापी विजय के शानदार उत्सव का समय होगा। यह लेख 'लिबेरेशन' के मई 1969 अंक में भी पुनर्मुद्रित हुआ और फिर माकपा (माले) के भीतर इसी स्पिरिट और भाषा में क्रान्ति के भविष्य के बारे में बातें होने लगीं। बंगला मुखपत्र 'घटना प्रवाह' (दूसरा वर्ष, प्रथम अंक) ने भी अपने सम्पादकीय में लिखा कि क्रान्तिकारी चीन ने भविष्यवाणी कर दी है कि 2001 तक पूरी दुनिया में उत्पीड़ित जन मुक्त हो जायेंगे। 1969 में कलकत्ता में हुई मई दिवस रैली को सम्बोधित करते हुए कानू सान्याल ने भी इसी बात को दुहराया। 'पीकिड रिव्यू' के उपरोक्त लेख का अनुवाद बंगला मुखपत्र 'देशब्रती' में 5 जून 1969 को प्रकाशित हुआ। इस आधार पर, एक तरह से अंकगणितीय गणना करते हुए और ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्धति को धता बताते हुए चारु मजुमदार ने 1970 के दशक को भारतीय जनता की मुक्ति का दशक बनाने का आह्वान कर डाला ('लिबेरेशन', III, अंक 4, फ़रवरी 1970 में प्रकाशित लेख)। मई 1970 में पार्टी कांग्रेस में प्रस्तुत 'राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट' पर बोलते हुए भी उन्होंने इस बात को बल देकर दुहराया। फिर कुछ समय बाद 1975 को भारतीय क्रान्ति का वर्ष घोषित करते हुए उन्होंने चीनी भविष्यवाणी पर आधारित अपनी भविष्यवाणी के बेतुकेपन को चरम तक पहुँचा दिया। 'लिबेरेशन', सितम्बर-दिसम्बर 1970 में प्रकाशित अपने लेख 'मार्च ऑनवर्ड, डे ऑफ़ विकट्री इज नियर' में उन्होंने लिखा : "यदि यह डर (अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा चीन पर हमले का डर) सच भी हो जाये तो भी भारत 1975 तक मुक्त हो जायेगा ... चेरमैन (माओ त्से-तुङ) ने भारत के 50 करोड़ लोगों के प्रचण्ड विस्फोट की सम्भावना जब देखी तभी उन्होंने घोषणा की कि मानव सभ्यता का इतिहास 2001 में एक नये युग में प्रवेश कर जायेगा।" ज़ाहिर है यह एक अटकलबाज़ी से अधिक कुछ भी नहीं है और जो चीनी भविष्यवाणी इस अटकलबाज़ी का आधार है, वैसी कोई भी बात माओ त्से-तुङ की किसी भी टिप्पणी या वार्ता में कहीं पढ़ने को नहीं मिलती। बल्कि माओ की पहुँच इसके उलट

होने के ढेरों प्रमाण मिलते हैं। 'महान बहस' के दस्तावेज़ 'खुश्वेव का नकली कम्युनिज़्म और दुनिया के लिए इसके सबक' में माओ के इस कथन का हवाला मिलता है कि समाजवाद की निर्णायक विजय होने में एक-दो नहीं बल्कि पाँच-दस पीढ़ियों का या इससे भी अधिक समय लग सकता है। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, और अपने निधन के ऐन पहले तक माओ ने कई बार इस बात पर बल दिया कि चीन में और पूरी दुनिया के पैमाने पर समाजवाद की अन्तिम विजय सुनिश्चित होने में अभी काफ़ी समय लगेगा और इस दौरान लम्बे समय तक पूँजीवादी पुनर्स्थापना की सम्भावना बनी रहेगी। इसलिए तय है कि चीनी पार्टी की उपरोक्त बेतुकी भविष्यवाणी को माओ की भविष्यवाणी नहीं माना जा सकता।

1975 के वर्ष को क्रान्ति का वर्ष बनाने के उतावलेपन का नतीजा यह हुआ कि पहले से ही अधिकचरे, विचारधारात्मक रूप से अपरिपक्व पार्टी नेतृत्व और क्रतारों के दिमाग से यह बात ओझल हो गयी कि जनवादी क्रान्ति का रास्ता लोकयुद्ध का रास्ता होता है, जो दीर्घकालिक होता है। लोकयुद्ध के दौरों, चढ़ावों-उतारों और सामरिक रणनीतियों के बारे में माओ की सारी शिक्षा को ताक पर रखकर ही 1975 को क्रान्ति का वर्ष बनाया जा सकता था। इसकी एक तार्किक निष्पत्ति यह थी कि सफ़ाया अभियान को तेज़ गति से पूरे देश में चलाया जाये, क्योंकि चारु के अनुसार, इसी के प्रभाव से जनता को उठ खड़ा होना था। इसकी जो दूसरी तार्किक निष्पत्ति थी, वह कलकत्ता में छात्रों-युवाओं के अतिवामपन्थी उभार के रूप में सामने आयी, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

यह सही है कि चारु मजुमदार की वाम दुस्साहसवादी लाइन के पीछे यदि पूरे नेतृत्व का बड़ा हिस्सा खड़ा हो गया तो इसके बुनियादी कारण आन्तरिक ही हो सकते हैं और इसीलिए हमने निबन्ध के शुरू में ही भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक कमज़ोरी, उसके कारणों और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की है। लेकिन यह भी सही है कि चारु मजुमदार के नेतृत्व को, दो लाइनों के संघर्ष में (जिस हद तक भी उनकी लाइन का विरोध पार्टी के भीतर से और बाहर से उस समय हुआ) उनकी लाइन को आगे बढ़ाने में तथा स्थापित करने में 1969-70 के दौरान, भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में चीन की पार्टी के मनोगत एवं अपर्याप्त तथ्यों पर आधारित मूल्यांकनों की, भारतीय परिस्थितियों की उसकी ग़लत समझ की और तत्कालीन विश्व परिस्थितियों के आकलन में हुई कतिपय गम्भीर चूकों की एक भूमिका थी। चीनी पार्टी ने व्यवहार में, उस दौरान अपनी ही एक धारणा का किसी हद तक उल्लंघन किया कि किसी बड़ी और अनुभवी पार्टी को भी अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व की भूमिका निभाते हुए किसी अन्य देश की पार्टी को क्रान्ति की आम दिशा बतलाने का काम नहीं करना चाहिए। हालाँकि चीन की पार्टी के अप्रोच में इस मामले में एक क्षीण विच्युति ही थी, मुख्य ग़लती भारतीय नेतृत्व की थी, जो चीनी पार्टी के हर मूल्यांकन को अपने लिए दिशा-निर्देश समझता था।

बहरहाल, भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के सन्दर्भ में चीन की पार्टी से आकलन-मूल्यांकन सम्बन्धी उपरोक्त ऐसी गड़बड़ियाँ कैसे हुईं जो स्वयं माओ द्वारा निर्दिष्ट पहुँच-पद्धति

के प्रतिकूल थीं, इसके बारे में निश्चयात्मक भाषा में कोई बात करना विशुद्ध अटकलबाजी होगी। ज्यादा-से-ज्यादा, कुछ अनुमान लगाये जा सकते हैं और कुछ सम्भावनाओं की बात की जा सकती है। 1966 से 1969 तक, यानी चीनी पार्टी की नवीं कांग्रेस तक, चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रथम चक्र चला, जो एक तूफानी दौर था। इस दौरान, जैसा कि किसी भी पथान्वेषी क्रान्ति के साथ होता है, अतिरेक, असन्तुलन और गलतियाँ भी हुईं। माओ के नेतृत्व में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पक्ष ने पूँजीवादी पथगामियों को शिकस्त तो दी, पर पार्टी और राज्य के भीतर हुए ध्रुवीकरण में माओ के पक्ष में कई अधिकचरे वाम अतिरेकपन्थी भी आ खड़े हुए थे। और ऐसी स्थिति का लाभ कुछ करियरवादी भी उठाने की ताक में रहते ही हैं। जैसाकि बाद में पता चला, लिन प्याओ स्वयं एक वाम अतिरेकपन्थी और करियरवादी था। नवीं कांग्रेस के पहले ही उसके विरुद्ध अन्दरूनी संघर्ष की शुरुआत हो चुकी थी और 1970 के पूर्वार्द्ध तक पार्टी में उसका प्रभाव काफ़ी हद तक कम हो चुका था। इन्हीं जटिल परिस्थितियों में चीन की पार्टी के ये विचलन सामने आये थे। गौरतलब है कि लिन प्याओ के लेखों में भी एक सैन्यवादी विचलन की निरन्तरता दीखती है। आश्चर्य नहीं कि उसके लेखों से चारु मजुमदार बहुत प्रभावित रहते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि चीन की पार्टी के नेतृत्व ने 1970 के शुरुआती महीनों से, अन्दरूनी तूफान कुछ शान्त होने और चीजों के किसी हद तक व्यवस्थित होने के बाद भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की स्थिति का, उसके दस्तावेजों का और मुखपत्रों में प्रकाशित लेखों का व्यवस्थित ढंग से मूल्यांकन किया। वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन इस समय तक अपने बचकाने, नग्न और प्रहसनात्मक रूप में पूरे निखार पर थी और उसके बारे में नतीजे पर पहुँचना बहुत कठिन नहीं था।

## सौरिन बसु की चीन यात्रा और चीनी पार्टी के बिरादराना सुझाव

मई 1970 में हुई भाकपा (माले) की पार्टी कांग्रेस के कुछ पहले से ही चीनी मीडिया में भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में आने वाली रिपोर्टों की संख्या काफ़ी कम हो गयी थी। 1970 के मध्य से ऐसी रिपोर्टें और खबरों का प्रसारण एवं प्रकाशन पूरी तरह से बन्द हो गया। पार्टी कांग्रेस के दस्तावेज भी सम्पर्क के जरिये चीनी पार्टी तक भेजे गये, लेकिन सन्नाटा फिर भी बरकरार रहा। और पूछताछ करने पर यह सुझाव मिला कि पार्टी को विचार-विमर्श के लिए अपना एक प्रतिनिधिमण्डल चीन भेजना चाहिए। इसके बाद पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने अपना एक प्रतिनिधिमण्डल चीन भेजने का फैसला लिया। प्रतिनिधिमण्डल में सौरिन बसु, सुनीति कुमार घोष और सरोज दत्त को जाना था, लेकिन कुछ अपरिहार्य तकनीकी कारणों से सुनीति कुमार घोष और सरोज दत्त का जाना सम्भव न हो सका और अकेले सौरिन बसु 25 अगस्त 1970 को पेरिस, लन्दन और अल्बानिया की राजधानी तिराना होते हुए पेइचिंग के लिए रवाना हुए।

लन्दन में 27 अगस्त से 12 सितम्बर तक रुकने के दौरान उनकी मुलाकात ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के चेयरमैन रेजबर्ग, वाइस-चेयरमैन बिल ऐश, पोलित ब्यूरो सदस्य रंजना

ऐश और न्यूजीलैण्ड की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के चेयरमैन टेलर से हुई। इन नेताओं ने चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति भाकपा (माले) की निष्ठा को प्रश्नांकित करते हुए कहा कि किसी एक पार्टी की दूसरी बिरादराना पार्टी के प्रति निष्ठा नीति के तौर पर उचित नहीं है। उन्होंने शहरों में की जा रही कार्रवाइयों और सफ़ाये की लाइन की भी आलोचना की और कहा कि शहरी क्षेत्र के 'ऐक्शनस' में काफ़ी क्रान्तिकारी ऊर्जा ज़ाया हो रही है। उन्होंने 'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन' नारे की भी कठोर आलोचना की और चारु के इस कथन के साथ भी असहमति ज़ाहिर की कि 'जिसके हाथ वर्ग शत्रु के खून से न रँगें हों, वह कम्युनिस्ट कहलाने के क्राबिल नहीं है।' उनका कहना था कि दुनिया की किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता के मुँह से ऐसी चलताऊ टिप्पणी नहीं सुनी गयी है। ब्रिटेन और न्यूजीलैण्ड के इन पार्टी नेताओं का विचार था कि भाकपा (माले) के पास देहाती इलाक़ों में किसानों के संघर्षों के अनुरूप कोई भूमि-नीति (एग्रेरियन पॉलिसी) नहीं है और क्रान्तिकारी जनता की सशस्त्र शक्तियों को ठीक से संगठित किये बिना, देहाती इलाक़ों में जो भी उपलब्धियाँ हैं, उन्हें बचाये नहीं रखा जा सकता। उन्होंने चारु मजुमदार के कुछ लेखन की विशेष तौर पर आलोचना की, जिनमें उन्होंने कहा था कि भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन द्वारा अब तक संघर्ष के जो भी तरीक़े विकसित किये गये हैं, वे वर्तमान युग में पूरी तरह अनुपयोगी हो चुके हैं ('लिबरेशन', सितम्बर 1969, पृ. 8-9) उनका कहना था कि प्रत्येक देश में जनता के संघर्षों के ज़रिये कार्यशैली का विकास होता है और भारतीय जनता ने अब तक जो कार्यशैली विकसित की है, उसे मात्र इस आधार पर सिरे से ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि संघर्षों का नेतृत्व ग़लत नेताओं के हाथों में था। उन्होंने चारु मजुमदार की इस प्रस्थापना के साथ भी असहमति ज़ाहिर की कि पार्टी के भीतर के हर भटकाव को 'संशोधनवाद' माना जाना चाहिए। उनका कहना था कि भटकाव को ग़लतियों के रूप में देखा जाना चाहिए और ग़लतियाँ नेतृत्व के साथियों सहित किसी से भी हो सकती हैं। ग़लतियों को बातचीत और जाँच-पड़ताल के ज़रिये ठीक किया जा सकता है। इन नेताओं ने इस बात की भी आलोचना की कि भाकपा (माले) की नीतियों और व्यवहार में जनान्दोलन और ट्रेड यूनियन गतिविधि पूरी तरह से अनुपस्थित हैं।

बातचीत के दौरान ब्रिटेन और न्यूजीलैण्ड के पार्टी नेताओं ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि लगभग यही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के भी विचार हैं, लेकिन सौरन बसु को इस बात पर पूरा विश्वास नहीं था। उनकी सारी शंकाओं का निवारण उस समय हो गया, जब पेइचिंग में उनकी बातचीत चाऊ एन-लाई और काङ शेङ से हुई। लन्दन से सौरन बसु रोम और तिराना होते हुए पेइचिंग पहुँचे। तिराना में अल्बानियाई नेताओं से राजनीतिक मसलों पर उनकी कोई बात नहीं हुई और उन लोगों ने उनके पेइचिंग जाने का प्रबन्ध कर दिया। 24 सितम्बर '70 को वह पेइचिंग पहुँचे और एक माह बाद, 29 अक्टूबर '70 को उनकी चाऊ एन-लाई और काङ शेङ से मुलाक़ात और बातचीत हुई। बातचीत के बाद गेस्ट हाउस पहुँचकर सौरन बसु ने मुख्य बिन्दुओं को कुछ पन्नों पर दर्ज कर लिया था (क्योंकि उन्हें पूरे नोट्स लेकर भारत वापस लौटने से मना किया गया था) और उसी आधार पर बाद में अपनी रिपोर्ट तैयार की। कुछ ही वर्षों बाद चीनी पार्टी के नेतृत्व

की ओर से पूरी वार्ता का कार्यवृत्त जारी कर दिया गया, जो न केवल सौरन बसु की रिपोर्ट की पुष्टि करता था, बल्कि उसमें पूरी बातचीत का अधिक विस्तृत ब्यौरा मौजूद था।

ढाई घण्टे की इस बातचीत की शुरुआत में चाऊ एन-लाई ने भाकपा (माले) की स्थापना, उसकी उपलब्धियों और पहली कांग्रेस के लिए बधाई दी और इसे भारतीय जनता के साथ ही अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए भी एक विजय बताया। उन्होंने कहा कि चीनी जनता की पीठ पर क्रान्ति के पहले तीन पहाड़ लदे थे, जबकि भारतीय जनता की पीठ पर साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल पूँजीवाद के साथ ही एक चौथा पहाड़ – आधुनिक संशोधनवाद भी लदा हुआ है। सोवियत संघ में जिस सामाजिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है, यह पुराने संशोधनवादियों से इस मायने में भिन्न है कि इसके पास राजनीतिक सत्ता और सशस्त्र बल है। इसके बाद उन्होंने भाकपा (माले) की शुरुआती सफलताओं के लिए बधाई देते हुए इसे दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भारत में एक नयी विजय बताया।

इसके बाद चाऊ एन-लाई ने 'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन' नारे की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की और कहा कि यह एक महत्वपूर्ण उसूली सवाल है। किसी एक पार्टी के चेयरमैन को दूसरी पार्टी का नेता मानना माओ त्से-तुङ विचारधारा के विपरीत है। उन्होंने स्पष्ट किया कि दो पार्टियों के बीच सम्बन्ध बिरादराना होते हैं और किसी एक पार्टी को अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का नेता नहीं माना जा सकता। उन्होंने बताया कि वर्तमान परिस्थितियों में चीनी पार्टी तीसरे इण्टरनेशनल जैसे किसी अन्तरराष्ट्रीय संगठन के निर्माण के विचार का विरोध करती है। इतिहास के उदाहरणों से उन्होंने बताया कि इससे किस प्रकार "बड़ा भाईवाद" ("बिग ब्रदरिज़्म") पैदा होता है, जिसे चीनी पार्टी सख्ती से नापसन्द करती है। उनका यह भी कहना था कि किसी दूसरे देश की पार्टी के चेयरमैन को अपनी पार्टी का चेयरमैन बताना जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को भी आहत करता है।

एक सच्ची सर्वहारा पार्टी के निर्माण की आवश्यकता के बारे में बात करते हुए चाऊ एन-लाई ने वामपन्थी दुससाहसवाद की परोक्ष आलोचना यह कहकर की कि कोई भी ऐसी पार्टी अनिवार्यतः जनदिशा का अनुपालन करती है और जनता से निकट सम्पर्क बनाये रखती है। देहातों में काम के अपने अनुभवों को बताते हुए चाऊ एन-लाई ने वर्ग-शत्रुओं की हत्या को संघर्ष की आम लाइन बनाने का विरोध किया और कहा कि ज़रूरत पड़ने पर जन समुदाय की गहरी घृणा के पात्र कुछ सामन्तों और ज़ालिमों को मारा जा सकता है, लेकिन यह जन समुदाय की माँग के आधार पर किया जाना चाहिए और इसके पहले उन पर सार्वजनिक तौर पर मुक़दमा चलाया जाना चाहिए। जब जन समुदाय पूरी तरह से लामबन्द हो जाता है और हम क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त के लिए हथियारबन्द ताक़त का इस्तेमाल करने लगते हैं तथा ज़मीन और अनाज बाँटने भी लगते हैं, तब ऐसी स्थिति में पहुँचकर किसान आबादी आपस में ज़मीन और अनाज खुद बाँटने का साहस जुटा पाती है। खुले तौर पर जन समुदाय को लामबन्द करने के लिए किसी भूमि नीति (एग्रेरियन पॉलिसी) का होना ज़रूरी है, जिसे फिर पार्टी व्यवहार के ज़रिये एक भूमि कार्यक्रम

(एंग्रेरियन प्रोग्राम) के रूप में विकसित करती है।

अतिवामपन्थी भटकाव के अपने स्वयं के अनुभवों की चर्चा करते हुए चाऊ एन-लाई ने बताया कि पहली क्रान्ति की पराजय के बाद, चीन में भी "वामपन्थी" भटकाव की लाइन कुछ समय के लिए पैदा हुई थी। थोड़े से लोग हथियार लेकर गाँवों में जाते थे और कुछ भूस्वामियों को मार देते थे। ऐसी कार्रवाई के पहले जनता के बीच प्रचार और लामबन्दी जैसा कोई काम नहीं होता था। कार्रवाई के बाद लोगों से उठ खड़ा होने की अपेक्षा की जाती थी और उनमें ज़ब्त अनाज बाँटने जैसे काम किये जाते थे। लेकिन जल्दी ही आसपास के गाँवों-शहरों का सैन्यबल घटना-स्थल पर पहुँच जाता था, और फिर हथियारबन्द उन्नत तत्वों को या तो भागता पड़ जाता था या फिर उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाता था अथवा हत्या कर दी जाती थी। ऐसे "वामपन्थी" भटकाव के इलाकों में पार्टी को काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा। इसलिए, गाँवों में सशस्त्र संघर्ष को नेतृत्व देते समय सबसे बुनियादी मुद्दा पार्टी की राजनीतिक लाइन, उसूलों और नीतियों का होता है और यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि हमने व्यापक जनसमुदाय को लामबन्द किया है अथवा नहीं, उन पर भरोसा किया है या नहीं। इसके बिना हम अपने पैर क़तई नहीं जमा सकते।

कहने की ज़रूरत नहीं कि अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए चाऊ एन-लाई ने वर्ग शत्रु के सफ़ाये और सभी प्रकार के जनान्दोलनों के निषेध की भाकपा (माले) की लाइन की एक स्पष्ट और दोटूक आलोचना रख दी थी। शहरी 'ऐक्शनस' के बारे में भी चाऊ एन-लाई ने 1927 के अपने अनुभवों का हवाला दिया, जब वह स्वयं शंघाई में ऐसी कार्रवाइयों के इंचार्ज थे। कुछ पुलिस अधिकारियों की हत्या और ग़ैरक्रान्ती पक्षों के वितरण जैसी कार्रवाइयों की गयीं, लेकिन अन्ततोगत्वा नतीजा यह निकला कि यह सब कुछ विशुद्ध दुस्साहसवाद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उन्होंने दोटूक शब्दों में कहा कि खुले ट्रेड यूनियन कार्यों और खुले जनान्दोलनों को "पुराना पड़ चुका" मानना और दस्ते बनाकर गुप्त तरीके से की जाने वाली हत्याओं को ("छापामार युद्ध" मानते हए) क्रान्ति को आगे बढ़ाने का एकमात्र रास्ता मानना ग़लत है और इस पर सोचने की ज़रूरत है। चारु मजुमदार के आत्मबलिदान के आह्वान पर परोक्ष टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि पहली बात, दुस्साहसवाद के लिए जान देना आत्म-बलिदान नहीं है, और दूसरी बात, आत्म-बलिदान के साथ-साथ यदि आत्म-परिरक्षण पर भी बराबर ध्यान न दिया जाये, तो इससे क्रान्ति को ही नुकसान पहुँचता है। चाऊ एन-लाई ने इस बात पर बल दिया कि जनदिशा लागू करने के साथ ही पार्टी को आलोचना-आत्मालोचना के जरिये अपने शुद्धीकरण की प्रक्रिया लगातार चलानी चाहिए। नेतृत्व और क़तारों के बीच इस प्रक्रिया को यदि न चलाया जाये तो पार्टी का सही रास्ते से विचलन अवश्यम्भावी होता है।

चाऊ एन-लाई ने कहा कि शत्रु को परास्त करने के लिए पार्टी के बाद दूसरा प्रमुख अस्त्र सेना है, जनता की एक ऐसी संगठित सशस्त्र शक्ति, जो पार्टी के नेतृत्व में काम करती हो और सही नीतियों को लागू करती हो। क्रान्ति का तीसरा प्रमुख हथियार सभी क्रान्तिकारी वर्गों का संयुक्त मोर्चा है जिसका अगुवा सर्वहारा वर्ग हो तथा नेतृत्व पार्टी के हाथों में हो। चाऊ एन-लाई ने चारु

मजुमदार द्वारा प्रस्तुत इस स्थापना को भी ग़लत बताया कि विभिन्न संश्रयकारी वर्गों का संयुक्त मोर्चा तभी बन सकता है जब कुछ इलाक़ों में सत्ता पर क़ब्ज़ा हो जाये। उन्होंने बताया कि संयुक्त मोर्चे का निर्माण एक प्रक्रिया होता है। संघर्ष की विभिन्न मंज़िलों में, इसमें कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। संयुक्त मोर्चे में उन सभी को शामिल किया जाना चाहिए जिन्हें अपने पक्ष में किया जा सके, और जिन्हें अपने पक्ष में करना सम्भव न हो उन्हें निष्क्रिय या निष्पक्ष बना दिया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि बुर्जुआ वर्ग का ठीक से अध्ययन किया जाना चाहिए और साम्राज्यवाद से अन्तरविरोध रखने वाले राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हिस्सों की सटीक शिनाख़्त की जानी चाहिए।

चारु एन-लाई के चले जाने के बाद काड शोड ने बातचीत के सिलसिले को आगे बढ़ाया। उन्होंने नक्सलबाड़ी संघर्ष की, उस संघर्ष के अन्य इलाक़ों में फैलाव की, क्रतारों की बहादुरी की, भाकपा (माले) द्वारा साम्राज्यवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष की, तथा सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को दिये जाने वाले समर्थन और माओ विचारधारा के प्रति सम्मान की सराहना करते हुए कहा कि भाकपा (माले) और चीन की पार्टी बिरादर पार्टियाँ हैं, उनके रिश्ते बराबरी के हैं, इसलिए चीनी पार्टी के चेयरमैन को भारतीय पार्टी का चेयरमैन नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा कि चूँकि भाकपा (माले) एक नयी पार्टी है, इसलिए इसमें कुछ कमज़ोरियों और ग़लतियों का होना स्वाभाविक है। संयुक्त मोर्चे के बारे में चारु मजुमदार की ग़लत सोच को उन्होंने भी रेखांकित किया।

'लिब्रेशन' में प्रकाशित चारु मजुमदार के लेख 'चाइना'ज़ चेयरमैन इज़ अवर चेयरमैन, चाइना'ज़ पाथ इज़ अवर पाथ' को चीनी पार्टी के मुखपत्रों में प्रकाशित नहीं करने के पीछे के कारणों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि इस लेख में जो आपत्तिजनक है, वह इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है। चारु मजुमदार के दूसरे लेख 'मार्च ऑनवर्ड बाइ समिंग अप द एक्सपीरियेंस ऑफ़ द पीज़ेण्ट रिवोल्युशनरी स्ट्रगल ऑफ़ इण्डिया' को प्रकाशित न करने का कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि इस लेख में जन संगठन, जनान्दोलन, ट्रेड यूनियन आदि के बारे में जो स्थापनाएँ दी गयी हैं, उन पर चीनी पार्टी को आपत्ति है। 'छापामार युद्ध ही जन समुदाय को लामबन्द करने का एकमात्र रास्ता है' - लिन प्याओ के इस उद्धरण को चारु ने अपनी लाइन के पक्ष में और जनकार्रवाइयों के निषेध के लिए एक तर्क के रूप में प्रस्तुत किया था। काड शोड ने स्पष्ट किया कि यह बात सामरिक सन्दर्भों में कही गयी है, युद्ध की उस मंज़िल के सन्दर्भ में, जब दो सेनाओं की शक्ति असमान हो। उन्होंने कहा कि 'वर्ग शत्रु के सफ़ाये' का मतलब यदि जन समुदाय से कटे हुए गुप्त दस्तों द्वारा हत्या की कार्रवाई है, तो यह ख़तरनाक है।

काड शोड ने कहा कि भाकपा (माले) की आम दिशा सही है, लेकिन कुछ नीतियाँ ग़लत हैं। चीनी पार्टी के पास भूमि क्रान्ति का एक कार्यक्रम था, जिसके आधार पर उसने सत्ता-दखल के लिए किसानों को लामबन्द किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय पार्टी भूमि संघर्ष और छापामार युद्ध के बीच के सम्बन्ध के सवाल को अभी तक हल नहीं कर पायी है। उन्होंने इंगित

किया कि यह सूत्रीकरण कि 'किसान ज़मीन के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक सत्ता के लिए लड़ रहे हैं' - ग़लत है, क्योंकि भूमि-क्रान्ति का सवाल और राजनीतिक सत्ता का सवाल एक-दूसरे के जुड़े हुए हैं और वे अलग नहीं किये जा सकते। जनान्दोलन और जनसंगठन छापामार युद्ध के लिए बाधा नहीं होते, बल्कि उनका न होना छापामार युद्ध के लिए बाधा होता है।

अन्त में काड शोड ने यह सुझाव दिया कि नीतिगत मामलों की इन सभी ग़लतियों को क्रदम-ब-क्रदम इस तरह ठीक किया जाना चाहिए कि पार्टी क्रतारों और जन समुदाय के उत्साह को धक्का न लगे। हमें अपनी ग़लतियों को ठीक करने में अधैर्य से काम नहीं लेना चाहिए और बदलाव एक झटके से नहीं होना चाहिए।

इस बातचीत के बाद 31 अक्टूबर '70 को सौरन बसु पेइचिंग से रवाना हुए और शंघाई, कैण्टन, ढाका, कराची, रोम होते हुए तिराना पहुँचे। तिराना और लन्दन में कुछ दिन रुकने के बाद वह 27 नवम्बर को कलकत्ता पहुँचे। सुनीति कुमार घोष (चारु मजुमदार के गुप्त शेल्टर के प्रबन्धन की जिम्मेदारी उन्हीं की थी) सौरन बसु को चारु मजुमदार के शेल्टर पर ले गये। सौरन बसु ने संक्षेप में बताया कि चीनी नेताओं ने पार्टी लाइन की क्या आलोचना रखी है! सुनीति कुमार घोष के अनुसार, बातचीत के दौरान चारु को बेहोशी का दौरा पड़ गया। फिर उन्हें कुछ दवाएँ दी गयीं और बातचीत अगली शाम के लिए टाल दी गयी। सौरन बसु ने जब अपनी लिखित रिपोर्ट चारु मजुमदार को दी, उस समय सुनीति कुमार घोष वहाँ नहीं थे। वह पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के हिसाब से, असीम चटर्जी से मिलने जा चुके थे।

सुनीति कुमार घोष के अनुसार, 1 या 2 दिसम्बर को वह चारु को एक शेल्टर का इन्तज़ाम करके पुरी ले गये। उस समय चारु अन्दर से इतने हिले हुए थे कि एक दिन रो भी पड़े। सुनीति कुमार घोष को विश्वास था कि चीनी पार्टी के सुझावों को चारु मजुमदार कम-से-कम पार्टी के कुछ नेतृत्वकारी कामरेडों के सामने विचार-विमर्श के लिए रखेंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं रखा। 7 दिसम्बर को जब सुनीति घोष कलकत्ता लौट रहे थे तो चारु ने उन्हें एक टिप्पणी थमायी जिसमें पश्चिम बंगाल में जन मुक्ति सेना के गठन की घोषणा की गयी थी। टिप्पणी में लिखा गया था कि मागुरजान में राइफल छीनने की घटना ने स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिम बंगाल के किसानों की जन-मुक्ति सेना का उदय हो गया है, अब से ग़रीब और भूमिहीन किसानों के सभी छापामार दस्ते पार्टी के नेतृत्व वाली जन मुक्ति सेना के 'कण्टिन्जेण्ट्स' होंगे और कमाण्डरों का चुनाव करने में ग़रीब और भूमिहीन किसानों को प्राथमिकता दी जायेगी। शायद दुनिया में पहली बार इस प्रकार जन मुक्ति सेना का गठन हो रहा था। उल्लेखनीय है कि इस घोषणा के पहले चारु मजुमदार ने नेतृत्व के किसी भी साथी से बातचीत तक नहीं की थी। 'लिबेरेशन' में इस नोट के प्रकाशन के बाद इस पर सुशीतल राय चौधुरी ने भी सवाल उठाया था, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। चारु मजुमदार के बाद के निर्णयों और गतिविधियों से यह साफ़ हो गया कि चीनी सुझावों के सबके सामने आने के पहले वे अपनी लाइन को ठोस परिस्थितियों के हवाले से धीरे-धीरे बदल कर उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा चीनी सुझावों के निकट ला देना चाह रहे थे ताकि चीनी पार्टी की आलोचनाओं

से न क्रतारों को अधिक झटका लगे, न ही उनके सम्मान को अधिक आँच आये। इसकी चर्चा आगे आयेगी।

सुनीति घोष के कलकत्ता लौटने के बाद सरोज दत्त ने 8 दिसम्बर '70 की सुबह उनसे कहा कि चीनी नेता हमारी पार्टी लाइन के प्रति आलोचनात्मक रख रखते हैं, यह किसी को बताना नहीं है। इसके बाद सरोज दत्त पुरी गये और उनके लौटने के बाद सौरन बसु गये जो दिसम्बर के अन्त में चारु को कलकत्ता वापस लिवा लाये। सुनीति घोष के इम्पेशन के अनुसार, कलकत्ता में चारु को फिर उन्होंने उनके पुराने आत्मविश्वास के साथ पाया। सरोज दत्त और सौरन बसु जैसे अपने और अपनी अतिवामपन्थी लाइन के उत्कट समर्थकों से बातचीत और कार्य योजना तय होने के बाद चारु अब द्वन्द्व-मुक्त हो गये थे और उनका खोया आत्मविश्वास वापस आ गया था।

इस तरह, जिस बात की सुनीति घोष को भी क्रतई उम्मीद नहीं थी, चीनी पार्टी नेतृत्व के आलोचनात्मक सुझावों को चारु मजुमदार ने पार्टी के नेतृत्वकारी कामरेडों के सामने भी नहीं रखा और उसे एकदम से दबा दिया गया। यह चारु मजुमदार के राजनीतिक अवसरवाद के, एक मुकाम पर पहुँचकर, व्यक्तिगत अवसरवाद में परिणत हो जाने का सूचक था। इस मुकाम पर पहुँचकर 'स्व' का सवाल और आत्मप्रतिष्ठा का सवाल उनके लिए क्रान्ति और पार्टी के हित के ऊपर हो गया था।

निस्सन्देह, यदि चीनी सुझावों को तत्काल पार्टी नेतृत्व के सामने और फिर पूरी पार्टी के भीतर बहस के लिए खुला कर दिया जाता तो वाम दुस्साहसवादी भटकाव के चलते आगे के दौरों में भी, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को जो नुकसान उठाने पड़े, उनसे काफ़ी हद तक बचा जा सकता था। फिर यदि जनदिशा की धारा मज़बूत होती, तो संशोधनवादी राजनीति को भी ज़्यादा सांघातिक चोट पहुँचायी जा सकती थी। पर चारु मजुमदार की एक अक्षम्य ऐतिहासिक गलती ने ऐसा नहीं होने दिया।

इस पूरे प्रसंग में सबसे दिलचस्प, और सवालों के घेरे में आने वाली भूमिका तो सौरन बसु की थी। सौरन बसु और सरोज दत्त ही वे दो व्यक्ति थे, जो इस बात की जीतोड़ कोशिश कांग्रेस के समय से ही करते आ रहे थे कि चारु को भारतीय पार्टी में 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' का दर्जा दे दिया जाये, जैसा चीनी पार्टी में माओ का था। इस बात की पीछे कुछ चर्चा आ चुकी है और आगे भी कुछ आयेगी। चीन में बातचीत के दौरान, जैसा कि सौरन बसु ने स्वीकार किया था कि उनका सारा विश्वास जड़मूल से हिल गया था। भारत लौटकर एक ओर तो वह पूरी मुस्तैदी के साथ अपने को चारु मजुमदार के साथ खड़ा दिखा रहे थे और उन्हें यह मशविरा दे रहे थे कि चीनी सुझावों को अभी पार्टी में खुला करने की ज़रूरत नहीं है, दूसरी ओर वह खुद ही इन सुझावों के बारे में पार्टी में यहाँ-वहाँ थोड़े-बहुत इशारे छोड़ते जा रहे थे।

असीम चटर्जी ने स्वयं बाद में लिखा था कि सौरन बसु से चीनी सुझावों के बारे में जो थोड़ी-सी जानकारी मिली थी, उसने चारु मजुमदार की लाइन के विरुद्ध उनके विद्रोह में निर्णायक भूमिका निभायी थी। मार्च 1971 में गिरफ्तारी के बाद सौरन बसु ने जेल में मौजूद नेतृत्व के साथियों को

चीनी सुझावों के बारे में तफ़सील से बताया और उन सुझावों को पूरी पार्टी के समक्ष रखकर उनके अनुरूप पार्टी लाइन में बदलाव करने की अपील करते हुए चारु को पत्र लिखने वाले आठ लोगों में भी शामिल हुए। यह चर्चा निबन्ध में आगे आयेगी।

अब यदि हम पश्चदृष्टि से देखते हुए चीनी पार्टी की आलोचना और सुझावों का मूल्यांकन करें, तो कुछ बातें गौरतलब हैं। पहली बात तो वाम दुस्साहसवादी कार्यदिशा की यह आलोचना लगभग पूरी तरह सही, सटीक और सभी पक्षों को समेटने वाली थी। लेकिन उस दौर के सभी दस्तावेजों और इतिहास को देखने के बाद, चीनी पार्टी नेतृत्व का यह आकलन सही नहीं प्रतीत होता कि भाकपा (माले) की आम दिशा सही थी और केवल कुछ नीतियाँ ग़लत थीं। तथ्य तो यह बताते हैं कि पार्टी कांग्रेस के पहले ही, पार्टी में जनदिशा की बात करने वाली हर मुखर आवाज़ को किनारे किया जा चुका था और कांग्रेस की कार्यवाही तक से यही पता चलता है कि बचे-खुचे दुलमुल और नरमपन्थी व्यक्तियों को 'मैनेज' करके पार्टी पर पूरी तरह वाम दुस्साहसवादी लाइन हावी हो चुकी थी। 1969 से ही तालमेल कमेटी और पार्टी अतिवामपन्थी लाइन को ही लागू कर रही थी। यह मार्क्सवाद से एक सुसंगत विचलन था और विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन का सवाल था, न कि सिर्फ़ नीतियों का सवाल था। चीनी पार्टी नेतृत्व ने इन ग़लतियों को क्रमशः, क्रम-ब-क्रम ठीक करने का सुझाव दिया, ताकि जनता और क्रतारों में निराशा न फैले। इतिहास बताता है कि विचारधारात्मक ग़लतियाँ इंच-इंच करके क्रमिक प्रक्रिया में ठीक नहीं होतीं, बल्कि विचारधारात्मक रूप से ग़लत लाइन के विरुद्ध तत्क्षण संघर्ष छेड़कर, उस पर 'फ़ण्टल अटैक' करके, एक झटके के साथ ही उसे परास्त या नेस्तनाबूद किया जा सकता है। विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष में हमें लेनिन का यही अप्रोच देखने को मिलता है। रूश्वेवी संशोधनवाद के विरुद्ध एक बार संघर्ष खुला करने के बाद चीनी पार्टी ने 'महान बहस' के दौरान शानदार भूमिका निभायी थी, लेकिन यह भी सच है कि इस काम में उसने सात वर्षों की देरी की। इस दौरान द्विपक्षीय स्तर पर सोवियत पार्टी को समझाने का काम चलता रहा और ग़लत लाइन के साथ समझौते भी किये जाते रहे। चीनी पार्टी के भीतर के पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष में भी कई बार यह अप्रोच दीखता है। स्थानाभाव के कारण हम इसकी तफ़सील से चर्चा नहीं कर सकते, लेकिन हमारा यह आकलन है कि चीन की पार्टी कई बार सांगठनिक हित और एकता को कमान में रखकर विचारधारात्मक और उसूली संघर्षों को भी क्रम-ब-क्रम करके लड़ने का या खुले संघर्ष में देरी करने का रुख अपनाती थी, जो ग़लत है। उपरोक्त सुझाव में भी इस बात की झलक दिखायी देती है।

तीसरी बात, अपने सुझावों में हालाँकि चीन की पार्टी बिरादराना थी और पार्टी लाइन विषयक निर्देश देने का उसका रवैया बिल्कुल नहीं था, लेकिन उसके कुछ मूल्यांकनों का वस्तुगत तौर पर ग़लत प्रभाव पड़ना ही था। चाऊ एन-लाई और काङ शेङ यह मानकर चल रहे थे कि भारत में चीन जैसी ही नवजनवादी क्रान्ति होनी है। सही परामर्श तो इस सम्बन्ध में यह होता कि वे भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को जनदिशा पर काम करने के साथ-साथ भारतीय समाज के

उत्पादन-सम्बन्धों, वर्गीय संरचना और अधिरचना का स्वतन्त्र रूप से ठोस अध्ययन करके क्रान्ति की मंज़िल, प्रकृति और रणनीतिक वर्ग-संश्रय के बारे में नतीजे निकालने की राय देते, जैसा कि तालमेल कमेटी ने तय भी किया था। हालाँकि माओ इस बात पर विशेष बल देते थे कि हर देश के कम्युनिस्टों को अपने देश की विशिष्टताओं का अध्ययन करके क्रान्ति के स्वरूप और रास्ते के बारे में स्वयं तय करना होता है, लेकिन विशेषकर 1960 के दशक में चीन की पार्टी अक्सर इस प्रकार के अतिसामान्यीकरण का शिकार दीखती है कि एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के अधिकांश देशों की क्रान्ति का रास्ता चीनी क्रान्ति का ही रास्ता होगा। दुनिया-भर में 1960 और 1970 के दशक में गठित अधकचरी, अपरिपक्व माले पार्टियों ने इस बात को खींचकर वहाँ पहुँचा दिया कि क्रान्ति की मंज़िल और कार्यक्रम के सवाल को भी विचारधारा का अंग बना दिया और ऐसे हास्यास्पद सूत्रीकरण देने लगे कि जो कथित तीसरी दुनिया के देशों में नव-जनवादी क्रान्ति को नहीं मानता, वह माओ विचारधारा/माओवाद को ही नहीं मानता। बहरहाल, मूल विषय पर लौटने के लिए इस प्रसंग को भी हमें समेटकर यहीं छोड़ना होगा।

(अगले अंक में जारी)

# विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के सम्बन्धों का एक अवैज्ञानिक और अज्ञानतापूर्ण पाठ : एक आलोचना

• सनी सिंह

## 1. परिचय

*"अज्ञानता कोई तर्क नहीं होता है।"*

(Ignorance is no argument)

- स्पिनोज़ा

'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' पत्रिका के पहले अंक में प्रकाशित दीपक बख्शी का लेख 'मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्याएँ' प्रथम-दृष्टया गम्भीर विषयवस्तु पर विमर्श का प्रयास लगता है। बख्शी मार्क्सवाद के अपूर्ण व पुराने पड़ चुके सिद्धान्तों के 'निषेध' के ज़रिये क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव को तोड़ने की ज़रूरत महसूस करते हैं। मार्क्सवाद, उनके मतानुसार, आज गम्भीर संकट से गुज़र रहा है। क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव को तोड़ने की ज़रूरत को समझना और उसे पूरा करना बेहद गम्भीर व गहन शोध कार्य की माँग करता है। प्रतीतिगत और सारभूत यथार्थ में अन्तर होता है। यह बात इस लेख को पढ़कर दिमाग में बार-बार उठती है क्योंकि हम पाते हैं कि दीपक बख्शी का प्रयास बेहद अगम्भीर, जल्दबाज़ीभरा और हल्का है। उनके लेख में

वैज्ञानिक निषेध की जगह प्रतिस्थापन है, द्वन्द्व की जगह यान्त्रिकता है।

'मार्क्सवाद में संकट' के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए दीपक बख्शी मार्क्सवाद का यान्त्रिक गणितीय सूत्र सरीखे नियम से प्रतिस्थापन कर देते हैं। मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त के सम्बन्ध को वे एक गणितीय श्रृंखला के रूप में सूत्रबद्ध करते हैं। यह श्रृंखला इस प्रकार है : **प्राकृतिक विज्ञान - मार्क्सवादी दर्शन - मार्क्सवादी सिद्धान्त**। इस श्रृंखला में आने वाले तमाम तत्व प्राथमिकता के क्रम के अनुसार बाएँ से दाएँ रखे गये हैं। यानी, किसी भी कम्युनिस्ट को क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव को तोड़ने के लिए पहले प्राकृतिक विज्ञान के विकास का अध्ययन करना होगा, तत्पश्चात् प्राकृतिक विज्ञान के विकास को मार्क्सवादी दर्शन में व्याख्यायित करना होगा जिससे मार्क्सवादी दर्शन विकसित होगा, और तत्पश्चात् इस विकसित मार्क्सवादी दर्शन की रोशनी में मार्क्सवादी सिद्धान्त विकसित हो सकते हैं।

यह मार्क्सवादी दर्शन में नवीनतम 'नकारात्मक योगदान' है! हमें यह नकारात्मक शिक्षा मिलती है कि इस 'नवीनतम' तरीके से गलती करने से बचा जाना चाहिए! दीपक बख्शी के विचार जगत में इस यान्त्रिक श्रृंखला के क्रम को जरा भी भंग नहीं किया जा सकता है। मौजूदा दौर में इस श्रृंखला का पालन न होने, यानी प्राकृतिक विज्ञान में बदलाव का अध्ययन न होने व मार्क्सवादी दर्शन के द्वारा इसकी विवचना न हाने के कारण, क्रान्तिकारी आन्दोलन में ठहराव आ गया है। पिछली शताब्दी में मार्क्सवादियों ने तथा मार्क्सवादी नेताओं माओ और स्तालिन ने प्राकृतिक विज्ञान में विकास का अध्ययन नहीं किया और न ही मार्क्सवाद पर हाइज़ेनबर्ग द्वारा किये 'सबसे गम्भीर हमले' (!) का जवाब दिया! यह 'सबसे गम्भीर हमला' क्वाण्टम भौतिकी का अनिश्चितता का नियम व उसकी नवकाण्टीय विवेचना व विस्तार है। नतीजतन, बख्शी के श्रृंखला नियम के अनुसार, माओ और स्तालिन द्वारा रचित दार्शनिक कृतियों में पेश की गयी द्वन्द्ववाद के नियमों की समझदारी गलत सिद्ध हुई और मार्क्सवादी सिद्धान्त में संकट उत्पन्न हुआ है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में संकट से दीपक बख्शी का तात्पर्य पार्टी और जनवादी केन्द्रीयता के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों से है।

साथ ही, श्री बख्शी रूसी क्रान्ति और चीनी क्रान्ति के बाद स्थापित हुई समाजवादी व्यवस्थाओं पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं और इन्हें महज़ 'समाजवाद का प्रयास' घोषित करते हैं। रसायनशास्त्री जब प्रयोगशाला में आसवन की प्रक्रिया से अर्क निकालते हैं तो इस प्रक्रिया के प्रतिफल के तौर पर अवशेष (caput mortuum, या डेड हैड) बचता है जो कि लिसलिसा और तमाम तत्वों के यौगिक की जगह एक मिश्रण होता है। दीपक बख्शी का यान्त्रिक श्रृंखला नियम मार्क्सवादी वैचारिक संघर्षों के आसवन का अवशेष ('केपुट मॉर्चुअम') है जिसमें तमाम तत्वों का अधिभूतवादी मिश्रण है। परन्तु इस केपुट मॉर्चुअम पर मार्क्सवादी शब्दावली के इत्र का छिड़काव किया गया है ताकि बख्शी इसे मार्क्सवादी विमर्श के दायरे में रख सकें।

बख्शी अपनी यान्त्रिक श्रृंखला में प्राकृतिक विज्ञान के विषय आधुनिक भौतिकी को प्रमुख स्थान देते हैं। हाइज़ेनबर्ग का अनिश्चितता का नियम मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी के विकास की इस

यान्त्रिक श्रृंखला में सबसे कमजोर कड़ी साबित होता है, क्योंकि मार्क्सवादी नज़रिये से इसे व्याख्यायित नहीं किया गया। जब तक दीपक बख्शी ने इस अनिश्चितता के हमले को निष्फल नहीं किया था तब तक यह कम्युनिस्ट आन्दोलन को डरा रहा था! भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को 'अनिश्चितता' नामक प्रेत परेशान कर रहा था। सवाल कठमुल्लावाद या संशोधनवाद का नहीं है जो नवजनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क या संसदीय विभ्रमों से नहीं निकलने दे रहा है वरन आधुनिक भौतिकी की समस्याओं का है! 1925 के बाद से भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में दक्षिणपन्थ से वामपन्थ के बीच विचारधारात्मक दोलन वैचारिक कमजोरी के चलते नहीं बल्कि 'प्रैविटेशनल वेक्स' के कारण हो रहा है! दिसम्बर 2017 में वैज्ञानिकों को पदार्थ के नये रूप 'एक्साइटोनियम' के बारे में पता चला है, तो दीपक बख्शी की तर्कपद्धति के अनुसार तत्काल ही इसका अध्ययन और इसकी मार्क्सवादी दार्शनिक समझ विकसित करना कम्युनिस्टों के सैद्धान्तिक कार्यक्रम में प्राथमिक होना चाहिए! इसमें कोई दो राय नहीं है कि विज्ञान के नये सीमान्तों के उद्घाटन के साथ द्वन्द्वत्मक भौतिकवाद भी इन खोजों के अध्ययन और व्याख्या के ज़रिये विकसित होता है। लेकिन यह कहना कि मार्क्सवादी दर्शन (और आम तौर पर दर्शन) हमेशा प्राकृतिक विज्ञान के पीछे-पीछे चलता है, न तो तार्किक रूप से सही दावा है और न ही आनुभविक और ऐतिहासिक तौर पर। इतिहास में अगणित बार ऐसा हुआ है कि उन सिद्धान्तों की खोज दार्शनिकों ने अपने वैज्ञानिक नज़रिये और आगमनात्मक तार्किक नज़रिये से पहले कर दी, जिन्हें बाद में प्राकृतिक विज्ञान ने आनुभविक तौर पर सिद्ध किया।

श्री दीपक बख्शी के दावे का दूसरा हिस्सा भी उतना ही अज्ञानतापूर्ण है जो कहता है कि बीसवीं सदी में प्राकृतिक विज्ञान की नयी खोजों व सिद्धान्तों का मार्क्सवाद ने व्याख्या व विश्लेषण नहीं पेश किया, जिसके कारण आज वह सैद्धान्तिक संकट का शिकार है। ऐसा नहीं है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की ओर से आधुनिक भौतिकी की समस्याओं का अध्ययन नहीं हुआ है। बस दिक्कत यह है कि दीपक बख्शी इससे वाकिफ़ नहीं हैं। उनका अध्ययन बेहद सीमित है। हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता के नियम व दार्शनिक निहितार्थों के मार्क्सवादी विश्लेषण से अपरिचित दीपक बख्शी इसे पढ़कर सैद्धान्तिक संकट के भय से सिहर जाते हैं। उन्हें यह इलहाम होता है कि इस नियम व इसकी दार्शनिक विवेचना के अभाव के कारण ही मार्क्सवाद सैद्धान्तिक संकट में है। श्री बख्शी इस बात से वाकिफ़ नहीं हैं कि इन सभी प्रश्नों पर मार्क्सवाद ने बीसवीं सदी में ही विचार किया है और इस पर हुई जीवन्त बहसों ने मार्क्सवादी दर्शन व सिद्धान्त को विकसित भी किया है। हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धान्त और इसके नवकाण्टवादी विमर्श में ऐसा कुछ नहीं था जिसका जवाब मार्क्सवादी दृष्टिकोण से न दिया गया हो। जापानी वैज्ञानिकों ताकेतानी व सकाता ने और बाद में कई गैर-मार्क्सवादी वैज्ञानिकों ने अनिश्चितता के नियम और इसकी प्रतिक्रियावादी विवेचना का जवाब दिया परन्तु दीपक बख्शी इन सबसे परिचित नहीं हैं। स्पिनोज़ा ने कहा था कि अज्ञानता कोई तर्क नहीं होती है (ignorance is no argumant) परन्तु दीपक बख्शी अपनी अज्ञानता का ही सैद्धान्तिकीकरण कर देते हैं! बीसवीं शताब्दी में आधुनिक भौतिकी के

"संकट" को आधार बनाते हुए वे मार्क्सवाद के "संकट" के अपने विचार के लिए रास्ता बनाते हैं। परन्तु आप जैसे-जैसे उनके रहस्योद्घाटनों को पढ़ते हैं वैसे-वैसे आप पाते हैं कि उन्होंने आधुनिक भौतिकी के क्षेत्र में बिलकुल भी अध्ययन नहीं किया है। प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्त तो दूर उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान के इतिहास का भी अध्ययन नहीं किया है।

वैसे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में अध्ययन न करना आम समस्या है। दरअसल, मार्क्सवाद की छिछली समझ के चलते ही कई क्रान्तिकारी मार्क्सवादी संगठन और मार्क्सवादी बुद्धिजीवी मार्क्सवादी विचारधारा में 'संकट' का शोर रह-रहकर मचाते रहते हैं। अपने विभ्रमों और मार्क्सवाद की अधकचरी समझदारी के आधार पर कुछ लोग मार्क्सवाद पर ही सवाल खड़ा कर रहे हैं। अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी दृष्टिकोण ने खास तौर पर तमाम गैर-मार्क्सवादी विचारधाराओं के सम्मिश्रण को स्वीकार किया है और भारत में भी कई अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों ने पार्टी, क्रान्ति, हिरावल के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्तों को नकारने की मानो जिम्मेदारी ही उठा रखी है! दीपक बख्शी सरीखे कई लोग अभी-अभी उत्तरआधुनिकतावाद और क्वाण्टम मैकेनिक्स की नवकाण्ठीय व्याख्याओं को पढ़ रहे हैं और उन्हें ये व्याख्याएँ पढ़कर अचानक अहसास हुआ है कि 'अरे! मार्क्सवाद तो संकट में है!' और फिर वे संकटमोचक की भूमिका में उतरते हैं। अगर ये राजनीतिक नौदौलतिये मार्क्सवाद पर हो रहे नवीनतम हमलों को पढ़कर भ्रमित हुए होते तो कम-से-कम यह तो कहा जा सकता था कि वे ऐसे राजनीतिक नौदौलतिये हैं जो 'अप-टू-डेट' हैं! मगर कुछ के बारे में तो यह भी नहीं कहा जा सकता। वे जिस चीज को देखकर 'यूरेका-यूरेका' का शोर मचा रहे हैं, वह अब बहुत पुरानी पड़ चुकी है और उस पर बहुत कुछ कहा-सुना जा चुका है। कम-से-कम संजीदा मार्क्सवादियों के लिए आज ये नये प्रश्न नहीं हैं और लगभग हल हो चुके प्रश्न हैं। मिसाल के तौर पर, विश्वविद्यालय के अंग्रेजी और तुलनात्मक साहित्य विभागों को छोड़ दिया जाय, तो अकादमिक जगत भी अब "उत्तरआधुनिकता द्वारा पैदा की गयी चुनौती" की बात करते हुए शर्मियेगा। वहीं क्वाण्टम मैकेनिक्स की नवकाण्ठीय व्याख्याओं द्वारा खड़े किये गये प्रश्नों से भी मार्क्सवाद की आलोचनात्मक अन्तर्क्रिया का इतिहास अब पुराना हो चुका है, हालाँकि कई प्रबुद्ध वामपन्थी अकादमिक भी इससे वाकिफ़ नहीं हैं। लुब्बेलुबाब यह कि कम-से-कम उत्तरआधुनिकतावाद और नवकाण्टवाद का हवाला देकर कोई मार्क्सवाद के 'संकट' की बात नहीं करता है। लेकिन भारत में ऐसे लोग भी हैं जो पूरे आत्मविश्वास के साथ आग का दोबारा आविष्कार करने का दावा करते घूम रहे हैं।

हम दीपक बख्शी के इस लेख को प्रातिनिधिक उदाहरण मानकर इसकी पड़ताल के ज़रिये यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि आज जिस तरह मार्क्सवाद के संकट के नाम पर मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों पर हमले की कोशिश हो रही है उसमें कुछ भी नया नहीं है। दीपक बख्शी का लेख इन हमलों का प्रातिनिधिक उदाहरण बनने के लायक तो नहीं है परन्तु यह उन सारे बिन्दुओं पर संक्षिप्त बात रखने का मौक़ा देता है जो खास तौर पर प्राकृतिक विज्ञान के विकास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने के लिए ज़रूरी हैं।

## 2. दीपक बख्शी के मूल तर्क का खण्डन

हम सबसे पहले बख्शी की यान्त्रिक श्रृंखला की प्राथमिक कड़ी यानी प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन के सम्बन्ध पर रोशनी डालेंगे। लेख के 'दर्शन, विज्ञान तथा मार्क्सवाद' शीर्षक में वे मार्क्स द्वारा 'क्रान्तिकारी व्यवहार' के हवाला देते हुए वैज्ञानिक प्रयोगों को इस व्यवहार में समाहित करने की दलील देते हैं :

"वैज्ञानिक प्रयोग और इण्डस्ट्री को ... व्यवहार माना जाना चाहिए।" (बख्शी, 'मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या', मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन, अंक-1, वेब संस्करण, अनुवाद हमारा)

आगे वे लिखते हैं कि :

"प्राकृतिक विज्ञान और दर्शन का दीर्घकाल से स्थापित सम्बन्ध, खासतौर पर मार्क्सवाद इसे जिस नज़रिये से देखता है, उससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान की इस शाखा के विकास का मार्क्सवादी दर्शन के विकास के साथ अन्तर्गुन्थन होता है।" (वही, अनुवाद हमारा)

यह दीपक बख्शी के यान्त्रिक श्रृंखला नियम की परिभाषा है। वे बताते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद इस नियम का अनुसरण नहीं हुआ। वे कहते हैं :

"कम्युनिस्ट धड़े के भीतर से ही मार्क्सवाद पर अनवरत हमले होते रहे हैं, ग़लत व्याख्याएँ हुई हैं - परन्तु भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना की तर्ज पर नया काम नहीं हुआ है। एंगेल्स के द्वारा प्राकृतिक विज्ञान पर किये गये काम को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी से मार्क्सवादी प्रत्यक्षतः पीछे हट गये हैं।" (वही, अनुवाद हमारा)

"मार्क्सवादियों ने एंगेल्स द्वारा प्राकृतिक विज्ञान पर किये कार्य का अनुसरण करना वस्तुतः छोड़ दिया है।" (वही, अनुवाद हमारा)

"एंगेल्स के प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन के महत्व पर बातचीत करना आज मार्क्सवादी सिद्धान्त के लिए बेहद ज़रूरी कार्यभार है।" (वही, अनुवाद हमारा)

यानी दीपक बख्शी की समझदारी के अनुसार "प्राकृतिक विज्ञान" की "ज्ञान शाखा का विकास मार्क्सवादी दर्शन के विकास के साथ अन्तर्गुन्थित है।" लेख में हमें मौजूदा दौर के संकट की घोषणा मिलती है :

"मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त और विचारों का विकास आज एक गम्भीर संकट से गुजर रहा है।" (वही)

"वैचारिक संघर्ष के विस्तृत कार्यक्रम के कार्यभार" के दूसरे बिन्दु में बख्शी लिखते हैं -

"मार्क्सवादी नज़रिये से विज्ञान (खास तौर पर भौतिकी, एस्ट्रोनोमी, जैनेटिक्स, बायोटेक्नॉलोजी, साइकोलोजी), भाषाशास्त्र, तकनोलॉजिकल विज्ञान... का अध्ययन, समझ बनाना, बहस-मुबाहिसे में उतरना और पिछले 150 सालों के सिद्धान्तों को विकसित करना होगा।" (वही)

अगर इन सारे तर्कों को जोड़ा जाये तो लुब्बेलुबाब यह है : वैज्ञानिक प्रयोग मानवीय व्यवहार है इसलिए इसका विकास मार्क्सवादी दर्शन से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। बीसवीं शताब्दी

में वैज्ञानिक प्रयोग हुए परन्तु मार्क्सवादियों ने एंगेल्स के 'प्रकृति के द्वन्द्ववाद' के अध्ययन के कार्यभार को जारी नहीं रखा। प्राकृतिक विज्ञान में (खासतौर पर भौतिकी में) संकट पैदा हुआ जिसने मार्क्सवाद में संकट पैदा किया। आज मार्क्सवादियों के सामने प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का कार्यभार है जो मार्क्सवादी दर्शन के ठहराव को तोड़ सकता है। यह दीपक बख्शी द्वारा लेख में प्रस्तुत यान्त्रिक श्रृंखला की पहली कड़ी है। यह उनके लेख का मूल तर्क है जिसके आधार पर वे अपने विचार जगत की चौंका देने वाली संरचनाएँ खड़ी करते हैं। श्री बख्शी के प्राकृतिक विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के अन्तर्गुन्थन में प्रमुख पहलू हमेशा प्राकृतिक विज्ञान के विकास का होता है, जिसमें बदलाव के अनुरूप मार्क्सवादी दर्शन को बदलना होता है। यदि यह न हो तो मार्क्सवादी दर्शन की ग़लत समझदारी विकसित होती है। नतीजतन, ग़लत मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं। यह दीपक बख्शी का सैद्धान्तिकीकरण है जिसकी रोशनी में वे मौजूदा दौर में क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव की पड़ताल करते हैं। कारण - आधुनिक भौतिकी में संकट, कार्य - मार्क्सवाद में संकट। हम दीपक बख्शी के इस मूल तर्क का खण्डन दीपक बख्शी द्वारा इस यान्त्रिक श्रृंखला नियम को आधुनिक भौतिकी में अमली जामा पहनाने के प्रयास की पड़ताल के ज़रिये करेंगे।

## 2.1 मार्क्सवाद पर सबसे गम्भीर हमला

बख्शी 20वीं शताब्दी से आधुनिक भौतिकी में मौजूद संकट को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :

"1972' में हाइजेनबर्ग ने अपने सिद्धान्त दिये और प्राकृतिक विज्ञान की परिधि को पार कर इसकी दार्शनिक विवेचना की। उन्हें 1932 में 'मैट्रिक्स मैकेनिक्स की व्यवस्था' के लिए नोबल पुरस्कार से नवाज़ा गया। यह अनिश्चितता सिद्धान्त और इसकी दार्शनिक विवेचना एंगेल्स की मृत्यु के बाद मार्क्सवाद पर सबसे महत्वपूर्ण हमला था।" (वही) ('टिप्पणी - उपरोक्त उद्धरण में 1972 की जगह 1932 होना चाहिए।)

वे क्रिस्टोफ़र कॉडवेल की पुस्तक 'भौतिकी में संकट' से हवाला देकर यह घोषित करते हैं कि विज्ञान जगत संकट का शिकार है जो मार्क्सवादियों के लिए गहन चुनौती है। वे लिखते हैं :

"कॉडवेल की रचनाओं में स्पष्टता से यह बात अभिव्यक्त होती है कि विज्ञान के साथ सभी सैद्धान्तिक क्षेत्रों में संकट मौजूद है : 'विचारधारा के सभी क्षेत्रों में लक्षण हूबहू एक जैसे हैं।"

हम इस विमर्श का निष्कर्ष कॉडवेल की टिप्पणी के साथ करेंगे जो आज मार्क्सवादियों के समक्ष विज्ञान जगत में मौजूद संकट की चुनौती की गहनता को स्पष्ट करेगी :

"आइन्सटीन सापेक्षिक भौतिकी के पिता हैं और प्लांक क्वाण्टम भौतिकी के जनक हैं। दोनों अपने आप में 'क्रान्तिकारी' थे। इसलिए प्लांक का यकीन और आइन्सटीन की अबोधगम्यता अनसुलझे प्रश्नों के हल में महत्व रखती है। परन्तु युवाओं में हाइजेनबर्ग, श्रोडिंगर और डिराक सरीखे लोग शामिल हैं जिनकी तकनीकी उपलब्धियाँ भी समान रूप से क्रान्तिकारी चरित्र रखती हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि यह नया स्कूल एक ज़्यादा रहस्यमय ब्रह्माण्ड के लिए संघर्ष में

जनसमर्थन जीत रहा है।" (वही)

हम आगे देखेंगे कि उन्होंने यहाँ कॉडवेल के कथन की ग़लत व्याख्या की है। कॉडवेल इस पुस्तक में बुरुआ विचारधारा में संकट का ज़िक्र कर रहे हैं वहीं बख़्शी संकट के आगे 'बुरुआ' विशेषण हटा देते हैं और इसे मार्क्सवाद का संकट बना देते हैं। बहरहाल, हम आगे उनके प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन के नियम के 'कार्य-कारण' सम्बन्ध में 'कारण' की पड़ताल करेंगे। इस 'कारण' में दीपक बख़्शी अनिश्चितता सिद्धान्त और उसकी दार्शनिक विवेचना को रखते हैं।

### 2.1.1. क्वाण्टम जगत की खोज तथा दीपक बख़्शी की ऐतिहासिक अज्ञानता

*"अज्ञानता के अमल से भयंकर कुछ भी नहीं है।" - गोएटे*

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में वैज्ञानिकों की जमात पहली बार पदार्थ की आन्तरिक संरचना की गहराई तक पहुँची। पहली बार अणु के भीतर झाँक कर देखा जा सका। औद्योगिक क्रान्ति ने जिन मशीनों को जन्म दिया था वे अब इतनी ऊर्जा को क़ाबू कर सकती थीं कि अणु को भेद कर उसकी आन्तरिक संरचना तक पहुँचा जा सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी में डॉल्टन ने अणु की अवधारणा सत्यापित की थी। जे. जे. थॉमसन ने 1903 में डॉल्टन के अणु के अन्दर के नये गुणों की व्याख्या की। थॉमसन ने 'प्लम पुडिंग' मॉडल दिया जिसमें कैथोड रे में मिले इलेक्ट्रॉन अणु धनात्मक आवेश के प्रोटोन में जड़ित (प्लम) होते हैं। परन्तु 1911 में रदरफ़ोर्ड के वैज्ञानिक प्रयोग में अणु के भीतर की संरचना ने थॉमसन मॉडल से विपरीत क्रिस्म का व्यवहार दर्शाया। अणु के रदरफ़ोर्ड मॉडल के अनुसार केन्द्र में धनात्मक आवेश के प्रोटोन मौजूद होते हैं जिसकी परिक्रमा इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा (ऑरबिट) में करते हैं। न्यूटोनियन भौतिकी की प्रचलित अवधारणा के अनुसार पदार्थ के द्रव्य, ठोस और गैस रूप बुनियादी तत्व अणु से मिलकर बने होते हैं जिनमें तरह-तरह का ऊर्जा रूपान्तरण होता है व जिनके ऊर्जा, बल, गति और संवेग आदि गुणों का सटीक और निश्चित मूल्यांकन सम्भव था। वहीं मैक्सवेल का मॉडल रेडिएशन की संरचना और तरंग प्रकृति को न्यूटोनियन भौतिकी के ज़रिये व्याख्यायित करता था। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में विश्व का यह क्लासिकीय दृष्टिकोण चरमरा कर गिर रहा था। इधर सूक्ष्म स्तर पर नयी परिघटनाएँ भी इस दृष्टिकोण पर सवालिया निशान लगा रही थीं। बोर् ने रदरफ़ोर्ड के मॉडल की व्याख्या प्लांक के क्वाण्टम नियम (जिससे प्लांक ने ब्लैक बॉडी रेडिएशन को व्याख्यायित किया था) व आइन्सटीन ने फ़ोटोइलेक्ट्रिक इफ़ैक्ट के अनुसार की। बोर् ने प्लांक के क्वाण्टम नियम और न्यूटोनियन मैकेनिक्स के असंगत सिद्धान्तों को सार-संग्रहवादी तरीके से अपने सिद्धान्त में शामिल किया था। यह नाकाफ़ी था। साल दर साल आणविक स्तर पर परिघटनाएँ सामने आ रही थी जो बोर् के मॉडल पर भी सवाल कर रही थीं। बोर् ने कारेस्पॉण्डेंस प्रिंसिपल प्रतिपादित कर नयी परिघटनाओं को समझाने व क्वाण्टम और क्लासिकल जगत की सीमाओं के अन्तरभेदन को स्पष्ट करने का प्रयास किया। अन्य प्रयास भी हुए पर सब अधूरे साबित हो रहे थे। अन्ततः सभी असफल सिद्धान्तों का निषेध कर हाइज़नबर्ग और श्रोडिंगर द्वारा प्रतिपादित वेव मैकेनिक्स

और मैट्रिक्स मैकेनिक्स ने क्वाण्टम भौतिकी की मूल प्रतिस्थपनाएँ स्थापित कीं और सूक्ष्म स्तर पर पदार्थ की गति के नियम रचे। इस सिद्धान्त के ही एक अंग के तौर पर अनिश्चितता के नियम ने वैज्ञानिकों के बीच एक विभाजक रेखा खींच दी। मैट्रिक्स मैकेनिक्स कॉपनहेगन स्कूल का उत्पाद था तो दूसरी ओर नियतत्ववादी स्कूल के श्रोडिंगर ने वैव मैकेनिक्स रची। इन दोनों दृष्टिकोणों के साथ खड़े वैज्ञानिकों के भी कई रंग थे। जहाँ नियतत्ववादी स्कूल में आइन्सटीन, प्लांक, श्रोडिंगर और डीब्रोग्ली प्रमुख हैं वहीं अज्ञेयवादी और प्रत्यक्षवादी कॉपनहेगन स्कूल के प्रवर्तकों में बोर, हाइजेनबर्ग, डिराक, जोर्डन आदि थे। इस दौरान ही बोर और आइन्सटीन के बीच विज्ञान के क्षेत्र की एक महाकाव्यात्मक बहस चली। कॉपनहेगन स्कूल जीत रहा था। हर ओर कॉपनहेगन की धुन्ध छा गयी। दोनों स्कूलों में मूल मुद्दा 'प्रेक्षण समस्या' था जो हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता के नियम की विवेचना की समस्या है। इस बहस में इन दोनों स्कूलों के दृष्टिकोणों में ज़बर्दस्त टकराव चल रहा था।

इस बहस में न सिर्फ़ बुर्जुआ वैज्ञानिकों ने बल्कि मार्क्सवादी वैज्ञानिकों ने भी हिस्सा लिया। व्लादिमिर फ़ॉक, राजनफ़ेल्ड, बोर्न, ब्रोन्स्टीन, ब्लोखिन्स्तेव, ताकेतानी, सकाता से लेकर दर्जनों सोवियत और गैर-सोवियत वैज्ञानिक मार्क्सवादी नज़रिये से इस बहस में हस्तक्षेप कर रहे थे। इन सबके भी अलग-अलग मत थे। परन्तु दीपक बख्शी इस इतिहास से अनजान हैं। इस परिचय के बाद प्रेक्षण समस्या पर बहस के मूल में जाकर देखते हैं कि दीपक बख्शी जिस अनिश्चितता के नियम पर हाहाकार मचा रहे हैं उससे क्या हमें भयाक्रान्त होना चाहिए और साथ ही हम मार्क्सवादी नज़रिये से इस समस्या की पड़ताल पर रोशनी डालेंगे।

अनिश्चितता के नियम के अनुसार क्वाण्टम स्तर पर मौजूद इलेक्ट्रॉन की गति और स्थिति के समक्षणिक प्रेक्षण में अनिश्चितता मौजूद रहती है। इस प्रेक्षण में प्रेक्षक स्थूल स्तर पर मौजूद मानव दृष्टि और उसके प्रेक्षण उपकरण हैं तो प्रेक्ष्य अणु के अंदर मौजूद इलेक्ट्रॉन। इस प्रेक्षण में अनिश्चितता का माप  $0.52728 \times 10^{-34}$  मी<sup>2</sup> किग्रा प्रति सैकेण्ड से कम नहीं हो सकता है। यह संख्या काफ़ी अल्पतर प्रतीत होती है परन्तु सूक्ष्म स्तर पर मापने में अनिश्चितता पैदा करने के लिए काफ़ी है। अनिश्चितता क्वाण्टम स्तर पर मौजूद प्रेक्षणों को सम्भाव्यता के क्षेत्र में ले आती है। इलेक्ट्रॉन के गुण को गणितीय सूत्र के रूप में वेवफ़ंक्शन ( $\Psi$ ) में परिभाषित करते हैं। इलेक्ट्रॉन एक पार्टिकल होते हुए भी तरंग की तरह व्यवहार करता है। जिस प्रकार क्लासिकीय जगत में किसी भी कण को उसकी स्थिति, गति व ऊर्जा के परिमाण से व्याख्यायित किया जाता है वैसे ही क्वाण्टम भौतिकी इलेक्ट्रॉन के वेवफ़ंक्शन की स्थिति (स्टेट) को व्याख्यायित करती है। यह वेवफ़ंक्शन इलेक्ट्रॉन के दिक् व काल (स्पेस एण्ड टाइम) में विस्तार को व्याख्यायित करता है। वेवफ़ंक्शन की स्थिति की अवधारणा में कण व तरंग के अन्तर्विरोध की एकता होती है। इलेक्ट्रॉन का कण होना उसके संवेग को मापने योग्य बनाता है तो तरंग होना उसमें अनिश्चितता पैदा करता है। जिस प्रकार पानी में उठती लहरें एक दूसरे में मिलकर छोटी-बड़ी बन जाती हैं वैसे ही इलेक्ट्रॉन का एक वेवफ़ंक्शन कई स्थितियों (स्टेट्स) से मिलकर बनता है जिस कारण क्वाण्टम भौतिकी में समग्र

तथा उपांग का अन्तरविरोध भी होता है। स्टेट की अवधारणा सांख्यिकी की अवधारणा होती है जिसके कारण इस सिद्धान्त में सटीकता की बहस ही बेमानी है।

जापानी मार्क्सवादी वैज्ञानिक ताकेतानी के अनुसार :

"क्वाण्टम भौतिकी में कण (पार्टिकल) और तरंग के दो अन्तरविरोधी परिघटनात्मक रूप होते हैं... जिन्हें स्टेट के सारभूत सिद्धान्त में इनकी एकता में समझा जा सकता है।" (ताकेतानी, 1971, *डायलेक्टिक्स ऑफ़ नेचर*, जर्नल ऑफ़ प्रोग्रेस इन थ्योरेटिकल फिज़िक्स, पेज 31, *अनुवाद हमारा*)

यह क्वाण्टम भौतिकी की बुनियादी मार्क्सवादी समझदारी है। इस समझदारी से अलग हाइज़ेनबर्ग प्रेक्षण की सीमा की दार्शनिक विवेचना अज्ञेयवादी व प्रत्यक्षवादी नज़रिये से कर रहे थे। हाइज़ेनबर्ग माखवादी तरीके से केवल प्रत्यक्ष गुणों के आधार पर विज्ञान के अध्ययन की बात कह रहे थे। बोर ने 1927 की सोल्वे कॉन्फ़रेन्स में क्वाण्टम भौतिकी के नियतत्ववादी स्कूल के पुरोधा आइन्सटीन को अनिश्चितता सिद्धान्त पर चली बहस में हराकर कॉपनहेगन स्कूल की पताका फहराई। इस स्कूल का समर्थन, हालाँकि ग़लत, मार्क्सवादी दृष्टिकोण से फ़ॉक और रोज़ेन्फ़ेल्ड ने किया। वहीं श्रोडिंगर ने नियतत्ववादी कैम्प का झण्डा उठाया और वेव मैकेनिक्स और प्रेक्षण समस्या पर 'श्रोडिंगर की बिल्ली के पैरोंडॉक्स' के ज़रिये क्वाण्टम भौतिकी की अलग व्याख्या कर प्रेक्षण समस्या की बहस को आगे बढ़ाया। 1937 में पहली बार ताकेतानी और बाद में सकाता ने क्वाण्टम भौतिकी की सही मार्क्सवादी नज़रिये से व्याख्या की और नवक्वाण्टवादी, प्रत्यक्षवादी व नियतत्ववादी व्याख्याओं की धज्जियाँ उड़ा दीं। 1952 में बोम ने भी मार्क्सवादी नज़रिये से क्वाण्टम भौतिकी को समझने व आगे विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह आइन्सटीन के बोर-आइन्सटीन बहस के सूत्रों को द्वन्द्ववात्मक रूप से आगे बढ़ाने का प्रयास था। कॉपनहेगन स्कूल हार रहा था परन्तु निर्णायक चोट 1957 की ब्रिस्टल कॉन्फ़रेन्स में हुई जहाँ प्रेक्षण समस्या पर कॉपनहेगन स्कूल पर चौतरफ़ा हमला हुआ।

**लेकिन दीपक बख़्शी इन सब बहसों से परिचित नहीं हैं।** वे पहली बार हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त को पढ़कर काँप उठते हैं और अपनेआप ही गत्ते की तलवार लेकर इस अनिश्चितता से लड़ने लगते हैं और सभी मार्क्सवादियों को इस लड़ाई में कूद पड़ने का आह्वान करते हैं। परन्तु वे यह लड़ाई अपने कल्पनालोक में लड़ रहे हैं। **ये उनके अध्ययन के छूटे कार्यभार हैं मार्क्सवाद के नहीं।** अगर वे इतिहास से परिचित होते तो वे अनिश्चितता के नियम को 'मार्क्सवाद पर एंगेल्स की मृत्यु के बाद सबसे गम्भीर हमला' घोषित नहीं करते और न ही यह कहते कि इस हमले का मार्क्सवादी नज़रिये से आज तक कोई जवाब नहीं दिया गया। इतिहास-शून्यता और अज्ञानता से दीपक बख़्शी ही नहीं आज के युग के वैज्ञानिक भी परेशान हैं! 2014 के एक सर्वे में सबसे अधिक वैज्ञानिकों ने क्वाण्टम भौतिकी की कॉपनहेगन विवेचना से सहमति दर्ज करायी। ख़ैर, दीपक बख़्शी के 'प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन की अन्तर्निर्भरता के नियम' के 'कार्य-कारण सम्बन्ध' में अनिश्चितता के नियम द्वारा मार्क्सवाद पर हमले के 'कारण' का भाग पहला है जो मार्क्सवादी दर्शन में ठहराव व मार्क्सवादी सिद्धान्त के संकट के 'कार्य' को सम्पन्न

करता है।

लेकिन सच्चाई क्या है? अनिश्चितता का नियम मार्क्सवाद के लिए कभी संकट नहीं बना बल्कि उलट यह इसकी पुष्टि ही है। इस नियम का हाइजेनबर्ग द्वारा दार्शनिकीकरण और इसका सैद्धान्तिक विस्तार नवकाण्टवाद को पुनर्जीवित करने के प्रयास से ज्यादा कुछ नहीं है। आइये क्वाण्टम भौतिकी की इस कॉपनहेगन व्याख्या को विस्तार में समझें जो असल में नवकाण्टवादी दर्शन का ही रूप है जिसे मार्क्सवाद पहले ही ध्वस्त कर चुका है। साथ ही हम विज्ञान जगत में ताकेतानी और सकाता द्वारा क्वाण्टम भौतिकी के मार्क्सवादी मूल्यांकन को समझेंगे जिससे दीपक बख्शी द्वारा उठाये सवालों की सतही समझदारी उभर कर सामने आ सके।

### 2.1.2 मेचे (कॉपनहेगन) ढँके तारा (मार्क्सवाद)

बख्शी के अनुसार हाइजेनबर्ग का 'अनिश्चितता का नियम' और इसकी दार्शनिक विवेचना मार्क्सवाद पर सबसे भयंकर हमला थी। क्वाण्टम भौतिकी के उद्भव और विकास के दौरान अनिश्चितता के नियम व अन्य विवेचना-सम्बन्धी समस्याओं को लेकर वैज्ञानिकों और दार्शनिकों में काफ़ी घमासान हुआ। इस घमासान से अपरिचित दीपक बख्शी अनिश्चितता के नियम के अलावा हाइजेनबर्ग के दर्शन को पढ़ने के बाद भयंकर भय का अनुभव करते हैं और भयाक्रान्त होकर मार्क्सवादियों को हिदायत देते हैं। हम देख चुके हैं कि अनिश्चितता के नियम के अनुसार प्रकृति में इलेक्ट्रॉन की गति और स्थिति का समक्षणिक सटीक प्रेक्षण नहीं किया जा सकता है व हर प्रेक्षण में एक अनिश्चितता मौजूद होती है। हाइजेनबर्ग ने इस अनिश्चितता का कारण हमारे ज्ञान के चरित्र में ढँढ़ा और प्रकृति को हमारी धारणाओं का निर्माण बताया। वे 'वस्तु निज रूप', वस्तुगत यथार्थ और 'कार्य-कारण' की अवधारणाओं पर हमला करते हैं। हाइजेनबर्ग कहते हैं कि "भौतिकशास्त्रियों को औपचारिक तौर पर सिर्फ अनुभवों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है", "आधुनिक भौतिकी में हम यथार्थ या अणुओं की संरचना को नहीं बल्कि महज परिघटनाओं के अनुभव को ट्रीट करते हैं।"

जैसा कि कोई भी पढ़ने-लिखने वाला मार्क्सवादी समझ सकता है, साफ़ तौर पर यह अनुभवसिद्ध आलोचना और नवकाण्टवाद का पुनर्जन्म ही था, और कुछ नहीं। हाइजेनबर्ग के अनुसार प्रेक्षक यथार्थ का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यथार्थ एक निर्मिति है। हाइजेनबर्ग द्वारा सूक्ष्म जगत में मौजूद अनिश्चितता के पहलू का यह नवकाण्टीय सामान्यीकरण भौतिकी के कार्य-कारण सम्बन्ध (कॉजैलिटी) सिद्धान्त को नकार देता है। इस दर्शन के विचारक यह तर्क देते हैं कि अगर किसी प्रयोग में 10 प्रेक्षण में से एक बार भी हमारी अवधारणा के विपरीत परिणाम आता है तो इसका मतलब यह है कि हम उस परिघटना के विषय में नहीं जान सकते हैं तथा यह कार्य-कारण सिद्धान्त का निषेध होता है। लेकिन वास्तव में यहाँ यह प्रयोग कार्य-कारण सिद्धान्त को दो तरह से सिद्ध करता है। 10 प्रेक्षण में से 9 बार हमारी पूर्वकल्पना के अनुसार परिणाम आते हैं और 1 बार विपरीत परिणाम आता है तो हमें उन अज्ञात कारणों की तलाश करने का मौक़ा मिलता

है, जिनके कारण हमारी प्रस्थापना पुष्ट नहीं हो पायी। यहाँ एक ऐसा कार्य-कारण सिद्धान्त काम करता है जो हमें ज्ञात नहीं होता है। यह 'काइनेटिक थियरी ऑफ़ गैस' के समान ही है जहाँ गैस के अणुओं की गति का मापन भी सम्भाव्यता में ही होता है। इसके अलावा, क्वाण्टम भौतिकी में अनिश्चितता भी हमारे प्रेक्षण पर निर्भर करती है। यहाँ अनिश्चितता हमारे प्रेक्षण के उपकरणों की सीमा के कारण उत्पन्न होती है। प्रेक्षणों के और अधिक उन्नत और गहरे होने के साथ अनिश्चितता, फिर से निश्चितता तथा अनिश्चितता में टूट जाती है। नयी निश्चितता पुरानी निश्चितता से ज्यादा उन्नत होगी और नयी अनिश्चितता पुरानी अनिश्चितता से अधिक उन्नत होगी। **विज्ञान न सिर्फ़ उन्नत निश्चितताओं का स्वागत करता है, बल्कि उन्नत अनिश्चितताओं का भी स्वागत करता है, क्योंकि अनिश्चितता ही निश्चितता में बदल सकती है।** निश्चितता तो पहले से ही निश्चितता है। इसलिए उन्नत निश्चितताओं के जन्म के लिए अनिश्चितताओं का होना जरूरी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी शुरू से ही हर सिद्धान्त को दिक्-काल सापेक्ष मानता है और किसी भी निरपेक्ष सत्य या सिद्धान्त की अवधारणा के विरुद्ध है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नजरिया है और वास्तव में हाइज़ेनबर्ग का अनिश्चितता का सिद्धान्त (अपनी नवकाण्टीय दार्शनिक व्याख्या व विस्तार के बिना) द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को सिद्ध करता है, जो हमेशा से नियतत्ववाद और प्रत्यक्षवाद दोनों के ही विरुद्ध संघर्ष करता रहा है। अनिश्चितता परिघटनात्मक स्तर पर घटित होती है जिसे समझने के लिए हमें सारभूत स्तर तक जाना होगा ठीक उसी प्रकार जैसे पूँजीवाद में संकट की परिघटनात्मक समझदारी असमानुपातिकता और अल्पउपभोग को कारण बताती है परन्तु असल में संकट सारभूत स्तर पर 'मुनाफ़े की गिरती दर के रुझान का नियम' के कारण पैदा होता है जो असमानुपातिकता और अल्पउपभोग को पैदा करता है।

क्वाण्टम भौतिकी को मार्क्सवादी नज़रिये से देखने में अग्रणी नाम ताकेतानी और सकाता का आता है। ताकेतानी ने प्राकृतिक विज्ञान का 'तीन मंज़िल सिद्धान्त' दिया जिसमें तीन मंज़िलें हैं - परिघटनात्मक, तात्विक और सारभूत। यह प्राकृतिक विज्ञान या विज्ञान में होने वाले बदलावों के लिए कमोबेश सटीक सैद्धान्तिकीकरण है। इंसान के प्रेक्षण के गहराने या विस्तृत होने पर प्रकट होने वाली नयी परिघटनाओं को पहले तात्विक और फिर सारभूत स्तर पर समझाने वाले सिद्धान्त विकसित होते हैं और यह क्रम प्रेक्षण गहराने के साथ कुण्डलाकार गति में जारी रहता है। न्युटोनियन भौतिकी से क्वाण्टम भौतिकी के दौर में संक्रमण को इस तरह ही देखा जा सकता है। ताकेतानी के अनुसार :

"प्रकृति के संज्ञान की प्रक्रिया में तीन स्तर होते हैं। पहले स्तर पर परिघटना और प्रयोगात्मक परिणामों का उल्लेख किया जाता है। इस स्तर पर ... परिघटना के बारे में विभिन्न जानकारीयों और तथ्यों का संचय किया जाता है। ... मैं इस स्तर को परिघटनात्मक स्तर का नाम देता हूँ। ... दूसरे स्तर में परिघटना को जन्म देने वाली तात्विक संरचना ज्ञात होती है जिसकी मदद से परिघटना का उल्लेख कर उसकी वैधता सुनिश्चित की जाती है। इसे हम तात्विक मंज़िल कहेंगे... तीसरे स्तर में ज्ञान तात्विक स्तर के माध्यम से सार में प्रवेश करता है। परिघटना का नियम पारस्परिक अन्तर्क्रिया

में लिप्त तत्वों की आवश्यक गति के माध्यम से उभारा जाता है। यह स्पष्ट करना होता है कि किस प्रकार परिघटना एक निश्चित संरचना के तत्वों से किसी निश्चित परिस्थिति में उत्पन्न होती है। मैं इस स्तर को सारभूत स्तर कहता हूँ।" (वही, पेज 61-62, अनुवाद हमारा)

ताकेतानी और सकाता ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवस्थिति से यह भी दर्शाया कि क्वाण्टम भौतिकी पूर्णतः पदार्थ जगत के एक विशिष्ट स्तर को समझाती है। यहाँ सटीकता की बहस ही बेमानी है। न्यूटोनीय भौतिकी वृहद जगत के लिए आज भी सच है। लेकिन प्रेक्षण के धरातल के बदलने के साथ, सन्दर्भ के बदलने के साथ, अलग-अलग जगत में गति के नियमों में भी परिवर्तन आ जाता है। क्वाण्टम भौतिकी में तीन स्तर पर अन्तरविरोध काम करते हैं - समग्र तथा अंग, आवश्यकता और आकस्मिकता तथा परिघटना (अनिश्चितता) और सार (स्टेट) के बीच मौजूद अन्तरविरोध। इलेक्ट्रॉन का स्टेट सारतत्व का स्तर होता है। यह सारतत्व ही अपने आप को परिघटनात्मक स्तर पर पेश करता है जिसे अनिश्चितता के रूप में समझा जाता है।

प्रकृति में निश्चितता और अनिश्चितता के बीच, निर्धारण और संयोग के बीच और परिघटनात्मक व सारभूत स्तर के बीच हमेशा एक द्वन्द्व मौजूद रहता है। निश्चित तौर पर यह द्वन्द्व अपने आपको प्रकृति के गति के नियमों की व्याख्या करने वाले विज्ञान में भी अभिव्यक्त करता है। सूक्ष्म जगत में जिन कारणों से आज अनिश्चितता मौजूद है, उसे इन वैज्ञानिकों ने प्रेक्षण समस्या (ऑब्ज़र्वेशन प्रॉब्लम) का नाम दिया और बताया कि प्रेक्षक और प्रेक्षण के उपकरणों के विकास के साथ इस धरातल पर मौजूद प्रेक्षण की समस्या का समाधान हो जायेगा, लेकिन तब कोई न कोई नया धरातल सामने होगा, जिस पर नये सिरे से अनिश्चितता और प्रेक्षण की समस्या मौजूद होगी। यह प्रक्रिया ही पदार्थ जगत के विकास की द्वन्द्वात्मकता को विज्ञान की द्वन्द्वात्मकता में प्रतिबिम्बित करती है।

अब चूँकि विज्ञान में निश्चितता और अनिश्चितता, दोनों के ही पहलू सतत और अनन्त रूप से मौजूद रहे हैं और रहेंगे, इसलिए यदि वैज्ञानिक पहले से ही एक द्वन्द्वात्मक अप्रोच को लेकर प्रस्थान नहीं करता तो वह निश्चित तौर पर या तो आइंस्टीन-श्रोडिंगर के नियतत्ववाद और स्पिनोजा के ईश्वर का शिकार बन जायेगा, या फिर, हाइज़ेनबर्ग और बोर के नवकाण्टीय अज्ञेयवाद की खाई में जा गिरेगा, जहाँ उसके लिए होने और न होने का अर्थ ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि समस्त पदार्थ जगत ही है या नहीं, इसकी कोई गारण्टी नहीं है; ऐसा भी हो सकता है कि सब माया हो! सामाजिक विज्ञान की तरह ही प्रकृति विज्ञान में भी एक वैचारिक संघर्ष जारी रहा है। यह संघर्ष बीसवीं सदी में अपनी ऊँचाइयों और गहराइयों तक गया। लेकिन महान प्रतिभाएँ भी विज्ञानवादी नियतत्ववाद और विज्ञानवादी अज्ञेयवाद का शिकार हो गयीं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भौतिकी में मौजूद आभासी संकट का जो समाधान किया, उसे बुर्जुआ मीडिया कहीं भी नहीं प्रदर्शित करता और न ही उसे स्कूलों और कॉलेजों के पाठ्यक्रम में शामिल किया जाता है। लेकिन सकाता, ताकेतानी और उनके सहयोगी युकावा जैसे वैज्ञानिकों के योगदान को समझे बिना आधुनिक भौतिकी की एक सही समझदारी विकसित कर पाना मुश्किल है। हाइज़ेनबर्ग द्वारा मार्क्सवाद पर

सबसे गम्भीर हमले की बख्शी की विवेचना के काल्पनिक तर्क के बाद यह भी देख लिया जाये कि भौतिकी में संकट के सन्दर्भ में मार्क्सवादियों का दृष्टिकोण क्या है? क्योंकि दीपक बख्शी इस पहलू पर शान्त रहते हैं।

## 2.2 प्राकृतिक विज्ञान में संकट की मार्क्सवादी विवेचना

**"मरना नये का बनना है।" - गोएटे**

भौतिकी में आने वाला "संकट" भौतिकी के द्वन्द्वात्मक विकास की अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक विज्ञान भी निषेध के निषेध के जरिये आगे बढ़ता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति को न देखने के कारण वैज्ञानिकों में संकट का शोर मच जाता है। प्राकृतिक विज्ञान आगे बढ़ता है और हर 10-15 साल में नये संकट का शोर मचता है। एंगेल्स ने प्राकृतिक विज्ञान के संकट की ओर इशारा करते हुए लिखा कि "खोज के परिणामों तथा पूर्वकल्पित चिन्तन प्रणालियों के बीच जो टकराव होता है उसी का नतीजा है कि इस समय सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में एक गड़बड़ी फैल गयी है, जिसका लगता है कभी अन्त नहीं होगा और जो शिक्षक तथा शिक्षार्थी, लेखक तथा पाठक सभी को विक्षिप्त बनाये डाल रही है।" (एंगेल्स, 1980, ड्यूहरिंग मत खण्डन, प्रगति प्रकाशन, पृष्ठ 42)

इस 'गड़बड़' ने ही आगे 'संकट' का रूप लिया जिसका कारण मार्क्सवाद का संकट नहीं बल्कि सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में मौजूद "पूर्वकल्पित चिन्तन प्रणालियों" का नये नतीजों के साथ टकराव था। लेनिन 1908 में आधुनिक भौतिकवाद के संकट के कारणों की पड़ताल करते हैं। ताज्जुब की बात है कि 'भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना' में लेनिन के प्राकृतिक विज्ञान में 'संकट' के अध्ययन के बारे में बख्शी चुप रहते हैं क्योंकि इस विषय पर लिखते हुए कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी इस पुस्तक का सन्दर्भ न पेश करे तो इसके पीछे या तो स्मृतिलोप हो सकता है या अध्ययन का अभाव। लेनिन ने पहली बार आधुनिक भौतिकी में और प्राकृतिक विज्ञान में संकट के शोर के पीछे मौजूद कारणों की गहनता से पड़ताल की। भौतिकवाद से अपरिचित वैज्ञानिक जिस दार्शनिक गढ़ में गिरते हैं उसे लेनिन ने "भौतिक भाववाद" का नाम दिया। लेनिन "भौतिक भाववाद" के कारण पैदा हुए 'संकट' के पीछे एक कारण ज्ञान की सापेक्षिकता की गलत समझदारी बताते हैं तो दूसरा कारण बुर्जुआ दर्शन का वैज्ञानिकों पर मौजूद प्रभाव बताते हैं। दार्शनिक भाववाद जिसे पूंजीवाद में बुर्जुआ वर्ग अपने अस्तित्व के लिए प्रसारित करता है इस संकट को बनाये रखता है। लेनिन लिखते हैं :

"जिस तरह एक डूबता हुआ इंसान तिनके का भी सहारा लेने की कोशिश करता है उसी तरह बेहद विशिष्ट तौर पर पढ़ा-लिखा बुर्जुआ कृत्रिम तौर पर श्रद्धावाद (fideism), जो जनता की अज्ञानता और पूंजीवाद के अतार्किक और बर्बर अन्तरविरोधों के कारण में पाया जाता है, को बचाने की हर तरह की कोशिश करता है।

"भौतिक भाववाद के बढ़ने का दूसरा कारण सापेक्षिकतावाद का सिद्धान्त है, हमारे ज्ञान की

सापेक्षिकता का सिद्धान्त जो पुराने सिद्धान्तों के असामयिक भंग होने के कारण भौतिकविदों के दिमागों पर मज़बूत पकड़ बना रहा है और अगर वे द्वन्द्ववाद से परिचित न हों तो अन्त में भाववाद तक पहुँच जाते हैं" (लेनिन, 1980, मैटिरियलिज़्म एण्ड इम्पिरियो क्रिटिसिज़्म, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृष्ठ 288, अनुवाद हमारा)

और आगे लेनिन बताते हैं कि :

"संकट का सार यह है कि आधुनिक भौतिकी में पुराने नियम और बुनियादी सिद्धान्त बदलने को मस्तिष्क के बाहर मौजूद वस्तुगत यथार्थ का खारिज होना माना जा रहा है, यानी भौतिकवाद का भाववाद और अज्ञेयवाद से तब्दीली करना माना जा रहा है। "पदार्थ गायब हो गया" - यह वह बुनियादी और चारित्रिक समस्या है जिसे उन सवालियों के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है जो यह संकट लेकर आया है।" (वही, पेज 231, अनुवाद हमारा)

"पदार्थ के गायब होने" की जगह हाइज़ेनबर्ग ने अनिश्चितता को ला खड़ा किया और आधुनिक भौतिकी में फिर से संकट का शोर मचने लगा। ज्ञान की सापेक्षिकता की अभिव्यक्ति लगातार प्राकृतिक विज्ञान में भी होती है जहाँ लगातार गहराते ज्ञान के आधार पर हमें पुरानी धारणाओं को त्यागकर नये गहरे सिद्धान्तों को समझना होता है। यही लगातार भौतिकी में विकास करता है और उसके तार्किक मूल्यांकन में बदलाव करता है। इस बदलाव को प्रकृति के अन्तर्सम्बन्ध की तस्वीर के जटिल और ज़्यादा परिष्कृत होने के रूप में समझा जा सकता है न कि भौतिकवाद के पतन के रूप में। यानी यह संकट असल में 'आभासी' संकट है। दीपक बख्शी इस संकट को मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में 'संकट' के आधार के तौर पर पेश करते हैं, परन्तु एंगेल्स और लेनिन के दृष्टिकोण के अनुसार यह प्राकृतिक विज्ञान का संकट नहीं बल्कि बुर्जुआ दर्शन का संकट है। दरअसल बख्शी का प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञान बेहद कमज़ोर और भोंड़ा है। असल में संकट का कारण उलट है जिस तरफ़ लेनिन इशारा करते हैं -

"प्राकृतिक विज्ञान के वैज्ञानिकों को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा खोला गया रास्ता नहीं दिखता है।" (वही, पेज 290, अनुवाद हमारा)

दीपक बख्शी ज्ञान की सापेक्षिकता के सवाल पर थोड़ा लड़खड़ा जाते हैं। वे हाइज़ेनबर्ग के दर्शन का खण्डन करते हुए मार्क्सवादी ज्ञान सिद्धान्त के दृष्टिकोण से कोसों दूर खड़े दिखायी देते हैं। वे कहते हैं कि :

"मार्क्सवाद के लिए पदार्थ के अस्तित्व, गति व पदार्थ में बदलाव के अलावा (दार्शनिक तौर पर) कोई ज्ञान निरपेक्ष नहीं है। मार्क्सवाद निरपेक्ष सत्य को नकारता है।" (बख्शी, मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्याएँ, अनुवाद हमारा)

यहाँ दीपक बख्शी ने जो बात की है उसमें वह भौतिकवादियों से ज़्यादा भौतिकवादी हो गये हैं! और चिन्तन एवं अस्तित्व के सवाल पर बात करते हुए वे वह पहलू गायब कर गये हैं जिससे ज्ञान पैदा होता है। "पदार्थ के अस्तित्व, गति व पदार्थ में बदलाव" का ज्ञान निरपेक्ष नहीं होता है। यह सापेक्ष भी होता है और निरपेक्ष भी होता है। मार्क्सवाद "पदार्थ के अस्तित्व, गति व बदलाव

के ज्ञान" को नहीं पदार्थ के अस्तित्व, गति व बदलाव को निरपेक्ष मानता है। इसका मनुष्य के मस्तिष्क से प्रतिबिम्बन होता है, जो कि सही या गलत हो सकता है। प्रतिबिम्बनों के सही तार्किक व वैज्ञानिक सामान्यीकरण से ही ज्ञान पैदा होता है, जो कि स्वयं सापेक्ष होता है। दीपक बख्शी की सोच से उलट मार्क्सवाद निरपेक्ष सत्य को नकारता नहीं है बल्कि वह इंसान द्वारा निरपेक्ष सत्य के विषय में निरपेक्ष ज्ञान के विकास की सम्भावना को नकारता है। एंगेल्स के अनुसार :

"मानव चिन्तन के स्वरूप की हमारी परिकल्पना आवश्यक रूप से निरपेक्ष है, पर यह परिकल्पना वास्तविकता प्राप्त करती है बहुत-से अलग-अलग मनुष्यों से, जो सबके सब केवल सीमित ढंग से ही सोच सकते हैं। यह एक ऐसा अन्तर्विरोध है, जो केवल अनन्त प्रगति के दौरान ही हल हो सकता है। यह अन्तर्विरोध केवल मानवजाति की असंख्य पीढ़ियों के - कम से कम व्यावहारिक दृष्टि से - एक अन्तहीन क्रम में ही हल हो सकता है। इस अर्थ में मानव चिन्तन जितना परम सत्तासम्पन्न है; ठीक उतना ही परम सत्ताहीन भी है और ज्ञान प्राप्त करने की उसकी सामर्थ्य जितनी असीम है, ठीक उतनी ही सीमित भी है। जहाँ तक मानव चिन्तन की प्रकृति, उसकी परवर्ती, उसकी सम्भावनाओं तथा उसके अन्तिम ऐतिहासिक लक्ष्य का सम्बन्ध है, वह परम सत्तासम्पन्न तथा असीम है। जहाँ तक उसके व्यक्तिगत मूर्त रूपों तथा किसी विशिष्ट क्षण में उसकी वास्तविकता का सम्बन्ध है, वह परम सत्तासम्पन्न नहीं है और सीमित है। शाश्वत सत्यों के बारे में भी ठीक यही बात सच है।" (एंगेल्स, 1980, पेज 141-142)

इसे लेनिन सरलीकृत कर बताते हैं कि "एंगेल्स के लिए निरपेक्ष सत्य सापेक्ष सत्यों का कुल जोड़ है" और "विज्ञान के विकास का हर कदम निरपेक्ष सत्य में नये अंश को जोड़ता है, परन्तु इस सत्य की वैज्ञानिक प्रतिस्थापनाएँ सापेक्ष होती हैं, जो ज्ञान में वृद्धि के साथ कभी विस्तृत होती तो कभी सीमित होती हैं।" (लेनिन, 1980, पेज 118-119, *अनुवाद हमारा*)

"ज्ञान के सिद्धान्त में, जैसा कि हर विज्ञान के क्षेत्र में करना चाहिए, हमें द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। यानी हमें अपने ज्ञान को बना-बनाया और अपरिवर्तनीय नहीं मानना चाहिए, बल्कि हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि कैसे ज्ञान अज्ञान से उभरता है, कैसे अधूरा ज्ञान अधिक से अधिक पूर्ण होता जाता है।" (वही, पेज 88, *अनुवाद हमारा*)

यहाँ मार्क्सवादी ज्ञान मीमांसा को बेहतरीन तरीके से प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान के हर क्षेत्र में अज्ञानता से ही ज्ञान उभरता है। पर इस ज्ञान के विकास की सीमाएँ ऐतिहासिक तौर पर परिभाषित होती हैं। लेनिन आगे कहते हैं :

"हम कब और किन परिस्थितियों में अपने ज्ञान में वस्तुओं की मूलभूत प्रकृति तक पहुँचते हैं, मसलन कोलतार में एलिज़रिन का खोजा जाना और अणु में इलेक्ट्रॉन की खोज होना इतिहास द्वारा निर्धारित होता है; परन्तु हर ऐसी खोज से 'निरपेक्ष वस्तुगत सत्य' की प्रगति होती है, यह निश्चित है और बिना शर्त होता है... हर विचारधारा इतिहास द्वारा निर्धारित होती है, पर यह बिना शर्त सत्य है कि (धार्मिक विचारधारों से अलग) हर वैज्ञानिक विचारधारा किसी निरपेक्ष प्रकृति, वस्तुगत सत्य के अनुरूप होती है। आप कहेंगे कि निरपेक्ष और सापेक्षिक सत्य में अन्तर अनिश्चित

है। मैं जवाब दूँगा: यह उतना ही 'अनिश्चित' है जितना कि विज्ञान को एक कठमुल्ला सिद्धान्त, मृत, अशिमभूत बनने से बचने की ज़रूरत है; पर इसी समय यह इतनी ही 'निश्चित' है जितनी कि हम अपने आप को बेहद दृढ़ता और अटलता से अज्ञेयवाद और श्रद्धावाद (fiedism), दार्शनिक भाववाद से और ह्यूम और काण्ट के अनुयायियों के हेत्वभासों से बचा सकें।" (वही, पेज 120-121, अनुवाद हमारा)

आगे लेनिन कहते हैं :

"द्वन्द्ववाद - जैसा हेगेल ने अपने समय में समझाया - में सापेक्षता का, निषेध का, सन्देहवाद का तत्व होता है पर यह सापेक्षतावाद में अपचयित नहीं की जा सकती है। मार्क्स और एंगेल्स के भौतिकवादी द्वन्द्ववाद में सापेक्षतावाद है, पर यह सापेक्षतावाद में अपचयित नहीं किया जा सकता है, यानी, यह हमारे ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकार करता है, वस्तुगत सत्य को नकारने के रूप में नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि ज्ञान के समीप पहुँचने की हदें इतिहास द्वारा निर्धारित होती हैं।" (वही, पेज 121, अनुवाद हमारा)

यही वह बुनियादी सिद्धान्त है जिसके ज़रिये प्राकृतिक विज्ञान व हर ज्ञान शाखा में अज्ञान से ज्ञान तक बढ़ने की प्रक्रिया को बेहतरीन ढंग से व्याख्यायित किया गया है। ज्ञान के विकास की यही सापेक्षता दरअसल खुद मार्क्सवाद के विकास को भी निर्धारित करती है। इसके विकास की सीमाएँ भी इतिहास द्वारा ही निर्धारित होती हैं। लेकिन दीपक बख्शी के लिए अन्त में यह सब प्राकृतिक विज्ञान के विकास से संचालित होता है; परन्तु अफ़सोस इस बात का है कि वे प्राकृतिक विज्ञान के विकास की प्रक्रिया से भी अनभिज्ञ हैं। दरअसल, न सिर्फ़ वह इसके इतिहास से अनभिज्ञ हैं बल्कि दीपक बख्शी द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण के सार तक ही नहीं पहुँचे हैं। उनका मार्क्सवाद यान्त्रिकतावाद है जो टुकड़े-टुकड़े में तो सभी बातें रख सकता है परन्तु इतिहास की किसी भी समस्या का हल नहीं कर सकता है। वह आधुनिक भौतिकी में जिस संकट की बात करते हैं असल में वह भी ज्ञान की सापेक्षिकता के कारण ही पैदा होता है जिसकी व्याख्या हमने ऊपर की है।

दीपक बख्शी क्रिस्टोफ़र कॉडवेल की टिप्पणी (ऊपर उपशीर्षक 2.1 में उद्धृत) को भी उलट कर पेश करते हैं। दीपक बख्शी यह साबित करते हैं कि इस दौर के भौतिकी के संकट की अभिव्यक्ति क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने भी की थी जिसके नतीजे के तौर बख्शी मार्क्सवाद में संकट की बात कहते हैं। परन्तु यहाँ वे कॉडवेल को ग़लत तरीक़े से पेश कर रहे हैं। कॉडवेल ने संकट की विवेचना करते हुए इसे बुर्जुआ दर्शन का संकट बताया था जहाँ बुर्जुआ दर्शन प्रणाली के अन्तर्गत फँसे रहने वाले वैज्ञानिक इस समाज का ही हिस्सा होते हैं। परन्तु दीपक बख्शी का दार्शनिक सर्कस यहाँ जारी रहता है। हम कॉडवेल की लेखनी के ज़रिये दीपक बख्शी की इस ग़लतबयानी को देखेंगे :

"भौतिकी का उदाहरण लीजिये। सबसे पहले तो यहाँ सामान्य सिद्धान्त या यान्त्रिकता का दर्शन मौजूद होता है जिसे बुर्जुआ वैज्ञानिक अचेतन रूप में स्वीकार कर लेता है। वह यह नहीं

जानता है कि यह अधिभूतवाद है, वह यह कल्पना करता है कि यही वस्तुओं को वैज्ञानिक यानी कि वस्तुगत तौर पर देखने का नज़रिया है। वह यह मानता है कि जिस प्रकार वस्तु बुर्जुआ अर्थव्यवस्था में प्रकट होती है केवल उसी प्रकार प्रकृति इन्सान के समक्ष प्रकट हो सकती है। यह दर्शन सभी विज्ञानों के लिए समान है। इसके अलावा वे विशिष्ट सिद्धान्त जो सीधे भौतिकी के व्यवहार से उत्पन्न होते हैं वे लगातार इस आम सिद्धान्त के अन्तर्विरोध में खड़े होते हैं... सब ठीक चलता रहता है जब तक कि एक ऐसा समय आता है कि विज्ञान के हर क्षेत्र के व्यवहार में विशिष्ट सिद्धान्त से विज्ञान के आम सिद्धान्त का विरोध इतना बढ़ जाता है कि यान्त्रिकता के दर्शन की ही धज्जियाँ उड़ जाती हैं। जीव विज्ञान, भौतिकी, मनोविज्ञान, नृतत्वशास्त्र, और रसायन शास्त्र में प्रायोगिक आँकड़ों की पड़ताल का दबाव विज्ञान के अचेतन दर्शन को विखण्डित कर देता है। वैज्ञानिक विज्ञान के किसी आम सिद्धान्त के प्रति निराशावान हो जाते हैं और अनुभववाद में शरण ले लेते हैं, जहाँ विश्व दृष्टिकोण को पाने की कोशिशें त्याग दी जाती हैं, या सार-संग्रहवाद में शरण लेते हैं जहाँ हर क्षेत्र के सिद्धान्त को एक-दूसरे से असंगत रूप से जोड़ दिया जाता है, या विशिष्टीकरण में जहाँ सारे विश्व को किसी खास विशिष्ट सिद्धान्त में अपचयित कर दिया जाता है। किसी भी परिस्थिति में विज्ञान अराजकता में बिखर जाता है और इंसान पहली बार विज्ञान से यथार्थ की किसी प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने की कोशिश में निराश हो जाता है। यही बुर्जुआ विज्ञान की मौजूदा हालत है, भौतिकी में संकट उसकी महज़ एक खास अभिव्यक्ति है।" (क्रिस्टोफ़र कॉडवेल, 1939, *क्राइसिस इन फिज़िक्स*, पेज 60-61, *अनुवाद हमारा*)

कॉडवेल इस संकट को बुर्जुआ वर्ग का संकट बताते हैं परन्तु दीपक बख्शी इसे प्राकृतिक विज्ञान में संकट व मार्क्सवाद के दर्शन में ठहराव बताते हैं। वस्तुगत और आत्मगत के बीच पूँजीवादी समाज जो दरार खड़ी करता है यह संकट उसकी ही पैदाइश है और इसे हल करने का तरीका इस दरार को मिटाने में है, यानी इस समाज को बदलने में है। परन्तु दीपक बख्शी की पूरी थीसिस इसकी उल्टी है उनके अनुसार मौजूदा संकट 'प्राकृतिक विज्ञान के संकट - मार्क्सवादी दर्शन के ठहराव - मार्क्सवाद सिद्धान्त के विकास' का संकट है और इस संकट को दूर करने के बाद ही क्रान्ति की समस्या भी हल हो सकती है। यानी, चीजों को उनके सिर के बल खड़ा कर दिया जाता है!

दीपक बख्शी खण्ड-खण्ड में मार्क्सवाद के हर सिद्धान्त पर मार्क्स व एंगेल्स की अवधारणाओं के बारे में लिख सकते हैं लेकिन जैसे ही सवाल इतिहास की व्यावहारिक समस्या पर आता है उनकी लेखनी संकट खोज लाती है। साफ़ है कि प्राकृतिक विज्ञान के इस संकट को समझने में दीपक बख्शी की अवधारणा मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और कॉडवेल से अलग है। वह इस मामले में कठमुल्ला साबित होते हैं। मार्क्स और एंगेल्स के ज़माने में भौतिकी के संकट का शोर नहीं था, यह हो भी नहीं सकता था क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स के ज़माने की भौतिकी अपने पैरों पर खड़ी ही हो रही थी। परन्तु ज्ञान सिद्धान्त के उन्होंने जो सिरे दिये थे उसे लेनिन ने आगे विकसित किया और आधुनिक भौतिकी में संकट की अवधारणा का दार्शनिक सार बताया। खुद वैज्ञानिकों की

एक अच्छी-खासी जमात ने विश्व को अज्ञेय बनाने में लगे दार्शनिकों को मुँहतोड़ जवाब दिया। इतनी उम्मीद तो दीपक बख्शी से की जा सकती थी कि वे अपने विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से पहले कम से कम भौतिकी का इतिहास ही पढ़ लेते।

### 3. मार्क्सवाद व प्राकृतिक विज्ञान

दीपक बख्शी के विचार जगत में प्राकृतिक विज्ञान मानव व्यवहार से जनित अन्य शाखाओं से उन्नत पद पाता है, जिसे आगे दर्शन का आशीर्वाद प्राप्त होता है। मार्क्सवाद से पहले मौजूद दर्शन मानव अस्तित्व के दर्शन को और प्रकृति के दर्शन को अलग-अलग कर व्याख्यायित करते थे जिन्हें ध्वस्त कर मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक एकीकरण करता है। परन्तु दीपक बख्शी इस एकता को भंग करते हैं व यान्त्रिकतावादी समझदारी पेश करते हैं जिसके अनुसार प्राकृतिक विज्ञान ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से महत्वपूर्ण बन जाता है। दीपक बख्शी मार्क्स-एंगेल्स का हवाला देकर अपने यान्त्रिक श्रृंखला नियम को मार्क्सवादी समझदारी के तौर पर स्थापित करने का प्रयास भी करते हैं। अपनी थीसिस के पक्ष में गवाही दिलवाने के लिए उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं के उद्धरणों के साथ काफ़ी अत्याचार किया है। परन्तु वे इस प्रयास में असफल रहे हैं। हम प्राकृतिक विज्ञान के संकट का मार्क्सवादी विश्लेषण कर चुके हैं जो दीपक बख्शी की मार्क्सवाद के संकट की थीसिस का पूर्वाधार बनता है। एक-एक करके श्री बख्शी के सभी तर्क खोखले साबित होते हैं। लेख के इस हिस्से में हम दीपक बख्शी द्वारा अपने नियम का मार्क्सवाद द्वारा सत्यापन कराने के प्रयास का खण्डन करेंगे व यह देखेंगे कि प्राकृतिक विज्ञान को मार्क्सवाद किस प्रकार देखता है।

#### 3.1 बख्शी द्वारा मार्क्स-एंगेल्स का ग़लत हवाला

दीपक बख्शी ने फ़ायरबाख के भौतिकवादी दर्शन और हेगेलवादी द्वन्द्ववादी भाववाद के निषेध से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विकसित होने की प्रक्रिया दिखाते हुए मार्क्स की डॉक्टरल थीसिस, एंगेल्स द्वारा शेलिंग को जवाब, मार्क्स द्वारा 'हेगेलवादी दर्शन की सामान्य आलोचना', 'फ़ायरबाख पर निबन्ध', 'लुडविग फ़ायरबाख और जर्मन क्लासिकीय दर्शन का अन्त' व अन्य कृतियों से मार्क्स और एंगेल्स को उद्धृत किया है। परन्तु लेख के इस हिस्से में तारतम्यता नहीं है। बिना कोई गहन विश्लेषण किये वे चलताऊ तरीके से मार्क्सवादी दर्शन के उद्भव के समय को (उनके अनुसार 1837!) भी 'खोज' निकालते हैं। लेख में मार्क्स और एंगेल्स के कथनों को ज्यों का त्यों कई जगह पर लिख दिया गया है जिन्हें सही ढंग से उद्धृत भी नहीं किया गया है। हम यहाँ लेख के उन हिस्सों पर ही आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे जिनमें बख्शी ने प्राकृतिक विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के अन्तर्सम्बन्ध की अपनी थीसिस के लिए मार्क्स और एंगेल्स का ग़लत हवाला दिया है। मार्क्स की डॉक्टरल थीसिस का समाहार करते हुए वे बताते हैं कि :

"मार्क्स का यह लेख भौतिकी और दर्शन तथा यूनानी दर्शन के विकास की पड़ताल के बारे में

है।" (बख्शी, मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा)

परन्तु यह समाहार सही नहीं है। मार्क्स की थीसिस भौतिकी और दर्शन की पड़ताल नहीं बल्कि यूनानी प्रकृति दर्शन के इतिहास की समस्या पर आधारित थी। मार्क्स एपीक्यूरस को महज़ डेमाक्रिटस का शिष्य मानने से इन्कार कर दोनों के प्रकृति दर्शन का अन्तर स्पष्ट करते हैं। इस कृति में मार्क्स के रचना काल की न किसी भौतिकी की परिघटना का ज़िक्र आता है और न ही भौतिकी का हवाला मिलता है। यह प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन पर विमर्श नहीं है परन्तु दर्शन पर विमर्श है। मार्क्स द्वारा यूनानी भौतिकी की अणु की अवधारणा का विवरण दार्शनिक अन्तर्वस्तु तक पहुँचने के लिए किया गया है। निश्चित ही इस थीसिस में मार्क्स का मूल्यांकन आधुनिक भौतिकी की समस्याओं व अणु की संरचना तथा उसके भीतर झाँककर देख पाने में एक द्वन्द्वात्मक दृष्टि देता है। पर "भौतिकी और दर्शन तथा यूनानी दर्शन के विकास" तथा यूनानी प्रकृति दर्शन के अध्ययन में फ़र्क करना ज़रूरी है।

आगे बख्शी कहते हैं कि -

"1844 की पाण्डुलिपियों में मार्क्स दार्शनिकों और दर्शनों की प्राकृतिक विज्ञान के अपार ज्ञान से दूर रहने के लिए, जो असल में सभी ज्ञान का आधार है, आलोचना करते हैं।" (बख्शी, मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त की समस्याएँ)

इस रचना में मार्क्स ने ऐसा नहीं कहा है। यह बख्शी की ग़लतबयानी है। मार्क्स ने यह कहा है कि :

"प्राकृतिक विज्ञान ने विराट सक्रियता पैदा की है और लगातार निरन्तर बढ़ती सामग्री एकत्रित की है। दर्शन, हालाँकि इससे इतना ही विलग रहा है जितना यह दर्शन से। उनकी क्षणभंगुर एकता सिर्फ़ एक मृग मरीचिका थी।" (मार्क्स, 1977, इकोनोमिक एण्ड फ़िलोसोफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृष्ठ 104, अनुवाद हमारा)

"प्राकृतिक विज्ञान...जीवन का आधार बनेगा।" (वही, पृष्ठ 105, अनुवाद हमारा)

मार्क्स जिस बात पर ज़ोर डालना चाहते हैं वह यह है कि विज्ञान केवल एक होता है, मनुष्य के जीवन के विज्ञान को और प्रकृति के विज्ञान को अलग करके नहीं देखा जा सकता है। यानी समाज के बदलाव के विज्ञान के लिए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक आवश्यक पहुँच और पद्धति है और प्रकृति के बदलाव के विज्ञान के लिए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक आवश्यक पहुँच और पद्धति है। परन्तु दीपक बख्शी इसे इस तरह से पेश करते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान समस्त ज्ञान का आधार होता है। यह प्राकृतिक विज्ञान को बाकी अन्य ज्ञान शाखाओं से ऊँचा उठा देता है। आगे वे मार्क्स को 'जर्मन विचारधारा' से उद्धृत करते हुए कहते हैं कि :

"हम सिर्फ़ एक विज्ञान जानते हैं, इतिहास का विज्ञान। कोई व्यक्ति इतिहास को दो पहलुओं से देख सकता है और इसे प्रकृति के इतिहास और मनुष्य के इतिहास में बाँट सकता है। परन्तु ये दोनों पहलू अविभाज्य हैं; मनुष्य का इतिहास और प्रकृति का इतिहास एक दूसरे पर निर्भर करते हैं, जब तक मनुष्य का अस्तित्व है।" (मार्क्स-एंगेल्स, जर्मन विचारधारा)। मार्क्स और एंगेल्स

द्वारा प्राकृतिक विज्ञान और मनुष्य के सामाजिक-ऐतिहासिक विकास में परस्पर सम्बन्ध और अविभाज्यता जो हमें जर्मन विचारधारा में देखने को मिलती है वह एंगेल्स द्वारा आगे व्याख्यायित की गयी थी।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त की समस्याएँ*)

जहाँ यह पंक्ति खत्म होती है उसके बाद मार्क्स ने एक जरूरी बात कही है जो बख्शी उद्धृत नहीं करते हैं क्योंकि वह उनकी थीसिस के लिए घातक साबित हो सकता था।

"प्रकृति का इतिहास, जो प्राकृतिक विज्ञान कहलाता है, अभी हमारी चिन्ता विषय नहीं है परन्तु हमें मनुष्य के इतिहास की पड़ताल करनी होगी, क्योंकि लगभग सारी विचारधारा इस इतिहास की विकृत अवधारणा है या उससे पूरी तरह अमूर्त अवधारणा है।" (मार्क्स-एंगेल्स, 2010, जर्मन आइडियोलोजी, पीपीएच, पृष्ठ 34, *अनुवाद हमारा*)

परन्तु दीपक बख्शी सबसे ज्यादा चिन्ता प्राकृतिक विज्ञान की ही करते हैं। दूसरी बात, जर्मन विचारधारा की पाण्डुलिपियों में यह भाग मार्क्स और एंगेल्स ने काटा हुआ था। मार्क्स और एंगेल्स ने जर्मन विचारधारा में प्रकृति के इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान में फ़र्क किया है और सम्भवतः इस कारण ही इस हिस्से को काटा गया हो। इस हिस्से से अलग वे इस पुस्तक में जगह-जगह प्राकृतिक विज्ञान को मानव चेतना का रूप बताते हैं जिसका मानव इतिहास से अलग कोई इतिहास नहीं होता है। प्रकृति का इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान में अन्तर होता है। प्रकृति का इतिहास मनुष्य से पहले से मौजूद होता है। प्रकृति के इतिहास को प्राकृतिक विज्ञान में अपचयित नहीं किया जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञान इतिहास में इंसान द्वारा प्रकृति को समझने और नियंत्रित करने के प्रयास में विकसित होता है, यह मानव चेतना का एक रूप है। मार्क्स के उपरोक्त कथन से जो आशय है वह प्रकृति और मानव समाज की एकरूपता है, जिसमें सिर्फ़ एक विज्ञान, इतिहास का विज्ञान कार्यरत है। यहाँ दीपक बख्शी द्वारा वही भोंड़ा प्रयास किया गया है जिसके अनुसार प्राकृतिक विज्ञान एक ऐसा क्षेत्र बन जाता है जिसका अध्ययन मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास के लिए न केवल अपरिहार्य है बल्कि मार्क्सवाद का विकास इस पर निर्भर करता है और इससे व्युत्पन्न होता है। यहाँ प्रकृति में बदलाव के विज्ञान और मानव समाज में हो रहे बदलाव के विज्ञान की जो एकता बार-बार मार्क्स और एंगेल्स पेश करते हैं उसे दीपक बख्शी भंग करते हैं और इनमें से प्रकृति के विज्ञान यानी प्राकृतिक विज्ञान को मानव समाज के बदलाव करने वाले कारक की निर्धारक भूमिका में पहुँचा देते हैं। मार्क्स के द्वारा इस हिस्से को काटना स्पष्ट है क्योंकि आगे वे लिखते हैं :

"नैतिकता, धर्म, अधिभूतवाद, और इनसे संगत सभी विचारधाराएँ व चेतना के रूप, स्वतंत्र होने का आवरण नहीं धारण कर सकते हैं। इनका कोई इतिहास नहीं होता है, बल्कि अपने भौतिक उत्पादन और क्रिया-व्यापार का विकास करते इंसान का, अपने विश्व और अपने चिन्तन में और चिन्तन के नतीजों में बदलाव को विकसित करते हुए इंसान का इतिहास होता है।" (वही, पृष्ठ 42, *अनुवाद हमारा*)

आगे इस पुस्तक में मार्क्स 'सामाजिक चेतना के रूप' शीर्षक में पुनः इस तरह अभिव्यक्त करते हैं :

"राजनीति, कानून, विज्ञान, आदि, कला का, धर्म का कोई इतिहास नहीं होता है।" (वही, पृष्ठ 101, अनुवाद हमारा)

"...परन्तु प्राकृतिक विज्ञान उद्योग व व्यापार के बगैर कहाँ होता? "शुद्ध" प्राकृतिक विज्ञान को उसकी सामग्री के समान ही लक्ष्य भी व्यापार तथा उद्योग, इंसान की सेन्सुअस ऐक्टिविटी से मिलता है।" (वही, पृष्ठ 46, अनुवाद हमारा)

दीपक बख्शी का तर्क फ़ायरबाख का तर्क है। फ़ायरबाख भौतिकीविद और रसायनविद के प्राप्त अनुभव का विशिष्टिकरण करते हैं तो मार्क्स उन्हें टोकते हैं और प्राकृतिक विज्ञान को इंसान की ऐन्द्रिक गतिविधि (सेन्सुअस ऐक्टिविटी) पर निर्भर बताते हैं। इसे वे 1844 की पाण्डुलिपियों में दोहराते हैं -

"उद्योग और प्रकृति का, इसलिए प्राकृतिक विज्ञान का मनुष्य से असल रिश्ता है। प्राकृतिक विज्ञान...मनुष्य की असल जिन्दगी का आधार बनेगा, और जिन्दगी का एक आधार होना और विज्ञान कोई अलग आधार होना एक झूठ होगा।

"प्राकृतिक विज्ञान ने इंसान की जिन्दगी को भेदा है और तब्दील कर दिया है, वह भी सबसे ज्यादा उद्योग के माध्यम से; व साथ ही इसने मनुष्य की आजादी के लिए आधार खड़ा किया है, हालाँकि इसका तात्कालिक असर मनुष्य को अमानवीय बनाने में है।

"उद्योग असल में इंसान का प्रकृति से रिश्ता है, प्रकृति का ऐतिहासिक रिश्ता, और इसलिए प्राकृतिक विज्ञान का मनुष्य से।" (मार्क्स, 1977, इकोनोमिक एण्ड फ़िलोसोफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृष्ठ 104-5, अनुवाद हमारा)

वहीं बख्शी के अनुसार "वैज्ञानिक प्रयोग और उद्योग को ...व्यवहार माना जाना चाहिए।" साफ़ है कि वैज्ञानिक प्रयोग और इण्डस्ट्री के बीच समानता का नहीं मध्यस्थता का सम्बन्ध होता है। प्राकृतिक विज्ञान निश्चित ही व्यवहार का हिस्सा है परन्तु यह उद्योग द्वारा मीडिएट होता है। यह प्रमुख नहीं है। यानी मार्क्स के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान की उत्पादन पर निर्भरता होती है। इस सवाल पर अगले हिस्से में हम विस्तार से बात करेंगे। ऊपर किये विमर्श से मार्क्स-एंगेल्स व बख्शी के दृष्टिकोण के बीच अन्तर स्पष्ट है तथा उनके ग़लतबयानी के प्रयास भी पकड़े गये हैं।

दीपक बख्शी की बात का दो स्तर पर खण्डन होता है। पहला यह कि दीपक बख्शी से अलग मार्क्स प्राकृतिक विज्ञान को 'सामाजिक चेतना के रूप' समझते हैं जिसे अन्य किसी ज्ञान शाखा पर वरीयता नहीं दी गयी है। दूसरा इसका विकास ऐतिहासिक तौर पर निर्धारित होता है। इतिहास में भी यह मानव व्यवहार की बुनियादी क्रिया उत्पादन के ज़रिये सक्रिय होती है। मार्क्स और एंगेल्स ने अन्य रचनाओं में भी इन दोनों पहलुओं पर लिखा है। हम उनपर नज़र डालने से पहले मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का एक अति संक्षिप्त ब्यौरा देना चाहते हैं।

### 3.2 मार्क्स और एंगेल्स का प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन

**"प्रकृति द्वन्द्ववाद की कसौटी है।" - एंगेल्स**

मार्क्स की गणित की पाण्डुलिपियाँ दर्शाती हैं कि उन्होंने गणित की कुछ समस्याओं का गहन अध्ययन किया था। इस अध्ययन की उन्हें पूंजी की गतिकी और उसके विस्तार की पड़ताल हेतु जरूरत पड़ी। इस दौरान उन्होंने लीबनिज़ से लेकर न्यूटन द्वारा रचित कैल्कुलस का अध्ययन किया। मार्क्स द्वारा कैल्कुलस पर टिप्पणियाँ बेहद महत्वपूर्ण थीं जिन्हें आगे चलकर तमाम गणितज्ञों ने स्वतन्त्र तौर पर भी विकसित किया। उनसे पहले भी कोची ने ऐसा प्रयास किया था परन्तु मार्क्स की इस सवाल को लेकर पहुँच अलग थी जिस पर डर्क स्टुइक ने विशेष ध्यान दिया। आज कोई यह कहे कि इस अध्ययन से आधुनिक गणित में बदलाव किया जा सकता है तो यह मूर्खता होगी क्योंकि आज का गणित मार्क्स के युग से बहुत आगे बढ़ चुका है और उन समस्याओं को हल कर चुका है जिस पर मार्क्स उस समय लिख रहे थे। परन्तु इससे जो सीखा जा सकता है वह है प्राकृतिक विज्ञान का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने की पद्धति व पहुँच। मार्क्स द्वारा गणित का अध्ययन एंगेल्स के गणित के अध्ययन से ज़्यादा व्यापक और गहन था।

एंगेल्स ने प्राकृतिक विज्ञान का विस्तृत अध्ययन किया था जिसमें भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव विज्ञान, गणित, एस्ट्रोनॉमी आदि शामिल थे। एंगेल्स द्वारा लिखित **ड्यूहरिंग मत खण्डन** व **प्रकृति में द्वन्द्वात्मकता** प्रमुख रचनाएँ हैं जिनमें एंगेल्स प्रकृति में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के लागू होने और उसकी पुष्टि की बात करते हैं। पिछली शताब्दी में एंगेल्स के प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन को सोवियत रूस में और समाजवादी चीन में आधार बनाकर प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में विस्तार से कार्य किया गया। इस विषय पर विराट अध्ययन हुआ है। इसके इतिहास पर हेलेना शीहन, लौरिन ग्राहम से लेकर रोबर्ट कोहेन का लेखन गलतियों के बावजूद पठनीय है। मार्क्स-एंगेल्स की प्राकृतिक विज्ञान पर लिखी कृतियों से भी यही स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार मानव समाज व मानव मस्तिष्क की क्रियाओं से ऊपर प्राकृतिक विज्ञान का मार्क्सवादी दर्शन से कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं होता है। इनका एकमात्र सम्बन्ध इनकी एकरूपता में है, यानी मानव समाज व मानव मस्तिष्क की क्रियाओं और प्रकृति के विज्ञान की एकता, यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में। इतिहास में मानव समाज के विकास के साथ ही इसका विकास हुआ है। **ड्यूहरिंग मत खण्डन** में एंगेल्स लिखते हैं :

"जब मैंने गणित और प्राकृतिक विज्ञान का पुनः अध्ययन किया था, तो मेरा उद्देश्य खुद को यह विश्वास दिलाना था कि जिस बात की सामान्य सच्चाई में मुझे कोई सन्देह नहीं था, वह बात अलग-अलग रूप में सच है। अर्थात् मैं इस बात की सच्चाई को अलग-अलग रूप में परखना चाहता था कि प्रकृति में जो असंख्य परिवर्तन होते रहते हैं, उनके बीच भी गति के वे ही द्वन्द्वात्मक नियम बलपूर्वक अमल में आते हैं; जो इसी प्रकार मानव चिन्तन के विकास के इतिहास में भी एक सतत सूत्र की भाँति दिखायी पड़ते हैं तथा धीरे धीरे मनुष्य की चेतना में प्रवेश करते हैं।" (एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत खण्डन**, पेज 20-21)

"प्रकृति द्वन्द्ववाद की कसौटी है; और आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान के बारे में यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने द्वन्द्ववाद के प्रमाण के रूप में अत्यन्त मूल्यवान सामग्री दी है, जो दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और इस प्रकार उसने सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति में हर चीज़ अधिभूतवादी ढंग से नहीं बल्कि द्वन्द्वात्मक ढंग से घटती रहती है। लेकिन प्रकृति विज्ञान के ऐसे विद्वानों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है जिन्होंने द्वन्द्वात्मक ढंग से सोचना सीख लिया है, और खोज के परिणामों तथा पूर्वकल्पित चिन्तन प्रणालियों के बीच जो टकराव होता है उसी का नतीजा है कि इस समय सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में एक गड़बड़ी फैल गयी है, जिसका लगता है कभी अन्त नहीं होगा और जो शिक्षक तथा शिक्षार्थी, लेखक तथा पाठक सभी को विक्षिप्त बनाये डाल रही है। अतः विश्व की, उसके विकास की, मनुष्यजाति के विकास की तथा मनुष्यों के मस्तिष्क में इस विकास के प्रतिबिम्ब की सच्ची अवधारणा केवल द्वन्द्ववाद की पद्धति द्वारा ही की जा सकती है, जो निर्माण और निर्वाण की, प्रगतिशील और प्रतिगामी परिवर्तनों की असंख्य क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को निरन्तर ध्यान में रखती है।" (वही, पेज-42)

दीपक बख्शी द्वारा 'गड़बड़ी' को संकट में तब्दील कर शोर मचाने की आदत के विपरीत एंगेल्स बताते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान मार्क्सवादी दर्शन-पद्धति तक पहुँचे बिना गलत रास्तों में चक्कर काटता रहता है। इसकी विस्तारपूर्वक विवेचना हम 'प्राकृतिक विज्ञान और संकट' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं। एंगेल्स बताते हैं कि :

"मेरे लिए द्वन्द्ववाद के नियमों को प्रकृति में ज़बर्दस्ती ठूँसने का कोई प्रश्न नहीं उठा सकता था; मुझे तो इन नियमों को प्रकृति से खोज कर निकलना था और प्राकृतिक जगत के आधार पर उनको विकसित करना था।" (वही, पेज-23)

अपनी रचना **लुडविग फ़ायरबाख** में एंगेल्स उन तीन महती खोजों, जिन्होंने अधिभूतवादी दृष्टिकोण को हटाकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए जगह बनायी, के बारे में लिखते हैं :

"वास्तव में प्रकृति-विज्ञान, जो पिछली शताब्दी के अन्त तक प्रधानतः संग्रही विज्ञान, निष्पन्न वस्तुओं का विज्ञान था, हमारी शताब्दी में सारतः क्रम विषयक विज्ञान, प्रक्रियाओं का तथा इन वस्तुओं के उद्भव और विकास का और इन समस्त प्राकृतिक प्रक्रियाओं को एक सूत्र में बाँधकर उन्हें एक समष्टि का रूप देने वाले अन्तर्सम्बन्ध का विज्ञान बन गया।" इन तीन "महती खोजों" - "इकाई के रूप में कोशिका की खोज, दूसरी, ऊर्जा के रूपान्तरण की खोज और तीसरी डार्विन का उद्‌विकास का सिद्धान्त (थियरी ऑफ़ इवोल्यूशन) - ने प्राकृतिक प्रक्रियाओं के अन्तर्सम्बन्ध के हमारे ज्ञान को अत्यधिक वेग से आगे बढ़ाया है।

"इन तीन महती खोजों और प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में और दूसरे बहुत बड़े क्रम बढ़ाये जाने की बदौलत हम अब प्रकृति की प्रक्रियाओं के अन्तर्सम्बन्ध केवल क्षेत्र विशेष में ही नहीं, बल्कि इन विशेष क्षेत्रों के बीच भी अन्तर्सम्बन्ध समग्रतः दिग्दर्शित कर सकते हैं और इस प्रकार आनुभविक प्रकृति-विज्ञान द्वारा प्रस्तुत तथ्यों के ज़रिये हम काफ़ी क्रमबद्ध रूप में, प्रकृति के अन्तर्सम्बन्ध का एक व्यापक चित्र दे सकते हैं।" (एंगेल्स, 2006, **लुडविग फ़ायरबाख** और

**क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त, राहुल फ़ाउण्डेशन, पेज 39-40)**

प्राकृतिक विज्ञान में हुई प्रगति ने भी इंसान को उसके सही दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के करीब पहुँचने में मदद की और आगे होने वाली खोजें इस क्रिया को क्रम-ब-क्रम आगे बढ़ाती जायेंगी। प्राकृतिक विज्ञान में हो रहे बदलावों से भौतिकवाद को भी विकसित होना होता है। यही मार्क्सवादी नज़रिया है।

"प्राकृतिक विज्ञान (मानव इतिहास के बारे में आम तौर पर) में हर युगप्रवर्तक खोज के साथ भौतिकवाद को अपना रूप बदलना होता है" (वही, पेज 19)

परन्तु इतिहास में "प्राकृतिक विज्ञान में हर युगप्रवर्तक खोज" उत्पादन शक्तियों के विकास के ज़रिये होती है। मार्क्स ने पूँजी के खण्ड-एक में प्राकृतिक विज्ञान को "श्रम शक्ति से पृथक कर दी गयी उत्पादन शक्ति" बताया है जिसे पूँजी की सेवा में लगा दिया जाता है। विज्ञान इतिहास की अलग-अलग मँज़िलों जैसे कि आदिम समाज, दास व्यवस्था, सामन्तवाद, विभिन्न प्राकृतिक पूँजीवादी सामाजिक संरचनाओं और पूँजीवाद तक विकसित होता हुआ आया है और समाजवाद के लघुजीवी प्रयोगों में भी विज्ञान ने अद्भुत रफ़्तार से तरक्की की। आज हम ऐसे दौर में जी रहे हैं जहाँ दुनिया भर में समाजवाद के प्रथम प्रयोग असफल हो चुके हैं और पूँजीवाद ने साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण के अपने इस अभूतपूर्व रूप से मरणासन्न, सड़े और परजीवी दौर में दुनिया को युद्ध, तबाही और ग़रीबी में धकेल दिया। आरम्भिक सभ्यता के सृजन से लेकर पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रान्ति के बाद 20वीं शताब्दी के दौर समाज के उथल-पुथल या समाज के विकास के दौर थे। समाज की आर्थिक संरचना में बदलाव के दौरों में और विकास के दौर में विज्ञान व तकनोलॉजी में छलाँगें लगती रही हैं। विज्ञान व तकनोलॉजी उत्पादन शक्ति का ही अभिन्न अंग है जिन्हें पूँजीवाद में मुनाफ़ा पीटने के लिए ही लगा दिया जाता है। यही इसके ठहराव का कारण है। इसका ठहराव श्रम से विज्ञान के विभाजन में अभिव्यक्त होता है। यही वह उक्ति है जो मार्क्स ने विज्ञान के लिए दी थी - श्रम से कट कर विज्ञान पूँजी की सेवा में लगी उत्पादक शक्ति बन जाता है। मौजूदा दौर में उत्पादक शक्तियों के विकास का ठहराव ही विज्ञान व तकनीक का ठहराव है। यही वह बेड़ी है जो इसके विकास पर पड़ी हुई है। मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के बिना इस बेड़ी को भी तोड़ा नहीं जा सकता है। यही आकलन मार्क्स ने अपनी 1844 की पाण्डुलिपियों में किया है जहाँ वे कहते हैं कि "प्राकृतिक विज्ञान ने इंसान की ज़िन्दगी को भेदा और तब्दील कर दिया है, वह भी सबसे ज़्यादा उद्योग के माध्यम से; व साथ ही इसने मनुष्य की आज़ादी के लिए आधार खड़ा किया है, हालाँकि इसका तात्कालिक असर मनुष्य को अमानवीय बनाने में है।" (मार्क्स, इकोनोमिक एण्ड फ़िलोसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स, पृष्ठ 105, अनुवाद हमारा)

आज प्राकृतिक विज्ञान का प्रयोग जिस क्षेत्र में सबसे ज़्यादा और उन्नत स्तर पर किया जा रहा है वह है युद्ध। इसका प्रयोग मनुष्य को मशीन बनाने में किया जा रहा है और "मनुष्य की आज़ादी के लिए आधार" सामाजिक क्रान्ति के बिना सम्भव नहीं है। यह वह वृहद् दृष्टिकोण है जो दीपक बख़्शी द्वारा प्राकृतिक विज्ञान के सामाजिक बदलाव के यान्त्रिकतावादी दृष्टिकोण को ग़लत

साबित करता है। दीपक बख्शी के लिए प्राकृतिक विज्ञान में ठहराव के कारण मार्क्सवादी दर्शन में ठहराव आता है और इस कारण मार्क्सवादी सिद्धान्त में और मार्क्सवाद संकट में पड़ जाता है। मार्क्सवाद का मत इससे भिन्न है। एंगेल्स ने **प्रकृति में द्वन्द्वात्मकता** के परिचय में दिखाया है कि किस प्रकार सामाजिक परिवर्तनों के कारण ही प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में तब्दीली होती है। जिस प्रकार सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल प्रगति इतिहास में इनसे पूर्व हुई सामाजिक क्रान्तियों के बाद हुई और फिर इसने पलटकर उत्तरोत्तर सामाजिक परिवर्तनों को भी बल दिया, उसी तरह सामाजिक क्रान्तियों और उथल-पुथल ने ही उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल प्रगति में भूमिका निभायी। यही मार्क्स द्वारा विज्ञान को उत्पादक शक्ति के रूप में व्याख्यायित करने का अर्थ है। दूसरे शब्दों में, जब तक पुराने पड़ चुके उत्पादन सम्बन्धों को क्रान्तियों द्वारा बदला नहीं जाता तब तक वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल धरातल पर भी कोई क्रान्तिकारी युगान्तरकारी छलाँग लगना मुश्किल होता है (हालाँकि महत्वपूर्ण परिमाणत्मक परिवर्तन होते रहते हैं) और विज्ञान और तकनोलॉजी के क्षेत्र में लगने वाली हर नयी छलाँग फिर से क्रान्तिकारी परिवर्तनों की ज़मीन भी तैयार करती है।

### 3.3 मार्क्सवाद में संकट या पूँजीवाद का संकट

आज विज्ञान का संकट उत्पादक शक्तियों के ठहराव का संकट है। यही वह संकट है जिसे न समझ पाने के कारण दीपक बख्शी मार्क्सवाद के ऊपर यह ज़िम्मेदारी डाल देते हैं कि वह भौतिकी में हुई नयी खोजों और नये सिद्धान्तों को व्याख्यायित कर स्वयं का विकास करे और अपना संकट दूर करे। अव्वलन तो यह मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त का संकट नहीं, बल्कि बर्जुआ दर्शन, विज्ञान और सिद्धान्त का संकट है और दूसरी बात यह कि मार्क्सवाद ने भौतिकी के क्षेत्र में पेश नये सिद्धान्तों की व्याख्या की दिशा में बहुत काम किया है, जिनकी श्री बख्शी को जानकारी नहीं है। उत्पादक शक्तियों के ठहराव के संकट को दूर करने का काम सामाजिक क्रान्ति के जरिये किया जा सकता है। सोवियत रूस में प्राकृतिक विज्ञान को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखने की नज़र दी गयी और वहाँ इस सवाल पर ज़बर्दस्त दार्शनिक बहसें चलीं। ब्लोखिंस्तेव, व्लादिमिर फ़ोक, लैन्दाऊ से लेकर रोसेंफ़ेल्ड, बोर्न, लेंजविन व तमाम प्राकृतिक वैज्ञानिकों ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाया और आधुनिक भौतिकी के विकास में मदद की। इस दृष्टिकोण से ताकेतानी ने तीन मंज़िल का सिद्धान्त भी दिया और क्वाण्टम भौतिकी की प्रेक्षण समस्या का हल भी निकाला। जिन समाजों में मानवता की रचनात्मकता और नवोन्मेष पर मुनाफ़े की ताकतों द्वारा लगायी गयी पाबन्दियाँ हटा दी गयीं, उन समाजों में विज्ञान ने चमत्कारिक रफ़्तार से तरक्की की। सोवियत संघ में 1920 से लेकर विशेष तौर पर 1970 के दशक के अन्त तक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक विज्ञान दोनों के ही क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ। राज्यसत्ता पर संशोधनवाद के काबिज़ होने का असर अधिरचना के विभिन्न क्षेत्रों में आते-आते कुछ समय लगना स्वाभाविक था। फ़ॉक का यह कथन वैज्ञानिकों के बीच उस दौर की आम अभिव्यक्ति

था - "दिक-काल और गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धित हमारे विचारों के सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और विशेषकर लेनिन के भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना के प्रभाव में निर्मित हुए थे।" (व्लादिमिर फ़ोक, *थियरी ऑफ़ स्पेस, टाइम एण्ड ग्रेविटेशन*, पृष्ठ 16) समाजवादी सोवियत रूस में और चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान प्राकृतिक विज्ञान में द्वन्द्व की पड़ताल करने वाली पत्रिकाओं - सोवियत संघ में **अण्डर दि बैनर ऑफ़ मार्क्सिस्म** और चीन में निकलने वाला जर्नल **डायलेक्टिक्स ऑफ़ नेचर** इसके ही प्रातिनिधिक उदाहरण हैं। केवल तभी विज्ञान के संकट को दूर किया जा सकता है जब पूँजी की बेड़ियों से विज्ञान मुक्त हो जाये।

आज की आधुनिक भौतिकी पर नजर डालें तो **हिग्स बुसोन** के मिलने के बाद भी आधुनिक भौतिकी में संकट के गीत बजने लगे हैं। और यह लाज़िमी भी है। कारण यह कि इस खोज की व्याख्या भी एक *ए प्रायोरी* द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से नहीं की जा रही है। नतीजतन, नियतत्ववाद और अज्ञेयवाद के दो छोरों के बीच दोलन स्वाभाविक है। विज्ञान में संकट के अन्य ठोस भौतिक कारण भी मौजूद हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्पेन देश है जहाँ आर्थिक मन्दी के चलते सरकार ने दो साल पहले अपने विज्ञान मन्त्रालय को ही खत्म कर दिया। यूरोप में लगभग हर सरकार ने प्राकृतिक विज्ञान पर हो रहे खर्च को 60-80 फ़ीसदी कम किया है और यही कारण है कि आज के ऐतिहासिक युग का महानतम वैज्ञानिक प्रयोग (सर्न का हाईड्रॉन कोलाइडर प्रयोग) भी वित्तपोषण के अपर्याप्त होने के कारण अपेक्षित गति से आगे नहीं बढ़ पा रहा है। इस संकट से निजात पाना समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के बिना असम्भव है।

परन्तु दीपक बख्शी का मत अलग है। उनके मतानुसार आज का कार्यभार :

"मार्क्सवादी नज़रिये से विज्ञान (खास तौर पर भौतिकी में, एस्ट्रोनोमी, जैनेटिक्स, बायोटेक्नॉलोजी... का अध्ययन, उनकी समझ बनाना, बहस-मुबाहिसे में उतरना और विज्ञान के पिछले 150 सालों के सिद्धान्तों को विकसित करना होगा।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्याएँ, अनुवाद हमारा*)

परन्तु आज हम फ़ैराडे के ज़माने में नहीं जी रहे हैं। फ़ैराडे बेहद गरीब परिवार में पैदा होने के कारण उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाये परन्तु इसके बावजूद वे भौतिकी और रसायन विज्ञान में महानतम वैज्ञानिक अविष्कार अंजाम देने व नये सिद्धान्त रच पाने में सफल हुए। फ़ैराडे किताब पर जिल्द लगाने वाली दुकान में काम करते थे और इस दुकान के ही पिछले आँगन में विज्ञान की किताबें पढ़कर स्वयं रसायन विज्ञान तथा भौतिकी के प्रयोग करते थे। परन्तु आज के युग में आधुनिक भौतिकी की सैद्धान्तिकी या प्रयोगों को दीपक बख्शी या कोई भी अपने घर के आँगन में नहीं आजमा सकता है। "विज्ञान के पिछले 150 सालों के सिद्धान्तों को विकसित" करने के लिए हमें सर्न और लीगो जैसी विशाल प्रयोगशालाएँ चाहिए। परन्तु ये प्रयोगशालाएँ आज पूँजी की सेवा में लगी हुई हैं। सर्न प्रयोगशाला में एक दशक से ऊपर से वैज्ञानिक सैद्धान्तिक विकास के लिए जो माथापच्ची कर रहे हैं वह प्रक्रिया बार-बार थम जाती है। संक्षेप में कहें तो यह रुकावट पूँजी निवेश न हो पाने के कारण, शोध नीति में निवेशकों के प्रति संस्थान की जवाबदेही के कारण

और वैज्ञानिकों के बीच पैटेन्ट, कॉपीराइट और पर्चे छपाने की होड़ के चलते आती है। दूसरा, बुर्जुआ समाज की परवरिश के चलते उपजी वैज्ञानिकों की गलत दार्शनिक प्रतिस्थापनाएँ उन्हें सही नतीजों पर नहीं पहुँचने देती हैं। आज पूँजी की बेड़ियों में जकड़ा विज्ञान संकट का शिकार है। इन बेड़ियों को चकनाचूर किये बिना हम विज्ञान के संकट को दूर नहीं कर सकते हैं। परन्तु दीपक बख्शी का उपरोक्त तर्क इसके बिलकुल उलट है, उनके अनुसार क्रान्ति के विज्ञान को विकसित करने के लिए हमें प्राकृतिक विज्ञान को विकसित करना होगा। यह इसलिए कि वे न तो प्राकृतिक विज्ञान का इतिहास ही जानते हैं और न ही आधुनिक भौतिकी के मौजूदा व्यवहार से वाकिफ़ हैं।

प्राकृतिक विज्ञान पर दीपक बख्शी द्वारा मार्क्सवादी दृष्टिकोण की निर्भरता के सिद्धान्त को मार्क्सवाद से आशीर्वाद दिलाने का प्रयास बिखर गया है। दीपक बख्शी की तर्क प्रणाली मार्क्सवादी विश्व-दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं है। मार्क्सवाद का विश्व-दृष्टिकोण द्वन्द्व्वात्मक भौतिकवाद है जिसे मार्क्स और एंगेल्स ने प्रकृति, मानव समाज तथा मानव चिन्तन के विज्ञान के रूप में व्याख्यायित किया। द्वन्द्व्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण को समाज, प्रकृति व मानव चिन्तन के विकास के अनुसार विकसित और व्याख्यायित होना होता है न कि इसके उलट समाज, प्रकृति व मानव चिन्तन को इस दृष्टिकोण पर खरा उतरना होता है। यह विश्व-दृष्टिकोण वास्तव में प्रकृति, समाज और चिन्तन के तार्किक और वैज्ञानिक प्रेक्षण, विश्लेषण व सामान्यीकरण की प्रक्रिया में ही विकसित हुआ है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी किसी भी सामाजिक, प्राकृतिक या मानव चिन्तन के जगत की परिघटना को इस विज्ञान की दृष्टि से देखते हैं और यही प्रक्रिया इसी क्रम में इस विज्ञान को उत्तरोत्तर विकसित और समृद्ध भी करती है। इस विज्ञान की समृद्धि में सबसे बड़ी भूमिका सामाजिक व्यवहार की होती है। सामाजिक व्यवहार में भी उत्पादन व वर्ग संघर्ष सबसे प्रमुख महत्व रखते हैं। वर्ग संघर्ष ही इतिहास में समय-समय पर सामाजिक क्रान्तियों के रूप में परिणत होता है। इन सामाजिक क्रान्तियों की भी विज्ञान के विकास में महती भूमिका होती है। इतिहास के मौजूदा दौर में यह वैज्ञानिक समाजवाद के विज्ञान का आधार बनता है। यह खुले तौर पर सर्वहारा वर्ग की सेवा करने की घोषणा करता है। विश्व इतिहास की पिछली दो शताब्दियों में पूँजीवाद के खिलाफ़ जारी संघर्षों, सफल और असफल क्रान्तियों के अनुभवों के कुल योग के रूप में वैज्ञानिक समाजवाद विकसित हुआ। मार्क्स और एंगेल्स के बाद लेनिन और स्तालिन ने रूसी क्रान्ति के दौर में मार्क्सवाद को एक नये क्रम की ओर बढ़ाया और माओ ने चीनी क्रान्ति और विशेष तौर पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में इसे नयी ऊँचाई तक पहुँचाया। आधुनिक भौतिकी से लेकर कला के उत्तरोत्तर विकास के क्षेत्र में भी सामाजिक क्रान्तियों ने ही अग्रिम भूमिका निभाते हुए एक ओर मानव सृजनशीलता के विकास को निर्बन्ध किया जो कि उत्पादक शक्तियों का सबसे अहम पहलू है और दूसरी ओर उत्पादक शक्तियों के वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल पहलू के विकास को भी प्रेरणा दी। पुराने उत्पादन सम्बन्धों की बेड़ियों से मुक्त हुए बिना, मानव समाज विज्ञान, कला, साहित्य, संस्कृति के क्षेत्र में भी जड़ता का शिकार हो जाता है (हालाँकि, परिमाणात्मक विकास लगातार होते रहते हैं) और ऐसे दौरों में ही ग्राम्शी के शब्दों में "रुग्ण लक्षण"

जन्म लेते हैं। क्या आज विज्ञान और कला दोनों की ही दुनिया में ऐसे रुग्ण लक्षणों को नहीं देखा जा सकता है? परन्तु दीपक बख्शी सरीखे राजनीतिक नौदोलतिए इन लक्षणों का कारण मार्क्सवाद में देखते हैं। दीपक बख्शी अपने लेख में मार्क्सवादी दर्शन में ठहराव और मार्क्सवादी सिद्धान्त के संकट से राजनीतिक परिणाम भी निकालते हैं। आइये अब इस 'केपुट मॉर्चुअम' (आसवन के अवशेष) के ऐतिहासिक और राजनीतिक नतीजों की पड़ताल कर लेते हैं।

#### 4. बुर्जुआ दार्शनिक हमले व मार्क्सवाद की ग़लत व्याख्या का संकट

*"कोई यह नहीं सोचता कि कितना खून बहा है।" - दांते*

मार्क्सवाद लगातार विकसित होता हुआ विज्ञान है जो हजारों-लाखों इंसानों के सामूहिक सामाजिक व्यवहार के ज़रिये मानव समाज और प्रकृति से जुड़े हर आयाम में विकसित हो रहे मानव ज्ञान का सामान्यीकरण करता है। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ जैसे प्रतिभावान सामाजिक वैज्ञानिकों की भूमिका निश्चित तौर पर अहम होती है और इस वैज्ञानिक सामान्यीकरण के काम को वे अंजाम देते हैं। आधुनिक भौतिकी के क्षेत्र में ताकेतानी, सकाता से लेकर सोवियत काल में बोरिस हेस्सेन से लेकर व्लादिमिर फ़ोक ने तो वहीं कला के क्षेत्र में पिकासो, बर्टोल्ट ब्रेष्ट और आइज़ेन्स्टाइन व अन्य कलाकारों ने भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अर्न्तगत अपने-अपने कर्मक्षेत्रों में प्रयोग, खोज व सैद्धान्तिकीकरण किया जिसने मार्क्सवादी सिद्धान्त में इज़ाफ़ा किया। परन्तु यह बिलकुल सीधे-सपाट रास्ते से नहीं हुआ बल्कि बेहद गहन और गम्भीर वैचारिक संघर्षों के जटिल, टेढ़े-मेढ़े और अन्तर्गुन्थित रास्तों से हुआ है। परन्तु दीपक बख्शी बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवाद में हुए इन सैद्धान्तिक इज़ाफ़ों को खारिज कर देते हैं या उनका ज़िक्र ही नहीं करते। प्राकृतिक विज्ञान के मार्क्सवादी दर्शन से रिश्ते की यान्त्रिक समझदारी कायम करने के बाद वे मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त के बीच भी यान्त्रिक सम्बन्ध कायम करते हैं। उनके अनुसार "भविष्य के सैद्धान्तिक, विचारधारात्मक व राजनीतिक सवालों के आकलन में" दार्शनिक सवाल प्रमुख होता है। दीपक बख्शी की '**प्राकृतिक विज्ञान - मार्क्सवादी दर्शन - मार्क्सवादी सिद्धान्त**' की यान्त्रिक श्रृंखला में हम प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन की कड़ी की बात कर चुके हैं। अब इस यान्त्रिक श्रृंखला की दूसरी कड़ी पर बात कर लेते हैं।

दीपक बख्शी अपने लेख की शुरुआत इस घोषणा से करते हैं कि आज मार्क्सवादी सिद्धान्त का विकास संकट में है और इसमें विकास की ज़रूरत सभी क्रान्तिकारी धड़े महसूस कर रहे हैं। दीपक बख्शी बताते हैं कि 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का प्रयास इस ज़रूरत की पूर्ति के लिए है। दीपक बख्शी के शब्दों में:

"कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा पेश किये गये सिद्धान्तों व विचारों का विकास आज एक बेहद कठिन संकट से गुज़र रहा है। लेनिन के हाथों में मार्क्सवाद एक तरफ़ तो विकसित हुआ और वहीं दूसरी तरफ़ मूलभूत सवालों व चुनौतियों से इसका सामना हुआ।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)।

यहाँ लेनिन और मार्क्स-एंगेल्स के बीच फ़र्क़ से यह बात ज़ाहिर है कि बख़्शी के अनुसार लेनिन के दौर से ही मार्क्सवाद के सामने दिक्कततलब अनुत्तरित प्रश्न उठने शुरू हो गये थे। आगे वे लिखते हैं :

"इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत में मार्क्सवादी सिद्धान्त में एक गुणात्मक छलाँग निरपेक्ष रूप से ज़रूरी (इम्पेरेटिव) है" और "विश्व भर में कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी धड़े बुर्जुआ सैद्धान्तिक हमलों के आगे कमज़ोर और असहाय महसूस कर रहे हैं...जो लोग इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि मार्क्सवाद का विकास संकट से गुज़र रहा है वे मार्क्सवाद के उभरने व परिपक्व होने की आशा करेंगे...एंगेल्स द्वारा मार्क्सवादी सिद्धान्त को पूर्ण बनाने का प्रयास, जो उन्होंने मार्क्स की सलाह पर किया, हमें कहीं भी अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में लेनिन के बिखरे हुए कार्य के बाद देखने को नहीं मिलता है।" (बख़्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)

यहाँ वह साफ़ तौर पर लेनिन के प्रयासों को 'बिखरा' हुआ मानते हैं और स्तालिन एवं माओ के अवदानों को बिलकुल सिरे से ख़ारिज कर देते हैं। आगे वह संकट की बात जारी रखते हुए कहते हैं कि आज मार्क्सवाद में नये सिद्धान्तों की ज़रूरत है :

"हमारा यह मत है कि आज मार्क्सवादी सिद्धान्त के 'विकास' की जो दशा है उसमें पुराने सिद्धान्तों में किसी भी किस्म के संयोजन से कुछ नहीं होगा। किसी भी एकतरफ़ा या असन्तुलित सिद्धान्त से मौजूदा परिस्थिति में बदलाव नहीं आने वाला है। आज हमें मार्क्सवाद के तमाम क्षेत्रों में सुसंगत और विशद सिद्धान्तों की ज़रूरत है।" (बख़्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)

बख़्शी की सैद्धान्तिक 'संघर्ष' की माँग का आधार उनकी मार्क्सवाद की व्याख्या को समझे बिना नहीं जानी जा सकती है। उनके अनुसार -

"मार्क्सवादी सिद्धान्त और मार्क्सवादी दर्शन के बीच अन्तर्सम्बन्ध मार्क्सवाद के विकास में सबसे महत्वपूर्ण आधार है।"

"सामाजिक-ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में किस तरह आवश्यकता और स्वतन्त्रता सही द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में स्थानान्तरित होंगे यह न तो आर्थिकी का सवाल है, न इतिहास का और न ही राजनीति का सवाल है बल्कि यह दर्शन का सवाल है।" (वही, *अनुवाद हमारा*)।

आइये दीपक बख़्शी के इस नवीन 'दर्शन-सिद्धान्त' की विचार प्रणाली पर सिलसिलेवार आलोचनात्मक दृष्टि डालें। दीपक बख़्शी क्रान्ति के विचारधारात्मक, राजनीतिक और सैद्धान्तिक प्रश्नों के लिए दर्शन को प्रमुख बताते हैं। निश्चित ही सही दार्शनिक रोशनी में ही इन सभी प्रश्नों पर बात हो सकती है क्योंकि इन प्रश्नों में दार्शनिक अवस्थिति अभिव्यक्त होती है। दार्शनिक नज़रिया सैद्धान्तिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रश्नों का ही सार्वभौमिकीकरण है। सैद्धान्तिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रश्न दार्शनिक नज़रिये के विशिष्टीकरण हैं। क्रान्ति का सवाल 'आवश्यकता और स्वतन्त्रता' को राजनीति, आर्थिकी और इतिहास में ही हल करता है परन्तु

यहाँ बख्शी एक यान्त्रिक बँटवारा करते हैं और दर्शन के सवाल को इन सबसे ऊँचा बना देते हैं। मार्क्सवाद राजनीति, सिद्धान्त और विचारधारा के इस यान्त्रिक बँटवारे को ही ग़लत मानता है। दीपक बख्शी सवाल पूछते हैं कि इतिहास में आवश्यकता और स्वतन्त्रता के द्वन्द्व का हल किस नज़रिये की रोशनी में होगा; ग़ौर कीजिए कि आवश्यकता और स्वतन्त्रता दार्शनिक प्रवर्ग हैं; इस प्रश्न का जवाब देते हुए श्री बख्शी कहते हैं कि इस सवाल का जवाब दार्शनिक दृष्टिकोण से ही दिया जा सकता है। यह तर्क ही गोल है जिसमें सवाल के अन्दर पहले से ही जवाब छिपा हुआ है। अपने इस आवश्यकता और स्वतन्त्रता के द्वन्द्व के सवाल के ज़रिये वे यह साबित करते हैं कि दर्शन का सवाल मार्क्सवाद में मुख्य बिन्दु है। मार्क्स और एंगेल्स ने इस यान्त्रिक दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए कहा था :

"भौतिकवाद मूलतया द्वन्द्वात्मक है और अब उसे अन्य विज्ञानों के ऊपर खड़े हुए किसी दर्शनशास्त्र की आवश्यकता नहीं है।" (एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन, पेज 47)

"सारा दर्शनशास्त्र प्रकृति और इतिहास के निश्चित विज्ञान का अंग बन जाता है... पर जिस तरह प्रकृति की द्वन्द्वात्मक धारणा पूरे प्रकृति दर्शन को अनावश्यक और असंभव बना देती है, उसी तरह उपरोक्त धारणा (इतिहास की मार्क्सवादी धारणा) इतिहास के क्षेत्र में दर्शन को खत्म कर देती है।" (एंगेल्स, लुडविग फ़ायरबाख व क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त, पृष्ठ 51-52)

मार्क्सवाद के उद्भव में दार्शनिक सवाल अहम था क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स के बौद्धिक जीवन की जब शुरुआत हुई तब विशेष रूप से दर्शन के आवरण में राजनीतिक टकराव हो रहे थे। परन्तु इसके बाद मार्क्स और एंगेल्स ने उस दौर के राजनीतिक संघर्षों में हिस्सेदारी की और उनकी समझ में राजनीतिक व्यवहार ने उनके आगे के जीवन का रास्ता तय किया, और वे 'वैज्ञानिक समाजवाद' तक पहुँचे। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को तो उनसे स्वतन्त्र रूप में एक हद तक जर्मन मज़दूर डिएल्ज़गेन ने भी खोज निकाला था। परन्तु उसे सबसे परिष्कृत रूप देना व इतिहास तथा विज्ञान में लागू करने का कार्यभार मार्क्स और एंगेल्स ने स्वतन्त्र रूप से पूरा किया था। यह उन्होंने केवल दर्शन या प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन से ही नहीं बल्कि अपने राजनीतिक व्यवहार से भी किया। एंगेल्स लिखते हैं :

"...यह धारा मूलभूत रूप से मार्क्स के नाम के साथ जुड़ी हुई है... मैं इससे इनकार नहीं कर सकता कि मार्क्स के साथ चालीस वर्षों के अपने सहयोग के समय और इससे पहले भी इस सिद्धान्त की बुनियाद डालने और विशेषकर इसे विकसित करने में मेरा एक हद तक स्वतन्त्र योगदान रहा है। पर इसके अग्रणी, मूलभूत सिद्धान्तों का अधिकतर भाग, खासकर अर्थशास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में, और सर्वापरि इन सिद्धान्तों का सटीक निरूपण मार्क्स की देन है।" (एंगेल्स, लुडविग फ़ायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त, पेज 35)

"इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और बेशी मूल्य के द्वारा पूँजीवादी उत्पादन के रहस्य का उद्घाटन इन दोनों महान आविष्कारों के लिए हम मार्क्स के आभारी हैं। इन आविष्कारों के कारण समाजवाद एक विज्ञान बन गया।" (एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन, पेज 49)

इतिहास के दौर विशेष में समाज में बदलाव सामाजिक व्यवहार के अलग-अलग आयामों में अभिव्यक्त होते हैं जिनके सार को व्यवहार विशेष के क्षेत्र के सिद्धान्त में अभिव्यक्त किया जाता है। आधुनिक भौतिकी में पदार्थ के सूक्ष्म स्तर की संरचना की गतिकी को क्वाण्टम मैकेनिक्स अभिव्यक्त करती है तो पूँजी की गतिकी को बेशी मूल्य का सिद्धान्त अभिव्यक्त करता है। समाज की गतिकी को उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के अन्तरविरोध को समाहित करने वाली ऐतिहासिक भौतिकवादी धारणा में अभिव्यक्त किया जाता है। इन सभी विज्ञानों का विश्व दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद होता है। इस प्रस्तुति में जो एकरूपता है दीपक बख्शी इसे भंग कर देते हैं जिससे कि आगे माओ और स्तालिन के मूल्यांकन में उनकी "शुद्ध" दार्शनिक कृतियों में हुई 'गलतियों' को आधार बनाकर उनके समस्त सैद्धान्तिक और राजनीति कर्म को गलत साबित कर सकें। वे लिखते हैं कि :

"इस लेख में हमने हाइडेगर और देरीदा के सिद्धान्तों जैसे मार्क्सवाद-विरोधी सिद्धान्तों के बारे में बात नहीं की है। लेकिन 'मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण की विवेचना' या 'मार्क्सवादी सिद्धान्त के आम विकास' के लिए कोई हाइडेगर, देरीदा, कार्ल कोर्श, जॉर्ज लुकाच या अल्थूसर कोई संकट उत्पन्न नहीं करते। इन बुद्धिजीवियों का दुनियाभर के कम्युनिस्टों के क्रान्तिकारी व्यवहार से कोई सीधा महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं था और न ही यह मार्क्सवादी सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी संकट या समस्या को पैदा करने की स्थिति में थे। केवल कम्युनिस्टों की आन्तरिक सीमाएँ, कमजोरियाँ और असफलताएँ ही सिद्धान्त में ऐसी 'समस्या' पैदा कर सकती हैं।"

वैसे तो जॉर्ज लूकाच और एक हद तक अल्थूसर के समूचे सैद्धान्तिक व राजनीतिक जीवन के बारे में ऐसी टिप्पणी तथ्यतः गलत है कि उनका "क्रान्तिकारी व्यवहार से कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं था" लेकिन अभी हम इसमें नहीं जायेंगे क्योंकि श्री बख्शी की हरेक अज्ञानतापूर्ण टिप्पणी का विवेचन करना किसी एक लेख में सम्भव नहीं है। आइये अब इन आन्तरिक समस्याओं पर मन्थन करें जो मार्क्सवाद के संकट के लिए ज़िम्मेदार हैं।

## 4.1 मार्क्सवाद में संकट

दीपक बख्शी मार्क्सवाद में संकट की पहली अभिव्यक्ति 1920 के दशक में मार्क्सवाद पर शुरू हुए हमले के रूप में बताते हैं जब मार्क्स और एंगेल्स के दर्शन के बीच अन्तर करने की कोशिश की गयी। दीपक बख्शी के अनुसार 1920 का संकट मुख्यतः एंगेल्स द्वारा प्रकृति में द्वन्द्ववाद व्याख्यायित करने के सवाल को लेकर था। सिडनी हुक, जॉर्डन, लिख्तेम से लेकर ज्याँ पॉल सार्त्र, मौरिस लेफ़ेब्र तक ने इस सवाल पर एंगेल्स की आलोचना रखी। जहाँ मार्क्स को क्रान्तिकारी व मानवीय समाज की क्रान्तियों के ज्ञान के अध्येता के रूप में बताया गया वहीं एंगेल्स को प्रत्यक्षवादी व अनुभववादी के रूप में पेश किया गया। दीपक बख्शी ने लेख के इस हिस्से को हेलेना शीहन की किताब 'मार्क्सवाद और प्राकृतिक विज्ञान के दर्शन' के शोध पर आधारित किया है। वह कहते हैं कि इस हमले का मार्क्सवादियों की तरफ़ से और खास तौर

पर माओ और स्तालिन तथा कम्युनिस्ट पार्टियों (सोवियत रूस व चीन) द्वारा जवाब नहीं दिया गया। यह तथ्यतः ग़लत है। हेलेना शीहन की किताब में ही प्रस्तुत एंगेल्स के पक्ष में लिखने वाले सिद्धान्तकारों (जिनमें कई नाम सोवियत रूस से हैं) के पक्ष को दीपक बख़्शी बिलकुल ग़ायब कर देते हैं। दीपक बख़्शी जोर देते हैं कि मार्क्सवाद पर इस हमले का जवाब नहीं दिये जाने का कारण दर्शन के सवाल को तरज़ीह नहीं दिया जाना है। वह कहते हैं कि :

"मार्क्सवादियों के धड़ों में आज कई लोगों के अनुसार मार्क्सवाद किसी 'नये' दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है या नहीं इस पर बात करना या बहस करना ज़रूरी व अर्थपूर्ण नहीं है। अगर 'सर्वहारा की तानाशाही' लागू करने में कोई भी भ्रम नहीं है तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्राकृतिक विज्ञान पर लागू होने के सवाल का समाधान निकालना या उस पर बहस करना किसी भी महत्व या तात्कालिकता से रहित हो जाता है।"

"कामरेड स्तालिन और कामरेड माओ ने लेनिन की मृत्यु के बाद बुर्जुआ दार्शनिकों के हमले के खिलाफ़ कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया।"

"मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद एक तरफ़ तो काउत्स्की, हिल्फ़र्डिंग और दूसरी तरफ़ लूकाच, कोर्श, ग्राम्शी और अल्थूसर ने अपनी आलोचना के पहले दौर में मार्क्स के सर्वहारा की तानाशाही के विचार का जोर देकर समर्थन किया और मार्क्स की अमर कृति पूँजी को सामाजिक ऐतिहासिक विकास को देखने के लिए चुनने में कोई दुविधा महसूस नहीं की। परन्तु इन विचार शाखाओं का अन्ततः क्या विकास हुआ यह सभी जानते हैं। इनसे अलग, अगर हम लेनिन-स्तालिन-माओ की क्रान्तिकारी शाखा को देखें तो हम पाते हैं कि उन्हें इन अन्तरराष्ट्रीय बहसों ने आन्तरिक और मुखर तौर पर प्रभावित किया। लेनिन ने दूसरे इण्टरनेशनल के लोगों के साथ गहन राजनीतिक और विचारधारात्मक युद्ध किया। परन्तु स्तालिन और माओ ने लूकाच या कोर्श के खिलाफ़ कोई मज़बूत सैद्धान्तिक रचना नहीं लिखी।" (बख़्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' से लेकर 'महान बहस' तक के दौर में मार्क्सवाद पर लगातार हमले होते रहे हैं और ये आज भी जारी हैं। इनके खिलाफ़ मार्क्स से लेकर माओ तक संघर्ष करते रहे, हालाँकि मार्क्स-एंगेल्स का दौर, उनके जीवन्त प्रश्न और कार्यभार अलग थे जबकि माओ के दौर के जीवन्त प्रश्न और कार्यभार अलग थे। बल्कि कहना चाहिए कि विजातीय प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के विरुद्ध संघर्ष की प्रक्रिया में ही मार्क्सवाद विकसित हुआ। उन्नीसवीं सदी में बर्नस्टीन से लेकर बीसवीं सदी में देड सियाओ-पिङ तक ने मार्क्सवादी सिद्धान्त पर कई बड़े हमले किये। खास तौर पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में साम्राज्यवाद के दौर में संशोधनवाद और अर्थवाद ने मार्क्सवाद को गम्भीर चुनौती दी। साम्राज्यवादियों के भाड़े के टड्डू कलमघसीट तो लगातार मार्क्सवाद को बदनाम करने का प्रयास करते ही रहे जिनका जवाब प्राथमिकता के क्रम में दिया गया। परन्तु दीपक बख़्शी ने 1920 के दशक की इस लेख में जो तस्वीर पेश की है वह बेहद ही सरलीकृत तस्वीर है और उस परिस्थिति के मर्म तक नहीं पहुँचती जिसका सामना

लेनिन, स्तालिन और माओ ने किया। स्तालिन पर समाजवादी व्यवस्था चलाने का कार्यभार था और एक ओर वह सोवियत समाजवाद पर और मार्क्सवाद पर हो रहे संशोधनवादी हमलों से तो दूसरी ओर फ्रासीवाद की व्यवहारिक चुनौती से जूझ रहे थे। स्तालिन के बाद माओ ने सोवियत समाजवाद का व स्तालिन की गलतियों का आलोचनात्मक विवेचन किया। चीनी क्रान्ति से पहले भी माओ ने सोवियत रूस के देबोरिन के अधिभूतवादी द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण के खिलाफ बहस चलायी। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अवदानों से समाजवादी संक्रमण की सैद्धान्तिकी में इजाफ़ा किया। परन्तु दीपक बख्शी बेहद भोंड़े तरीके से माओ, स्तालिन और दबे स्वर्णों में लेनिन की आलोचना करते हैं। साथ ही वे यह भी ग़लत बताते हैं कि मार्क्सवाद पर हमला करने वाले दार्शनिकों की अवस्थितियों का जवाब नहीं दिया गया। लूकाच की सोवियत रूस के देबोरिन और हंगरी के रुडास से लम्बी बहस चली जिसके जवाब में लूकाच को अपनी 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शियसनेस' में दी गयी कुछ अवस्थितियाँ बदलनी भी पड़ीं (ए डिफ़ेन्स ऑफ़ हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शियसनेस, टेलिस्म एण्ड डायलैक्टिक) व जिसे वे 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शियसनेस' के 1960 के बाद लिखे प्राक्कथन में दोहराते भी हैं। तीसरे इण्टरनेशनल के पाँचवे विश्व सम्मेलन में जिनोविएव ने कोर्श और लूकाच की पहली बार आलोचना रखी थी (इस सम्मेलन में लेनिन भी मौजूद थे)। बख्शी द्वारा लेनिन, माओ और स्तालिन के दौर का प्रस्तुतिकरण बख्शी के इतिहास ज्ञान की शून्यता को दिखाता है। दूसरी बात यह है कि यह मानना ही मूर्खतापूर्ण है कि माओ और स्तालिन के दौर में मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर हो रहे हर हमले का जवाब व्यक्तिगत तौर पर माओ और स्तालिन को देना था! कोर्श, अल्थूसर व लूकाच जो कुछ लिख रहे थे, दुनिया भर के तमाम कम्युनिस्ट सिद्धान्तकार और कम्युनिस्ट पार्टियाँ उसका जवाब दे रहे थे। माओ और स्तालिन के समक्ष और ज़्यादा ज़रूरी और जीवन्त प्रश्न और समस्याएँ मौजूद थीं जिनका जवाब उन्हें देना था। लेकिन चूँकि श्री बख्शी के लिए दर्शन की समस्याएँ सबसे महत्वपूर्ण हैं और भौतिक और ठोस समस्याओं से अलग कहीं हवा में अस्तित्वमान रहती हैं इसलिए माओ और स्तालिन द्वारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद की संशोधनवाद से हिफ़ाजत के लिए लिखी गयी उनकी रचनाओं में या समाजवाद की समस्याओं के विषय में लिखी गयी शानदार रचनाओं में कोई दिलचस्पी नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार ये रचनाएँ शुद्ध रूप से दार्शनिक प्रश्नों का जवाब नहीं दे रही थीं।

दीपक बख्शी लेनिन के प्रयासों से भी खुश नहीं हैं! दीपक बख्शी के अनुसार लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स के दर्शन और सिद्धान्त को आगे बढ़ने का प्रयास किया मगर वह 'खण्डित' प्रयास था। वे यह भी कहते हैं कि "जहाँ तक हमारे (मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन के - लेखक) ज्ञान और समझ की बात है तो हमारा यह मत है कि मार्क्स और एंगेल्स के बाद के मार्क्सवादी नेताओं की भौतिकवादी दर्शन की समझ किसी भी 'असंगति' या 'अधूरेपन' को समझ या इंगित कर पाने में इस सिद्धान्त के जनकों की तुलना में बेहद अबोध थी।" आगे वह लिखते हैं कि लेनिन के प्रयासों का मूल्यांकन करने की ज़रूरत है और "पूँजी से साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की आखिरी मंज़िल तक की यात्रा" की विवेचना करने की ज़रूरत है। पर वह यह नहीं बताते हैं कि क्या कारण है कि

यह विवेचना करने की ज़रूरत है। ओह नहीं! दरअसल वे बताते हैं कि उनके अनुसार लेनिन ने आधुनिक भौतिकी के संकट का संतोषजनक दार्शनिकीकरण नहीं किया! मत भूलिए कि हम श्री बख्शी के विचार जगत से संवाद में हैं जहाँ यान्त्रिक श्रृंखला का नियम कार्यरत है! इस नियम की रोशनी में ही श्री बख्शी माओ और स्तालिन की दार्शनिक अवस्थिति के नाम पर उनके समस्त राजनीतिक कर्म पर सवाल खड़ा करते हैं। उनके अनुसार दार्शनिक प्रश्नों पर ग़लत समझदारी रखने से (जिसका कारण आधुनिक भौतिकी का अध्ययन न करना है) मार्क्सवाद में संकट पैदा हो गया और 1920 के बाद के दौर में मार्क्सवादियों का व्यवहार ग़लत है। मसलन :

"संकट यहीं है। पिछले 100 सालों के क्रान्तिकारी व्यवहार के बावजूद द्वन्द्ववाद के नियमों की व्याख्या में एक गहन संकट है।" (वही, अनुवाद हमारा)

दीपक बख्शी के अनुसार माओ द्वारा निषेध का निषेध को न मानना "अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए सबसे अनपेक्षित और चौंका देने वाली घटना थी।" वे माओ और स्तालिन पर एक गम्भीर हमला करते हैं और कहते हैं :

"दोनों ने अलग क्रिस्म के 'भौतिकवाद' की पैरवी की, जो मार्क्स और एंगेल्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अलग था।" (वही, अनुवाद हमारा)

स्तालिन ने अपनी पुस्तक 'द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद' में द्वन्द्ववाद की जो व्याख्या पेश की है उसमें निश्चित ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से भटकाव दिखता है परन्तु इसे "अलग क्रिस्म का 'भौतिकवाद'" कहना अति होगी। स्तालिन के दार्शनिक-राजनीतिक-सैद्धान्तिक कर्म को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विरोधी मानना मूर्खतापूर्ण होगा बावजूद इसके कि स्तालिन के दर्शन में यान्त्रिकता का स्पष्ट प्रभाव था, जिसके बारे में स्वयं माओ ने भी लिखा था। माओ द्वारा 'निषेध का निषेध' को नकारने के पक्ष में माओ की एक अनौपचारिक बातचीत (जिसका जिक्र बख्शी करते हैं) के अलावा कोई लेख नहीं है, और इस अनौपचारिक बातचीत का स्रोत भी बहुत विश्वसनीय नहीं है। माओ ने अपनी कृतियों में कई जगह 'निषेध का निषेध' के नियम का जिक्र किया है। वहीं कुछ कृतियों में उन्होंने 'अफ़र्मेशन' व 'निगेशन' का इस्तेमाल किया है। हमें लगता है कि इस सवाल पर निर्णायक तौर पर बात करने के लिए गम्भीर शोध किये जाने की ज़रूरत है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक विश्व दृष्टिकोण है जो कि सतत् विकास से गुज़रता है। मार्क्स और एंगेल्स के बाद इसके विकास पर लेनिन ने गहन शोध-कार्य किया और यह कार्य उनके दौर के जीवन्त प्रश्नों और विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष के सन्दर्भ में हुआ। यह कार्य उनके द्वारा माखवादी दर्शन की आलोचना और उनकी दार्शनिक नोटबुक्स में देखा जा सकता है। लेनिन ने पहली बार 'विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष' यानी अन्तरविरोध के नियम को द्वन्द्ववाद का सबसे महत्वपूर्ण नियम बताया और साथ ही निषेध का निषेध के नियम को भी स्वीकार किया। माओ ने अन्तरविरोध के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त को नयी ऊँचाइयों पर पहुँचाया। इस प्रक्रिया में हर परिवर्तन सहज, सरल और सकारात्मक नहीं हो सकता था और न ही ऐसा हुआ। इस प्रक्रिया में स्तालिन, माओ या किसी से भी ग़लती हो सकती है। लेकिन यह कहना कि लेनिन, स्तालिन

और माओ ने इस विषय में कोई चिन्तन नहीं किया या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के विकास के कार्यभार को संजीदगी से नहीं लिया, श्री बख्शी द्वारा अपने भयंकर अज्ञान का प्रदर्शन है।

दीपक बख्शी इतिहास-अज्ञानता से इस क्रूर प्रसित हैं कि उनसे यह माँग करना बेमानी होगा कि वह ऐसा कोई ज्ञान प्रदर्शित करें। इतिहास की उपेक्षा करते हुए और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की उपेक्षा करते हुए अगर मान भी लें कि माओ और स्तालिन ने अपनी दार्शनिक कृतियों में ग़लत समझदारी के कारण 'निषेध का निषेध' मानने से इनकार कर दिया तो "यह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए सबसे अनपेक्षित और चौंका देने वाली घटना" कैसे बन गयी!? महान नेताओं व शिक्षकों और बोलशेविक पार्टी, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी सरीखी महान पार्टियों की कई दार्शनिक व राजनीतिक अवस्थितियाँ ग़लत हो सकती हैं। इससे मार्क्सवाद में में संकट कैसे आ जायेगा? इस बात में यह मान्यता निहित है कि मार्क्सवादी नेताओं और महान पार्टियों के चिन्तन में कोई ग़लती नहीं होगी और यदि ऐसा होगा तो मार्क्सवादी दर्शन में ही संकट पैदा हो जायेगा। अगर दुनिया भर में कम्युनिस्ट आन्दोलन में लोग इस बात से घबरा जाते हैं कि उनके नेता व पार्टी ग़लत बोल सकते हैं या बोल रहे हैं और इससे मार्क्सवादी दर्शन में ही संकट पैदा हो जायेगा तब तो हमें कम्युनिज़्म को एक धर्म घोषित कर देना चाहिए और माओ व स्तालिन को इस कम्युनिस्ट धर्म के मसीहा! माओ और स्तालिन के दार्शनिक सवालों पर ग़लत होने से क्या उनके अन्य मार्क्सवादी सिद्धान्त या समूचा मार्क्सवादी दर्शन ही ग़लत या संकटग्रस्त साबित हो जाते हैं? निश्चित ही कोई कम्युनिस्ट नेता किसी पहलू पर ग़लत हो सकता है परन्तु इससे मार्क्सवादी दर्शन की सेहत पर असर नहीं पड़ता है।

वे आगे पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी और नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा द्वन्द्व की व्याख्या में 'निषेध का निषेध' की व्याख्या न कर पाने या ग़लत व्याख्या करने का भी दोष माओ और स्तालिन पर मढ़ देते हैं। दीपक बख्शी की सारी बातों का सार यह है : मार्क्स और एंगेल्स के बाद का मार्क्सवाद एक रुकावट का शिकार है। यह अनैतिहासिक दृष्टिकोण न सिर्फ़ ग़लत है बल्कि भयंकर रूप से अज्ञानतापूर्ण है।

## 4.2 बुर्जुआ दर्शन का हमला - श्री बख्शी की नौदौलतिया फ़लसफ़ाबाज़ी

बीसवीं सदी के मध्य से लेकर उत्तरार्द्ध तक प्रथम समाजवादी प्रयोगों के पतन के दौर में ही साम्राज्यवाद ने कई नयी विचार सरणियों को जन्म दिया, जिनमें उत्तरआधुनिकतावाद और उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों ने कोई नयी बात नहीं कही। इसने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पैदा हुई कई मानवतावाद-विरोधी, तार्किकता-विरोधी विचारधाराओं से उधार लिया और नयी मानवद्रोही विचार सरणियों की रचना की। इनमें नीत्शे का मानवतावाद-विरोध और प्रबोधन व तार्किकता का विरोध, स्पेंगलर का प्रगतिवाद-विरोध, रूसी सर्वखण्डनवाद, नवकाण्टवादी अज्ञेयवाद, आदि का एक मिश्रण तैयार किया गया। 1960 के दशक से ही इन विचार सरणियों ने समाजवाद के प्रयोगों और मार्क्सवाद पर हमले करने शुरू किये। हर तरफ़

इतिहास के अन्त, कविता के अन्त, भौतिकी के अन्त आदि की बातें की जाने लगीं। खुद क्रान्तिकारी दायरों में भी कुछ लोगों ने इस प्रभाव में बहकर 'अन्त' के सिद्धान्तकारों के सिद्धान्तों को मार्क्सवाद में मिलाने की कोशिश की व मार्क्सवादी दृष्टिकोण की मूल प्रस्थापनाओं पर ही सवाल खड़े करने शुरू कर दिये। खास तौर पर बीसवीं शताब्दी की क्रान्तियाँ निशाना बनीं जिन्हें मार्क्सवाद से विचलन के तौर पर पेश किया गया और इस 'विचलन' के दौर में विकसित हुए मार्क्सवाद में संशोधन की माँग की जाने लगी।

आज भी जिज्ञेक से लेकर एलन बेदियू जैसे उत्तरमार्क्सवादी सिद्धान्तकार मार्क्स, लेनिन और माओ पर सवाल खड़े करते हुए ये दावा कर रहे हैं कि मानव मुक्ति की परियोजना के लिए मार्क्सवाद की प्रासंगिकता एक दौर में थी, मगर वह अब खत्म हो चुकी है, या फिर यह कि बीसवीं सदी का समाजवाद एक 'विपदा' था और अब 'कम्युनिस्ट विचार' के लिए यह अपरिहार्य हो गया है कि वह जितनी जल्दी हो सके बीसवीं सदी की इन 'विपदाओं' के 'हैंग-ओवर' से मुक्त हो जाये। उत्तर-मार्क्सवादी वास्तव में वही काम कर रहे हैं जो कि एक दौर में उत्तरआधुनिकतावादी कर रहे थे: मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी कोर पर हमला। जब उत्तरआधुनिकतावादियों के ये हमले क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों के जवाबों और साथ ही पूँजीवादी संकट के गहराने के साथ बेकार हो गये, तो यही काम अब 'रैडिकल' जमातों के भीतर घुसकर उत्तर-मार्क्सवाद कर रहा है। इस उत्तर-मार्क्सवादी *ऑफेंसिव* में भी कुछ नया नहीं है, बस पुराने अज्ञेयवाद, लकानियन मनोविश्लेषण के एक विशेष संस्करण, नीत्शवाद, आदि का एक नये क्रिस्म का मिश्रण है जो कि 'रैडिकल पैकेजिंग' में पेश किया जा रहा है क्योंकि उत्तरआधुनिकतावाद गम्भीर अकादमिकों के बीच में भी एक चुटकुला बन चुका है। परन्तु दीपक बख्शी के लिए यह चुटकुला नहीं है बल्कि मार्क्सवाद में संकट की अभिव्यक्ति है। वे हाइज़ेनबर्ग के हमले के साथ अन्य प्रचलित प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों का भयानक विवरण पेश करते हैं :

"हाइज़ेनबर्ग का सिद्धान्त कोई पृथक्कृत सिद्धान्त नहीं है, बल्कि यह इक्कीसवीं सदी के पहले दशक तक समकालीन भाषाशास्त्र और दर्शन में प्रचलित प्रभावी प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों का हिस्सा है। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से ही बुर्जुआ विचारधारा का ज्ञान के हर क्षेत्र में दबदबा था और हाइज़ेनबर्ग के इस दर्शन को भी इसी से जोड़ कर देखा जाना चाहिए, जो विज्ञान की दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली आदर्शवादी विचार है। अगर हाइडेगर शिलिंग की मशाल देरिदा को थमाते हैं तो हाइज़ेनबर्ग भी विज्ञान की दुनिया में उसी स्कूल से शिक्षा लेते हैं। हाइडेगर और हाइज़ेनबर्ग के राजनीतिक जीवन में के बीच गहरी समरूपता है, दोनों ही हिटलर के सक्रिय समर्थक थे।

"कमज़ोरी आखिरी सदी के तीसरे दशक से महसूस की जा सकती है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की दोनों बड़ी पार्टियों में से किसी ने भी मार्क्सवासी सिद्धान्त पर हाइडेगर, हाइज़ेनबर्ग, लूकाच, अल्थूसर आदि द्वारा किये जा रहे प्रचण्ड आक्रमणों का न ही कोई जवाब देने का प्रयास किया और न ही कोई प्रतिक्रिया व्यक्त की।

"कामरेड स्तालिन और कामरेड माओ ने लेनिन की मृत्यु के बाद बुर्जुआ दार्शनिकों के हमले को खिलाफ कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया।" (वही, अनुवाद हमारा)

दीपक बख्शी हाइजेनबर्ग, हाइडेगर और देरिदा की विचारधाराओं के प्रचण्ड दबदबे से भयाक्रान्त हैं। उनके अनुसार इनका कोई जवाब नहीं दिया गया। यह दावा उनकी भयंकर अज्ञानता को ही प्रदर्शित करता है। वे इन विचारधाराओं को पढ़कर भयाक्रान्त हो गये हैं और इस कारण मार्क्सवाद में संकट की घोषणा करते हैं। दीपक बख्शी के उपरोक्त कथनों में ज़रा भी सच्चाई नहीं है। हाइजेनबर्ग के उदाहरण में हम उनकी अज्ञानता की विस्तार से विवेचना कर चुके हैं। जिस प्रकार उत्तरआधुनिकतावादी आलोचनाओं के दौर में मार्क्सवाद में 'संकट' का शोर मचा था, उसी प्रकार आज भी दीपक बख्शी सरीखे 'आउट-डेटेड' राजनीतिक नौदौलतिए मार्क्सवाद में 'संकट' का शोर मचा रहे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन आज संकट का शिकार है। मगर क्या मार्क्सवादी विचारधारा संकट का शिकार है? इन नये हमलों में क्या नया है जिनका जवाब मार्क्सवादी विचारधारा ने पेश नहीं किया है? परन्तु दीपक बख्शी से इन जवाबों की उम्मीद रखना ही बेमानी है क्योंकि उनके विचार जगत में यह जानकारी मौजूद नहीं है। और दीपक बख्शी के लिए 'इग्नोरेंस इज़ द ऑरग्युमेण्ट' यानी अज्ञानता ही तर्क है।

### 4.3 दीपक बख्शी की अप्रत्यक्ष राजनीतिक अवस्थिति

बख्शी के अनुसार, मुख्य प्रश्न 'चेतना का प्रश्न' है जो कि दार्शनिक सवाल है और मार्क्सवादी दर्शन का सीधा सम्पर्क प्राकृतिक विज्ञान से है। इन्हीं प्रश्नों पर अपनी ग़लत समझदारी के कारण लेनिन, स्तालिन और माओ ने मार्क्सवाद के ग़लत सिद्धान्तों को जन्म दिया जिसके कारण मार्क्सवाद संकट में है और पूरा कम्युनिस्ट आन्दोलन संकट में है। इस बात को ही पुष्ट करते हुए दीपक बख्शी माओ और स्तालिन के दार्शनिक लेखों को द्वन्द्ववाद के नियमों से दूर पाते हैं जो कि मार्क्स और एंगेल्स ने दिये थे। परन्तु इस बौद्धिक सर्कस के ज़रिये जाने या अनजाने दीपक बख्शी का यान्त्रिक श्रृंखला नियम वास्तव में अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी अवस्थिति की अप्रत्यक्ष तौर पर सेवा करता है। हालाँकि वे खुलकर कहीं यह व्यक्त नहीं करते हैं परन्तु कुछ जगह वे इशारों में बात करते हैं। बकौल दीपक बख्शी - "विश्व इतिहास की अद्वितीय घटनाएँ; रूसी और चीनी क्रान्तिकारी सत्ता अधिग्रहण और 'समाजवाद' को क्रायम करने लिए हुए संघर्षों के अनुभव का पूँजी और ड्यूहरिंग मत खण्डन के प्रकाश में उच्चतम वस्तुपरकता एवं उद्यम से पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए।"

'वैचारिक संघर्ष के विस्तृत कार्यक्रम के कार्यभार' के चौथे बिन्दु में बख्शी लिखते हैं-

"समाजवादी संक्रमणकाल की अवधि में 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' और 'सर्वहारा जनवाद' के बीच के द्वन्द्वात्मक रिश्ते का" तथा "कम्युनिस्ट पार्टी में 'जनवादी केन्द्रीयता' के व्यवहार में 'केन्द्रीयता' और 'सर्वहारा जनवाद' के एक दूसरे में अन्तर्भेदन और रूपान्तरण की उचित प्रकृति और चरित्र का, राज्यसत्ता पर कब्जे से पहले और बाद में कम्युनिस्ट पार्टी और सर्वहारा के बीच

के अन्तरसम्बन्ध का... गहन रूप से विश्लेषण और पुनःनिरीक्षण करना आवश्यक है।" (वही, अनुवाद हमारा)

अपने सम्पूर्ण लेख में मार्क्सवाद में संकट की रोशनी में प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन अलावा वे जिन सिद्धान्तों का "गहन रूप से विश्लेषण और पुनःनिरीक्षण करने" की बात करते हैं वे जनवादी केन्द्रीयता व 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' हैं। समाजवादी प्रयोगों को "समाजवाद के प्रयास" बनाने की यह अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की राजनीतिक छलाँग बख्शी प्राकृतिक विज्ञान-दर्शन-सिद्धान्त की यान्त्रिक शृंखला के स्प्रिंग से सम्भव करते हैं। 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' पत्रिका के अन्य लेख ज़्यादा खुले तौर पर अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी समझदारी व्यक्त करते हैं। वहीं बख्शी की 'प्राकृतिक विज्ञान - मार्क्सवादी दर्शन - मार्क्सवादी सिद्धान्त' यान्त्रिक शृंखला अप्रत्यक्ष रूप से इस राजनीति की सेवा करती है। उपरोक्त उद्धरण में हम देख सकते हैं कि श्री बख्शी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियादी शिक्षाओं के बारे में भी किस कदर भ्रमित हैं। मिसाल के तौर पर, 'जनवादी केन्द्रीयता' की अवधारणा को एक योगात्मक अवधारणा बना दिया गया है, जिसके अनुसार इसमें केन्द्रीयता और सर्वहारा जनवाद के "एक-दूसरे में अन्तर्भेदन" की बात की गयी है। जनवादी केन्द्रीयता के विषय में इससे ज़्यादा हास्यास्पद क्या हो सकता है? उसी प्रकार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की भी ऐसी ही योगात्मक और अधिभूतवादी अवधारणा पेश की गयी है। लेकिन अभी हम इन भ्रमों के खण्डन में नहीं जा सकते हैं।

दीपक बख्शी के इस लेख के विषय में बहुत-कुछ लिखना पड़ेगा अगर हम इसकी एक-एक अज्ञानता और मूर्खता का खण्डन करें। हमने केवल उनकी अज्ञानताओं में अन्तर्निहित बुनियादी तर्क (मेथड इन मैडनेस) का खण्डन किया है। श्री बख्शी इतिहास से अनभिज्ञ हैं, यान्त्रिकतावादी हैं और नौदौलतिया फ़्लसफ़ेबाज़ी के शिकार हैं। इस यान्त्रिकता के चलते ही वे मार्क्सवादी दर्शन की प्राकृतिक विज्ञान पर निर्भरता का सम्बन्ध खोज निकलते हैं जिसके आधार पर वह मार्क्सवादियों द्वारा दार्शनिक व्याख्या में गलती ढूँढ़कर पूरे विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए संकट घोषित कर देते हैं। इस प्रकार का बड़बोलापन केवल उनकी आधी-अधूरी पढ़ाई और भयंकर अज्ञानता को ही प्रदर्शित करता है।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्र विभाग में शोधार्थी हैं)

### सन्दर्भ सूची:

1. डायलैक्टिक्स ऑफ़ नेचर - फ्रेडरिक एंगेल्स
2. ड्यूहरिंग मत खण्डन - फ्रेडरिक एंगेल्स
4. मार्क्स-एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स - खण्ड 1
5. मार्क्स-एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स - खण्ड 2
6. मार्क्स-एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स - खण्ड 3
7. लुडविग फ़ायरबाख और क्लासिकल जर्मन दर्शन का अन्त - फ्रेडरिक एंगेल्स

8. फ़िलोसोफ़िकल नोटबुक्स - व्लादीमिर लेनिन
9. कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा - व्लादीमिर लेनिन
10. मैटिरियलिज़्म एण्ड इम्पीरियो क्रिटिसिज़्म - व्लादीमिर लेनिन
11. द जर्मन आइडियोलॉजी - मार्क्स-एंगेल्स
12. अन्तरविरोध के बारे में - माओ त्से तुङ
13. क्यों माओवाद - शशि प्रकाश
14. सोवियत समाजवाद के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ, दिशा सन्धान (1, 2, 3, व 4) - अभिनव सिन्हा
15. मैटिरियलिज़्म और काण्टियनिज़्म - जी. प्लेखानोव
16. पूँजी, खण्ड-1 - कार्ल मार्क्स
17. मार्क्सिस्ट फ़िलोसोफी एण्ड द प्रोब्लम ऑफ़ डेवलपमेंट ऑफ़ मार्क्सिस्ट थियरी, मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन, दीपक बख्शी
18. हिस्ट्री एण्ड क्लास कान्शियसनेस - जी. लूकाच
19. ए डिफ़ेन्स ऑफ़ हिस्ट्री एण्ड क्लास कान्शियसनेस-टैलिस्म एण्ड डायलैक्टिक - जी. लूकाच
20. मार्क्सिज़्म एण्ड द फ़िलोसोफी ऑफ़ साइन्स: ए क्रिटिकल हिस्ट्री - हेलेना शीहेन
21. संकलित रचनाएँ - माओ त्से तुङ
22. होली फैमिली, ए क्रिटिक ऑफ़ क्रिटिकल क्रिटिसिज़्म - मार्क्स-एंगेल्स
23. द एसेन्शियल स्तालिन: मेजर थियरेटिकल राइटिंग्स, 1905-52 - सं. ब्रूस फ्रैंकलिन
24. क्राइसिस इन फ़िज़िक्स - क्रिस्टोफ़र कॉडवेल
25. फ़िज़िक्स एण्ड फ़िलोसोफी - वर्नर हाइज़ेनबर्ग
26. क्राइसिस इन फ़िज़िक्स, (साइंस एण्ड सोसाइटी) - हान्स फ्रेस्टाट
27. सोवियत मार्क्सिज़्म एण्ड नैचुरल साइंस - डेविड ज़ोराव्स्की
28. मार्क्स एण्ड मैथेमैटिक्स - डर्क जे. स्टूइक
29. द थियरी ऑफ़ स्पेस, टाइम एण्ड ग्रेविटेशन - व्लादीमिर फ़ॉक
30. द प्रेज़ेण्ट स्टेट ऑफ़ द प्रॉब्लम ऑफ़ 'मार्क्सिज़्म एण्ड फ़िलोसोफी' - एन एण्टी क्रिटिक - कार्ल कोर्श
31. ड्रीम्स ऑफ़ ए फ़ाइनल थियरी - स्टीवन वेनबर्ग
32. 100 इयर्स ऑफ़ क्वाण्टम मिस्ट्रीज़ - मैक्स टेगमार्क व जॉन आर्किबाल्ड वीलर
33. लॉजिक एण्ड फ़ॉरमेशन ऑफ़ क्वाण्टम मैकेनिक्स - ताकेतानी
34. बियोण्ड द होक्स: साइंस, फ़िलोसोफी एण्ड कल्चर - एलन सोकल
35. पोस्ट मॉडर्निज़्म डिसेरोब्ड - रिचर्ड डाकिन्स
36. मार्क्सिज़्म एण्ड फ़िलोसोफी - कार्ल कोर्श

37. ऑन मैटिरियलिज़्म - सबैस्चिचैनो टिम्पानारो
38. क्वाण्टम मैकेनिक्स - ब्लोखिन्स्तेव
39. द फ़िलोसोफ़ी ऑफ़ क्वाण्टम मैकेनिक्स - मैक्स जैमर
40. डायलैक्टिक्स इन मॉडर्न फ़िज़िक्स - ओमेल्यानोव्स्की
41. रेडिकलाइज़ेशन ऑफ़ साइंस - हिलेरी एण्ड स्टीवन रोज़
42. साइंस एण्ड फ़िलोसोफ़ी इन सोवियत यूनियन - एल.आर. ग्राहम
43. द सोशल फ़ंक्शन ऑफ़ साइंस - जे. डी. बरनाल
44. साइंस इन हिस्ट्री (चार खण्डों में) - जे. डी. बरनाल
45. द टूबल विद फ़िज़िक्स - ली स्मोलिनी
46. द हिस्टोरिकल डेवेलपमेन्ट ऑफ़ क्वाण्टम मैकेनिक्स (सभी खण्ड) - जगदीश मेहरा
47. द स्ट्रक्चर ऑफ़ साइंटिफ़िक रिवोल्युशन्स - थॉमस कुन
48. मार्क्सिज़ इकोलॉजी - जॉन बेलैमी फ़ॉस्टर
49. क्लासिकल एण्ड नॉन-क्लासिकल कॉन्सेप्ट्स इन क्वाण्टम थियरी, एन आन्सर टू हाइज़ेन्बर्ग्स फ़िज़िक्स एण्ड फ़िलोसोफ़ी, द ब्रिटिश सोसाइटी फ़ॉर द फ़िलोसोफ़ी ऑफ़ साइंस - डेविड बोहम
50. फ़िफ़्थ कांग्रेस ऑफ़ द कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल - पब्लिशड बाय कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन
51. क्वाण्टम मैकेनिक्स एज ए बेसिस ऑफ़ फ़िलोसोफ़ी - जे.बी.एस. हाल्डेन
52. इज़ थियरेटिकल फ़िज़िक्स इन क्राइसिस, सर्न डाक्युमेण्ट सर्वर - हैरिएट जारलैट
53. मार्क्स, माओ एण्ड मैथेमैटिक्स, द पॉलिटिक्स ऑफ़ इन्फ़ाइनाटस्मल्स, डाक्युमेन्टा मैथेमैटिका, एक्स्ट्रा वाल्युम आईसीएम - जोसेफ़ डॉबेन
54. सप्लिमेन्ट ऑफ़ प्रोग्रेस ऑफ़ थियरेटिकल फ़िज़िक्स, वाल्युम 50, 1971

उत्तर-मार्क्सवाद के 'कम्युनिज़्म' :  
उग्रपरिवर्तन के नाम पर  
परिवर्तन की हर परियोजना  
को तिलांजलि देने की  
सैद्धान्तिकी

- शिवानी, बेबी

विचार  
जब सिर्फ़ विचार होते हैं  
अस्पष्ट होते हैं  
प्रशंसनीय होते हैं।  
विचार जब  
व्यापकता पाते हैं  
योजनाओं में ढलते हैं  
योजनाएँ जब  
गतिशील होती हैं  
आपत्तियाँ सिर उठाती हैं।  
- बेटॉल्ट ब्रेष्ट

दार्शनिकों ने  
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है  
पर सवाल उसको बदलने का है,

मानता हूँ  
लेकिन फ़िलहाल मैं असन्तुष्ट हूँ  
दुनिया की व्याख्याओं से  
और मानता हूँ कि  
नये बदलावों की हो रही व्याख्याएँ  
या तो नाकाफ़ी या फिर ग़लत हैं  
और यह कि  
रुका हुआ है आज  
दुनिया को बदलने का काम भी  
इसलिए अभी तो मैं  
दुनिया की एक और व्याख्या कर रहा हूँ।

- **कात्यायनी** (दुनिया को बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-1)

"उत्तर-मार्क्सवाद के 'कम्युनिज़्म'" - इस विषय पर एक आलेख की ज़रूरत क्यों? क्या मार्क्सवाद का दौर बीत चुका है और कोई उत्तर-मार्क्सवादी दौर शुरू हो गया है? इस आलेख के आरम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारे विचार में एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के सामने कोई संकट नहीं है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि मार्क्सवाद पर विचारधारात्मक हमलों का सिलसिला आज तक बदस्तूर जारी है। फ़र्क़ बस इतना है कि 1989 में बर्लिन की दीवार के गिरने और 1990 में सोवियत संघ के औपचारिक विघटन के साथ विचारधारा और राजनीति की दुनिया में पूँजीवादी विजयवाद की उन्मत्त घोषणाओं की तरह ये नये बौद्धिक आक्रमण उतने खुले और आवरणहीन नहीं हैं। आज के दौर में, एक बार फिर, बुर्जुआ सांस्कृतिक और बौद्धिक उपकरण मार्क्सवाद पर नये हमले कर रहे हैं और कम्युनिस्ट आन्दोलन से लेकर छात्रों, बुद्धिजीवियों आदि के बीच विभ्रम पैदा करने का प्रयास कर रहे हैं। यह भी अनायास नहीं है कि पूँजीवाद, अपने वर्चस्वकारी मैकेनिज़्म के ज़रिये सहज गति से तमाम क्रिस्म के रंग-बिरंगे 'रैडिकल' बुद्धिजीवियों को पैदा कर रहा है, जो मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं पर चोट कर रहे हैं। उत्तर-मार्क्सवादियों की एक पूरी धारा है जो उग्र-परिवर्तनवादी जुमलों का सहारा लेकर मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर निशाना साध रही है। ऐलन बेदियू, स्लावोय जिज़ेक, एण्टोनियो नेग्री, माइकल हार्ट, ज़ाक रैसिये, अर्नेस्टो लाक्लाऊ, चैण्टेल माउफ़ आदि जैसे तमाम 'रैडिकल दार्शनिक' इसी उत्तर-मार्क्सवादी विचार-सरणि से आते हैं। एक बात जिसे यहाँ पर विशेष तौर पर रेखांकित करने की ज़रूरत है वह यह कि मार्क्सवाद पर जो भी विचारधारात्मक-बौद्धिक हमले होते रहे हैं या फिर हो रहे हैं, उनके नाम नये हो सकते हैं लेकिन उनकी अन्तर्वस्तु में कुछ भी नया नहीं है, जैसा कि एक बार एक अलग सन्दर्भ में ज्याँ पॉल सार्त्र ने कहा था। सार्त्र ने कहा था कि मार्क्सवाद-विरोधी विचारधाराएँ जो कुछ सही कह रही हैं, वह मार्क्सवाद पहले ही कह चुका है और जो कुछ वे नया कह रही हैं वह ग़लत है! उत्तर आधुनिकतावाद, उत्तर-संरचनावाद, प्राच्यवाद, उत्तर-प्राच्यवाद, सबऑल्टर्निज़्म जैसी तमाम 'उत्तर-' विचार-सरणियों की "चुनौतियों"

का क्या हश्र हुआ, यह हम सभी जानते हैं। ये सभी विचार-सरणियाँ विचारधारात्मक कोमा में पड़ी आखिरी साँसें गिन रही हैं! उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त इन्हीं क्रिस्म-क्रिस्म की 'उत्तर-' विचार सरणियों का एक 'अपग्रेडेड वर्जन' है।

हालाँकि मार्क्सवाद पहले ही ऐसे तमाम विचारधारात्मक और सैद्धान्तिक हमलों का जवाब दे चुका है; लेकिन आज जो नये विचारधारात्मक हमले हैं, वे कम से कम ऊपर से पूँजीवाद की अन्तिम विजय की बात नहीं कर रहे हैं। उल्टा वे पूँजीवाद से आगे जाने और कई बार 'कम्युनिज्म' की बात कर रहे हैं। लेकिन जैसे ही आप उनके 'कम्युनिज्म' के विस्तार में जाते हैं तो आप पाते हैं कि उसमें नाम के अतिरिक्त कुछ भी कम्युनिस्ट नहीं है! वे मार्क्सवाद से ज्यादा 'रैडिकल' किसी विचारधारा की माँग रख रहे हैं, मार्क्सवाद से आगे जाने का दावा कर रहे हैं, और मार्क्स की शिक्षाओं की प्रासंगिकता समाप्त होने का दावा कर रहे हैं; उनका दावा है कि हम मार्क्सवादी कम्युनिज्म से आगे आ चुके हैं और अब उत्तर-मार्क्सवादी कम्युनिज्म का दौर है! आगे हम इनके उत्तरमार्क्सवादी 'कम्युनिज्मों' की अन्तर्वस्तु की विस्तार से पड़ताल करेंगे। लेकिन एक बात तय है कि एक बार फिर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक अहम कार्यभार यह भी बन जाता है कि ऐसे विचारधारात्मक हमलों के बरक्स न सिर्फ़ मार्क्सवाद की दृढ़ता से हिफ़ाजत की जाये बल्कि इन हमलों का मुँहतोड़ जवाब भी दिया जाये और दिखलाया जाये कि इन 'नये' हमलों में कुछ भी नया नहीं है और दरअसल पुराने बुर्जुआ सिद्धान्तों की 'शराब' को ही नयी फ़ैशनबुल फ़्रांसीसी दर्शन की 'बोतल' में परोस दिया गया है। विशेषकर उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तन पर कठोरता से चोट किये जाने की आवश्यकता है क्योंकि इस चिन्तन सरणि के अधिकांश 'रैडिकल 'दार्शनिक' एक नये क्रिस्म के 'कम्युनिज्म' की बात कर रहे हैं। क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं और बुद्धिजीवियों का भी एक अच्छा-खासा हिस्सा इन उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तकों के "चिन्तनों" के प्रभाव में आकर इनके मार्क्सवाद-विरोधी विजातीय विचारों को ही मार्क्सवाद और कम्युनिज्म का सिद्धान्त मानने की भूल कर रहे हैं। अब आप कल्पना कीजिए, स्लावोय जिजेक और ऐलन बेदियू जैसे उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकार लेनिन और माओ की संकलित रचनाओं का सम्पादन करते हुए जो प्रस्तावनाएँ और परिशिष्ट लिख रहे हैं, उनमें वे कौन से विचार व्यक्त कर रहे हैं? ये दोनों ही और इनके अलावा अन्य उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक भी, लेनिन, माओ और साथ ही मार्क्स का भी, अपने उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन के अनुरूप हस्तगतीकरण (appropriation) करते हैं और वस्तुतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर चोट करते हैं। इस तरह ये सभी 'रैडिकल विचारक' क्रान्ति के भर्ती केन्द्रों और भावी पाँतों में विभ्रम और विचारधारात्मक प्रदूषण फैलाने का काम कर रहे हैं। इसलिए इन्हें माकूल जवाब देना आज का एक ज़रूरी कार्यभार है। साथ ही इस उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन के ग़ैर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकीकरणों का प्रभाव भारत समेत दुनिया भर के वामपन्थी दायरे के कुछ हिस्सों पर भी है, परिणामस्वरूप जिसका 'रिपल इफ़ेक्ट' अन्य स्थानों (कॉलेज, विश्वविद्यालय, बौद्धिक-सांस्कृतिक प्रतिष्ठान) पर देखा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में भी देखें तो उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त की एक प्रबल मार्क्सवादी आलोचना आज के दौर का एक महत्वपूर्ण विचारधारात्मक कार्यभार बन जाता है। यह आलेख इसी दिशा में एक

प्रयत्न है।

उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी की विस्तृत और वृहत् समालोचना में जाने से पहले हम यहाँ कुछेक बातें साझा कर लेना चाहते हैं। हम अपने आलेख में विभिन्न उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों के राजनीतिक दर्शन से जुड़े सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल करेंगे। विशेष तौर पर यह आलेख इस पर केन्द्रित होगा कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों (खास तौर पर रूस और चीन में हुए प्रयोगों), समाजवादी संक्रमण और कम्युनिज़्म के विषय में उत्तर-मार्क्सवादी अवस्थिति क्या है; साथ ही, भविष्य की राजनीति/मुक्तिकामी राजनीति (Emancipatory politics) पर तमाम उत्तर-मार्क्सवादी दार्शनिकों के क्या विचार हैं, हम इसकी भी पड़ताल करेंगे। इसके अलावा उत्तर-मार्क्सवाद के प्रमुख दार्शनिक राजनीतिक स्रोतों और प्रभावों की भी चर्चा हम करेंगे। एक बात जिसे हम यहाँ पर ज़ोर देकर रेखांकित करना चाहते हैं वह यह कि उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तन की एक सम्पूर्ण दार्शनिक समालोचना इस आलेख की विषय-वस्तु नहीं है। राजनीतिक-विचारधारात्मक मुद्दों पर इस चिन्तन-सरणि की आलोचना के लिए जहाँ हमें उसके दार्शनिक मूलों पर जाना पड़ा, केवल वहीं हम उसके दर्शन का ज़िक्र करेंगे। वैसे राजनीतिक-विचारधारात्मक समालोचना अपने आप में उत्तर-मार्क्सवाद के दर्शन के बारे में भी काफ़ी कुछ बताती है।

## उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी का इतिहास-भूगोल एवं मुख्य दार्शनिक-राजनीतिक स्रोत

जिसे आमतौर पर उत्तर-मार्क्सवाद की संज्ञा दी जाती है, वह अपने आप में कोई एकाशमी (monolithic) या सजातीय (homogeneous) चिन्तन-प्रणाली नहीं है। कई मुद्दों पर इस विचार-सरणि के तहत आने वाले सिद्धान्तकार एक-दूसरे की बातों को काटते हुए भी नज़र आते हैं। हालाँकि तमाम भिन्नताओं और वैषम्य के बावजूद मार्क्सवाद की मूल क्रान्तिकारी प्रस्थापनाओं के खण्डन और बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के नकारात्मक आकलन के विषय में यह सभी सिद्धान्तकार एक मत हैं। इनमें से अधिकांश जिस नये कम्युनिज़्म की बात करते हैं, वह मार्क्सवादी नहीं होगा! बीसवीं सदी के मार्क्सवादी कम्युनिज़्म का अन्त एक विपदा/दुर्गति में हुआ, इसलिए एक नये क्रिस्म के कम्युनिज़्म की ज़रूरत है! आज के दौर में पार्टी और राज्य जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं (श्रीमान बेदियू! पूँजीपति वर्ग के बजाय ये दमनकारी 'शासक' (rulers) और सर्वहारा वर्ग की जगह 'बहुसंख्या' (multitude) शब्द का इस्तेमाल बहुत पसन्द और चाव के साथ करते हैं; पूँजी, उत्पादन, सम्पत्ति आदि जैसी श्रेणियों की जगह ये साझा (commons) की बात करना पसन्द करते हैं (श्रीमान नेग्री व श्रीमान हार्ट तथा श्रीमान जिजेक भी)! कुछ ऐसे हैं जो मार्क्सवादी कम्युनिज़्म के आगे जाने का भी दावा नहीं करते, और उसे मानने का भी दावा नहीं करते, न ही वे राज्य और पार्टी की ज़रूरत के बारे में कुछ साफ़ कहते हैं; सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में भी हर वर्ष वे नियम से अवस्थिति बदलते हैं; लेकिन इतना वे ज़रूर कहते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग एक 'आपदा' के रूप में खत्म हुए और

इसलिए आज के कम्युनिज़्म का 'विचार' उससे सर्वथा भिन्न होगा और नारा देते हैं कि 'बीसवीं सदी बीत गयी!' (श्रीमान ज़िज़ेक)! कुछ इन सब बातों में यह जोड़ देते हैं कि सर्वहारा वर्ग/दमित वर्ग/अधीनस्थ वर्ग को किसी नेतृत्व या हिरावल की आवश्यकता नहीं है; वे दमित की "स्वशिक्षा" के पक्षधर हैं और कहते हैं आज की ज़रूरत मार्क्सवाद से ज्यादा रैडिकल सोच की है, क्योंकि मार्क्सवाद स्वयं सत्तावादी, दमनकारी और अपचयनवादी है (श्रीमान रैंसिये)! इसके अलावा कुछ ऐसे हैं जिन्होंने हर प्रकार की सार्वभौमिकता (universality) का नाश करने की ठान रखी है और कह रहे हैं कि सार्वभौमिकता, निरपेक्षता, सामान्यता की सभी बातें वास्तव में दमनकारी होती हैं; इसलिए हमें खण्डों की हिफाज़त में तन-मन-धन से लग जाना चाहिए, यानी कि, वर्ग जैसी अवधारणाएँ, सर्वहारा वर्ग की एकता जैसी अवधारणाएँ ही दमनकारी हैं और हमें टुकड़ों का जश्न मनाना चाहिए (सुश्री जुडिथ बटलर, श्रीमान लाक्लाऊ व सुश्री माउफ़्र)।

इन तमाम "मौलिक" प्रस्थापनाओं के बाद ऐसे सभी "दार्शनिकों" को सट्टेबाज़ (speculative) और बहेतू (vagabond) दार्शनिक ही कहा जा सकता है क्योंकि इनके "चिन्तन" की कोई धुरी नहीं है। आप अगर गौर करें तो पायेंगे कि तमाम रैडिकल तेवर, उग्रपरिवर्तनवादी जुमलों और नये क्रिस्म की मुक्तिकामी राजनीति का पक्ष रखने के दावों के बावजूद इनका निशाना ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का निर्माण करती हैं। मिसाल के तौर पर वर्ग की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा, वर्ग के हिरावल के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा, पूँजी की अवधारणा, अलगाव और शोषण की अवधारणा, आदि। ये तमाम उत्तर-मार्क्सवादी "स्पेक्युलेटिव दार्शनिक" या तो इन अवधारणाओं को नकार देते हैं या उन्हें विकृत कर देते हैं। इनकी छद्म दार्शनिक जालसाज़ियों (जो कि आम तौर पर फ़ैशनेबल उत्तर-आधुनिकतावादी, फ़्रांसीसी दार्शनिक शब्दावली के आवरण में परोसी जाती हैं) को समझना हो तो इनका दार्शनिक और राजनीतिक स्रोत देखना होगा। वास्तव में, इनमें से अधिकांश का स्रोत वही है जो कि उत्तर-आधुनिकतावादी विचार सरणियों का था - यानी, मई 1968 का छात्र-मजदूर आन्दोलन जिसका केन्द्र पेरिस था। सोवियत साम्राज्यवाद के पूर्वी यूरोप में किये गये हस्तक्षेप और पूर्वी यूरोप के छद्म समाजवादी देशों में जनता का अनुभव 1960 के दशक में सोवियत साम्राज्यवाद के प्रति आक्रोश का कारण बना। यूरोप में और विशेषकर फ़्रांस में तमाम ऐसे राजनीतिक और दार्शनिक चिन्तक थे, जिनकी विचारधारात्मक शुरुआत एक मार्क्सवादी के रूप में हुई थी, लेकिन बाद में सोवियत साम्राज्यवाद के अनुभव के कारण उनका मोहभंग मार्क्सवाद से ही हो गया क्योंकि वे क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद, समाजवाद और सामाजिक-साम्राज्यवाद के बीच फ़र्क नहीं देख पाये। बेदियू, ज़िज़ेक, नेग्री जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों की वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति के मूल को यूरोपीय वाम की, यूरोपीय, विशेषकर फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवाद और सोवियत संघ के सामाजिक फ़्रांसीवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद के कुकृत्यों से पैदा हुए राजनीतिक 'ट्रामा' में देखा जा सकता है। यूरोपीय देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ, मिसाल के तौर पर फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.एफ़.), इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.आई.) आदि 1960 के दशक से ही संशोधनवाद का रास्ता पकड़ चुकी

थीं। 1953 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद आने के बाद भी ये तमाम पार्टियाँ उसका समर्थन कर रही थीं और हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया जैसे पूर्वी यूरोप के देशों में सोवियत साम्राज्यवाद के कुकृत्यों को लेकर या तो चुप थीं या समझौतापरस्त अवस्थिति अपना रही थीं। ऐसे में, इन संशोधनवादी सामाजिक-जनवादी पार्टियों से मोहभंग हो जाना लाजिमी था। लेकिन मई 1968 में यूरोपीय वाम और यूरोपीय रैडिकल बुद्धिजीवी वर्ग ने सोवियत संशोधनवाद और उसके कुकर्मों और यूरोपीय सामाजिक-जनवादी पार्टियों के सुधारवाद और बुर्जुआ सत्ता से प्रणय पर जो प्रतिक्रिया दी, वह एक रोगात्मक प्रतिक्रिया (pathological reaction) थी, क्योंकि उसमें कोई आलोचनात्मक विवेक नहीं था। सोवियत संशोधनवादी पार्टी और सामाजिक साम्राज्यवादी व सामाजिक फ़ासीवादी राज्य के अपराधों को मार्क्सवाद की पार्टी, राज्य और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवधारणा पर ही आरोपित कर दिया गया। बेदियू, जिज़ेक जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक इसी पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया का अंग थे। साथ ही, उसी समय चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति भी जारी थी, जिसे बहुतों ने 'पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति' समझा (स्वयं बेदियू भी इसी समझदारी से ग्रस्त हैं)। कुल मिलाकर, नतीजा यह हुआ कि ये तथाकथित 'नव दार्शनिक' (New Philosophers) सारी बुराई की जड़ पार्टी और सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त को समझने लगे। इनमें से कुछ मार्क्सवाद को सर्वसत्तावादी, दमनकारी आदि कहते हुए उत्तर-आधुनिकतावाद की ओर चले गये, जैसे कि मिशेल फूको, जाक देरीदा, आदि। और कुछ ऐसे थे जो नये क्रिस्म के मार्क्सवाद की बात करने लगे। इनमें से कुछ अल्थूसर के छात्र थे। ऐलन बेदियू, जाक रैसिये आदि जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक इसी श्रेणी में आते हैं। हम देख सकते हैं कि जिन दार्शनिकों को या उत्तर-मार्क्सवादी सट्टेबाज़ दार्शनिक कहा गया है, उनकी वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति के ईंधन का स्रोत दार्शनिक भ्रम-विभ्रम की यही भट्टी है।

इसके अतिरिक्त, उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों की 'उग्रपरिवर्तनवादी' प्रस्थापनाओं का राजनीतिक स्रोत यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन के कुछ विशेष हिस्सों में, जैसे कि इटली और स्पेन के मज़दूर आन्दोलनों में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही मौजूद 'मज़दूरवाद' (workerism) और स्वतःस्फूर्तवाद (spontaneism) की प्रवृत्तियाँ भी हैं। मार्क्सवाद-विरोधी ये पेटी-बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता की अन्धपूजा और आदर्शीकरण (idealization) तो करती ही हैं साथ ही मार्क्सवाद की हिरावल पार्टी की अवधारणा को खारिज भी करती हैं। आज एक बार फिर दुनिया भर के और भारत के भी मज़दूर आन्दोलन में तमाम ऑटोनोमिस्ट (Autonomist), 'मज़दूरवादी', अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी ताकतें जड़ जमाने की कोशिश कर रही हैं और अपनी इन मार्क्सवाद-विरोधी, विजातीय प्रवृत्तियों का वैचारिक ईंधन वर्तमान में उत्तर-मार्क्सवादियों के अराजकतावाद और ऑपराइज़्मो (Operaismo) की सैद्धान्तिकी से ग्रहण कर रही हैं।

उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन के मुख्य स्रोतों की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद हम इस विचार-सरणि के प्रातिनिधिक उदाहरण के तौर पर ऐलन बेदियू, स्लावोय जिज़ेक, एण्टोनियो नेग्री-माइकल हार्ट, अर्नेस्टो लाक्लारू-चैण्टल माउफ़ के राजनीतिक, विचारधारात्मक सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल

करेंगे, नये क्रिस्म के कम्युनिज़्म या भविष्य की मुक्तिकामी राजनीति (emancipatory politics of future) पर उनके "विचारों" और "चिन्तनों" की संक्षिप्त समीक्षा करेंगे और साथ ही, बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों पर उनकी अवस्थिति का भी मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे। शुरुआत हम ऐलन बेदियू के 'कम्युनिज़्म' के विचार से करेंगे।

## ऐलन बेदियू का "कम्युनिज़्म" का विचार या परिवर्तन की परियोजना से क्रान्तिकारी अभिकरण छीनने की निर्लज्ज और हताश कवायद

दार्शनिकों ने  
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है  
पर सवाल उसको बदलने का है।  
अब चूँकि दुनिया बदलना  
मेरे वश की बात नहीं  
इसलिए मैं इसकी  
एक और व्याख्या कर रहा हूँ  
और जो थोड़ी बहुत कोशिशें हो रही हैं  
दुनिया बदलने की  
उनकी समीक्षा कर रहा हूँ।

- कात्यायनी (दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-3)

"मार्क्सवाद, मजदूर आन्दोलन, सामूहिक जनवाद, लेनिनवाद, सर्वहारा वर्ग की पार्टी, समाजवादी राज्य - ये सभी जो बीसवीं शताब्दी के आविष्कार हैं - अब हमारे लिए अपनी उपयोगिता खो चुके हैं। सैद्धान्तिक धरातल पर ये ज़रूर अध्ययन और समीक्षा की माँग करते हैं - लेकिन व्यावहारिक राजनीति में अब ये किसी काम के नहीं रह गये हैं।"

- ऐलन बेदियू, 2008

ऐलन बेदियू और 'कम्युनिज़्म' के विचार-विषयक उनकी सैद्धान्तिकी पिछले कुछ समय से आम बौद्धिक हलकों में ही नहीं बल्कि वामपन्थी दायरों में भी चर्चा का विषय बने हुए हैं। भारत के कई बौद्धिक समूह और क्रान्तिकारी संगठन भी बेदियू पर चर्चा कर रहे हैं। अन्य देशों के कम्युनिस्ट ग्रुपों में भी बेदियू का सिद्धान्त चर्चा का विषय बना हुआ, बल्कि कहना चाहिए कि भ्रम का स्रोत बना हुआ है। भारत के भी कुछ अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी कम्युनिस्ट समूहों को बेदियू से काफ़ी-कुछ सीखने को मिल रहा है! बेदियू खुद को 'कम्युनिज़्म की वापसी' की उद्घोषणा करने वाले सिद्धान्तकार के रूप में पेश कर रहे हैं। इसके चलते ही कुछ लोग इन्हें इस दौर का सबसे बड़ा 'कम्युनिस्ट' दार्शनिक बता रहे हैं। बेदियू 2010 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि कम्युनिस्ट

हाइपोथीसिस' में ही 'कम्युनिज़्म' के विचार संबंधी अपनी परिकल्पना (hypothesis) प्रस्तुत करते हैं, साथ ही, उक्त पुस्तक में ही वे बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के विषय में अपनी अवस्थिति रखते हैं। इसलिए इस पुस्तक में उनके तमाम सैद्धान्तिकीकरणों की समीक्षा के ज़रिये ही हम बेदियू के 'कम्युनिज़्म' के विचार की वास्तविक राजनीति की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु तक पहुँच सकते हैं।

'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' अलग से लिखी गयी कोई किताब नहीं है, बल्कि बेदियू द्वारा अलग-अलग समय पर लिखे गये लेखों या दिये गये व्याख्यानों का संकलन है। इस किताब का मुख्य स्रोत 2008 में बेदियू द्वारा 'न्यू लेफ़्ट रिव्यू' के लिए इसी नाम से लिखा गया वह निबन्ध है जिसमें बेदियू 2007 के राष्ट्रपति चुनावों में निकोलस सारकोज़ी की जीत के ऐतिहासिक महत्व की पड़ताल करते हैं।

इसके अलावा, मार्च 2009 में लंदन में 'कम्युनिज़्म का विचार' ('दि आइडिया ऑफ़ कम्युनिज़्म') नाम से आयोजित एक कॉन्फ़्रेंस में बेदियू द्वारा प्रस्तुत किया गया वक्तव्य भी इस पुस्तक का एक स्रोत है। यहाँ बताते चलें कि इस सम्मेलन में बेदियू के अलावा स्लावोय जिज़ेक, जुडिथ बालसो, ब्रूनो बोस्तील्स, टेरी ईगलटन, पीटर हॉलवर्ड, माइकल हार्ट, एण्टोनियो नेग्री, जाक रैसिये, एलेक्सान्द्रो रूसो, एल्बर्टो टस्कानो, जियानी वातिमो जैसे तमाम क्रिस्म के मार्क्सवादियों, नव-मार्क्सवादियों और उत्तर-मार्क्सवादियों ने शिरकत की थी।

बेदियू के 'कम्युनिज़्म' विषयक सैद्धान्तिकीकरणों की विस्तृत समीक्षा में जाने से पहले यहाँ कुछेक बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। पहली बात यह कि बेदियू का कम्युनिज़्म का विचार या सिद्धान्त एक ग़ैर-मार्क्सवादी कम्युनिज़्म की बात करता है और मार्क्सवादी विचारधारा को भविष्य की मुक्तिकामी राजनीति (emancipatory politics) के लिए अपर्याप्त, अप्रासंगिक और ग़ैर-ज़रूरी मानता है। दूसरी बात यह कि बेदियू का कम्युनिज़्म का विचार अनैतिहासिक है। बेदियू के अनुसार कम्युनिज़्म का यह विचार अनादि-अनन्त (eternal) है। यह मानवता के उद्भव के साथ ही जन्म ले चुका था। उनके लिए प्लेटो का *दि रिपब्लिक*, रूसो का *सोशल कॉण्ट्रैक्ट*, फ़्रांसीसी क्रान्ति और जैकोबिन आतंक-राज्य, पेरिस कम्यून और मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (जो 1917 की बोलशेविक क्रान्ति के साथ शुरू होता है और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ खत्म होता है) कम्युनिज़्म के शाश्वत विचार (eternal idea) की यात्रा के अलग-अलग क्षण, पड़ाव या मील के पत्थर हैं। तीसरी बात यह कि बेदियू के अनुसार बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग दुर्गति/विपदा में समाप्त हुए। उनका मानना है कि सोवियत संघ और चीन में क्रान्तियों की मुक्तिकामी सम्भावना-सम्पन्नता को पार्टी-राज्य के फ़्रेमवर्क, हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व और समाजवादी राज्यसत्ता ने पहले बाधित किया और फिर पूरी तरह नष्ट कर दिया। और चौथी बात यह कि इस सारे "विश्लेषण" से बेदियू इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कम्युनिज़्म के विचार और मुक्ति की राजनीति को क्रान्ति के 'पैराडाइम' में अवस्थित नहीं किया जा सकता है और न ही पार्टी-राज्य के फ़्रेमवर्क का 'बन्दी' बनाया जा सकता है। और यह भी कि "क्रान्तियों का युग" बीत चुका है। अपनी पुस्तक 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' में बेदियू इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

बेदियू अपनी पुस्तक की शुरुआत में कहते हैं कि 1970 की 'लाल दशाब्दी' के अन्त के साथ पश्चिमी पूँजीवादी देशों का कम्युनिज़्म-विरोध एक बार फिर ज़ोर-शोर के साथ सामने आया। 'नये दर्शन' के हिमायतियों ने समाजवादी राज्यों की 'निरंकुशता और सर्वसत्तावाद' पर ख़ूब शोर मचाया और बुर्जुआ संसदवाद और प्रातिनिधिक जनवाद की अच्छाइयों को गिनाना शुरू कर दिया। इस उन्मादी हर्षोल्लास के पीछे जो तर्क काम कर रहा था वह यह था कि समाजवाद, जो कि कम्युनिस्ट विचार का एकमात्र मूर्त रूप था, बीसवीं सदी में पूरी तरह विफल हो गया। इसके बाद बेदियू कहते हैं कि इसलिए विफलता के विचार पर आज "विचार" करने की आवश्यकता है। बेदियू पूछते हैं कि जब हम कहते हैं कि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस (परिकल्पना) के अमलीकरण के तौर पर जो समाजवादी प्रयोग हुए, उनका अन्त 'विफलता' में हुआ, तो हमारा मतलब क्या होता है? क्या वे पूरी तरह से असफल हुए? क्या इसका मतलब है कि हम इस परिकल्पना को ही त्याग दें या मुक्ति की पूरी समस्या को ही तिलांजलि दे दें? बेदियू को यहाँ तक पढ़ने पर पाठक के मन में उम्मीदें जगने लगती हैं, लेकिन ये उम्मीदें ज़्यादा देर तक नहीं ठहरतीं। क्योंकि इसके बाद बेदियू जो स्वर अपनाते हैं, वह वही पुराना राग है - **चूँकि बीसवीं सदी की क्रान्तियाँ पार्टी-राज्य के फ़्रेमवर्क में कैद थीं, इसलिए वे असफल होने के लिए अभिशप्त थीं।** यह प्रश्न बेदियू यहाँ इस प्रकार उठाते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों ने जो रूप अपनाया और जो रास्ता अख़्तियार किया, क्या उसी में तो इस 'विफलता' के कारण अन्तर्निहित नहीं हैं और इसलिए 'विफलता' उनकी नियति थी? यहाँ यह बात जोड़नी ज़रूरी है कि **इस पूरी पुस्तक में, या फिर बेदियू की अन्य सभी कृतियों में भी, बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण को इस्तेमाल किये ही एक 'त्रासदी' या 'आपदा' मान लिया गया है।** जिज़ेक के लेखन की तरह यहाँ भी यह नतीजा आकाशवाणी के समान (axiomatic) है।

दूसरी बात यह कि रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों का पतन या विफलता किस दौर में शुरू होती है, इसकी भी कोई समझदारी बेदियू के लेखन में आपको नहीं मिलेगी। पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रोपगैण्डा मशीनरी की तरह यहाँ पर भी 1990 में सोवियत संघ के विघटन तक समाजवाद का दौर क्रायम माना जाता है! 1956 के बाद सोवियत संघ की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक साम्राज्यवादी भूमिका और देश के अन्दर जनता के खिलाफ़ सामाजिक फ़ासीवादी भूमिका को ही समाजवाद के रूप में चित्रित किया जाता है। हालाँकि बेदियू के लिए कम्युनिज़्म की अपनी परिकल्पना के लिए इस 'विफलता' की कालिकता या स्थानिकता (temporality and spatiality) को स्पष्ट करना ज़रूरी नहीं है क्योंकि इस परिकल्पना के अनुसार तो 1917 की बोलशेविक क्रान्ति के साथ ही समाजवाद की 'विफलता' का दौर शुरू हो गया था; आख़िर इस क्रान्ति ने ही तो कम्बख़्त पार्टी-राज्य के 'पैराडाइम' को संस्थाबद्ध और सुव्यवस्थित किया था! **इसलिए बेदियू इस पुस्तक में और अन्यत्र भी, 1917 से 1953 तक के दौर की कभी चर्चा नहीं करते।** इस पूरे दौर का समाहार वह यह कह कर देते हैं कि पार्टी-राज्य ने एक नयी क्रिस्म की "निरंकुशता" को जन्म दिया जिसकी मुख्य आभिलाक्षणिकताएँ थीं- 'पुलिस द्वारा दमन'

और 'आन्तरिक नौकरशाहाना जड़ता'। क्या इस समझदारी पर उन्हीं आलोचनाओं की छाप नज़र नहीं आती जो अलग-अलग तरीक़े से लियोन त्रात्स्की, रॉय मेदवेदेव, इज़ाक डॉइशर, मार्क फ़ेरो जैसे लोग करते हैं? हालाँकि इन सब में काफ़ी मतान्तर और विविधता है लेकिन रूसी क्रान्ति और समाजवादी मज़दूर सत्ता को और विशेष तौर पर स्तालिन के नेतृत्व में समाजवाद के निर्माण को कोसने में गहरी एकता है?

इसके बाद बेदियू तीन प्रकार की विफलताओं की बात करते हैं। पहली प्रकार की 'विफलता' वह है जिसमें क्रान्तिकारी कुछ समय के लिए किसी देश या किसी विशिष्ट इलाक़े में सत्ता पर काबिज़ होते हैं लेकिन हथियारबन्द प्रतिक्रान्तिकारी ताक़तों द्वारा कुचल दिये जाते हैं। इस 'विफलता' के तौर पर वह पेरिस कम्यून और रोज़ा लगज़मबर्ग और कार्ल लीबनेख़्त के नेतृत्व में प्रथम-विश्वयुद्ध के बाद की स्पार्टकिस्ट बग़ावत का उदाहरण देते हैं। दूसरे प्रकार की 'विफलता' के उपशीर्षक के तहत वे उन व्यापक जनान्दोलनों को गिनाते हैं जिनका मक़सद सत्ता हथियाना होता ही नहीं है, हालाँकि ये आन्दोलन कुछ समय के लिए राज्य की प्रतिक्रियावादी ताक़तों को रक्षात्मक मुद्रा में आने के लिए बाध्य करते हैं। इसके उदाहरण के तौर पर वह मई 1968 का आन्दोलन गिनाते हैं। फिर बेदियू तीसरे प्रकार की 'विफलता' का चर्चा करते हैं जिसके तहत वे बिना कोई फ़र्क़ किये बीसवीं सदी के सभी समाजवादी प्रयोगों को गिनाते हैं जिनमें कम्युनिस्ट परिकल्पना के अमलीकरण के नाम पर "पार्टी-राज्य का आतंक राज्य क्रायम हुआ" और कम्युनिज़्म के विचार को ही त्याग दिया गया! अपनी प्रस्तावना का अन्त बेदियू "प्वाइण्ट" (बिन्दु या क्षण) की अपनी अवधारणा से करते हैं। आम तौर पर भी इस पुस्तक में जहाँ-तहाँ बेदियू उत्तर-मार्क्सवादियों की पसन्दीदा हेगेलीय दर्शन और लकानीय मनोविश्लेषण की श्रेणियों का इस्तेमाल करते नज़र आते हैं, उदाहरण के लिए बेदियू की "टूथ-प्रोसीजर", "इवेण्ट", "सब्जेक्ट" इत्यादि की अवधारणा आदि, मगर फ़िलहाल हम पहले "प्वाइण्ट" की बेदियू की अवधारणा पर विचार करते हैं। "प्वाइण्ट" की अवधारणा को व्याख्यायित करते हुए बेदियू कहते हैं कि किसी भी मुक्तिकामी राजनीति के क्रम या श्रृंखला में (यानी कि किसी भी क्रान्ति के दौरान) यह वह क्षण होता है जिसमें विकल्प की 'बाइनरी' पर (यानी कि इस प्रश्न पर कि विकल्प 'क' अपनाया जाये या विकल्प 'ख') उस पूरी प्रक्रिया का भविष्य निर्भर करता है। वे आगे कहते हैं कि हमें यह समझना होगा कि सभी "विफलताओं" का कारण इसी क्षण पर लिये गये फ़ैसलों में अन्तर्निहित है। सीधे-साफ़ शब्दों में कहें तो बेदियू के कहने का अभिप्राय यह है कि पेरिस कम्यून के अनुभवों के बाद, पहले मार्क्स और फिर लेनिन द्वारा, हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य-सत्ता (सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व) की प्रस्थापनाओं का प्रतिपादन ही इस क्षण पर लिये गये ग़लत फ़ैसले थे। यह 'मूल पाप' था; नाजुक मौक़े पर ग़लत फ़ैसला! और यहीं से सारी ग़लती और विफलता की शुरुआत होती है! बेदियू अपनी इसी थीसिस को इस पुस्तक के बाकी हिस्सों में स्पष्ट करते चलते हैं और हर स्पष्ट अवधारणा को इस प्रक्रिया में अस्पष्ट करते जाते हैं।

अन्यत्र बेदियू कहते हैं कि मई 1968 की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। इसके बाद बेदियू मई 1968 की विजातीयता और बहुलता की बात करते हुए कहते हैं कि मई 1968 कोई एकाशमीय परिघटना नहीं थी बल्कि चार अलग-अलग परिघटनाओं की जटिलता लिये हुए थी (बेदियू स्वयं भी इस आन्दोलन का हिस्सा थे)। **पहला** मई 1968 वह था जिसमें विश्वविद्यालय और स्कूलों के छात्र-छात्राएँ हिस्सा ले रहे थे, यानी कि जिसका मुख्य तत्व **छात्र-आन्दोलन** था। **दूसरा** मई 1968 **मज़दूर आन्दोलन** के इर्द-गिर्द केन्द्रित था, जिसमें सी.जी.टी. (जनरल कॉन्फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर - एक संशोधनवादी ट्रेड यूनियन संघ) और अन्य यूनियनों द्वारा आयोजित हड़तालों के साथ ही परम्परागत यूनियन के सांगठनिक ढाँचे के बाहर भी मज़दूरों द्वारा आयोजित हड़तालें थीं, जिन्हें "वाइल्डकैट स्ट्राइक्स" की संज्ञा दी जाती थी। इस दौरान फैक्ट्रियों पर कब्ज़ा आम बात थी। **तीसरे** मई 1968 को **स्वच्छन्तावादी (लिबर्टेरियन) मई** कहा जा सकता है जिसमें पेटी बुरुजुआ वर्ग की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मुद्दा अहम था। इसकी अभिव्यक्ति उस दौर के कला साहित्य, सिनेमा में भी नज़र आती है। इसके बाद बेदियू **चौथे मई 1968** की चर्चा पर आते हैं, जो उनके अनुसार उपरोक्त सभी से कहीं ज़्यादा ज़रूरी था। बेदियू के अनुसार यह इसलिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि यह राजनीति की पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर - जैसे पार्टी, यूनियन आदि पर - सवाल उठा रहा था। इस कथन में आंशिक सच्चाई है। जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं 1960 के दशक से ही फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.एफ़.) संशोधनवाद के रास्ते पर चल चुकी थी। जहाँ तक सी.जी.टी. जैसी संशोधनवादी, अराजकतादी-संघातिपत्यवादी यूनियनों का सवाल था, तो उनकी स्थिति और अवस्थिति बहुत कुछ वर्तमान भारत में सीटू, ऐटक जैसी यूनियनों के जैसी ही थी। **ऐसे में, पार्टी और यूनियनों का जो मॉडल मौजूद था, उससे मोहभंग होना लाज़िमी था और चूँकि उस समय कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं था जो इन स्वतःस्फूर्त जनउभार की कार्रवाइयों को संगठित कर सकता इसलिए मई 1968 बस मई 1968 बनकर ही रह गया।** केवल विद्रोह की सफलता और असफलता की बात की जाये तो इसका अन्त उसी हताशा में हुआ, जिस हताशा में 'ऑक्युपाई' आन्दोलन और अरब बसन्त का हुआ है, हालाँकि मई 1968 का महत्व इस रूप में भी था कि इसके बाद तमाम ऐसी विचार-सरणियाँ पैदा हुईं जिनका अन्त 'उत्तर'-वादी विचार-सरणियों में हो गया। इसका उल्लेख हम आलेख के पहले हिस्से में कर चुके हैं।

शायद बेदियू बिल्कुल इन्हीं कारणों से मई 1968 को लेकर इतना *नॉस्टैलजिक* हैं, क्योंकि मई 1968 ने पार्टी, राज्य और वर्ग अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणाओं पर प्रश्न उठाना शुरू किया। इस दौर में पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर खड़े हो रहे सवालों के तर्क को बेदियू बढ़ाते हुए मार्क्सवाद और क्रान्ति के विज्ञान को खारिज करने तक ले जाते हैं। बेदियू कहते हैं कि "धीरे-धीरे यह सत्य उजागर होने लगा था कि जो सामान्य भाषा, जिसका द्योतक लाल झण्डा था, हम सब बोल रहे थे, वह दरअसल मृत्यु को प्राप्त हो रही थी।" **मई 1968 की असली अहमियत बेदियू के लिए यहाँ छिपी है।**

बेदियू जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों का हमला मूलतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर है। इस विषय में बेदियू की स्पष्टवादिता की दाद देनी पड़ेगी कि वह सीधे-सीधे यह कह भी देते हैं कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह अप्रासंगिक हो चुकी है। चीन में 1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का भी बेदियू एक गैर-पार्टीवादी विनियोजन करते हैं। बेदियू के अनुसार महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ जो नया युग शुरू हुआ उसमें पार्टी-राज्य का फ्रेमवर्क (यानी हिरावल पार्टी और सर्वहारा तानाशाही की मार्क्सवादी अवधारणाएँ) अब बेकार हो चुका है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर बेदियू के विचारों की चर्चा हम आगे करेंगे। लेकिन यहाँ इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि मार्क्सवादी कम्युनिज्म के बरक्स बेदियू के "कम्युनिज्म" के काण्टीय, हेगेलीय, लकानीय विचार के बावजूद, और शायद इसी वजह से, भी उनका निशाना एकदम ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का निर्माण करती हैं।

राजनीतिक अर्थशास्त्र की बेहद अधकचरी और सीमित समझदारी का परिचय भी बेदियू जहाँ-तहाँ अपने लेखन में देते चलते हैं। मसलन, बेदियू एक जगह कहते हैं कि वित्तीय पूँजीवाद पिछले 500 सालों से पूँजीवाद का एक केन्द्रीय संघटक अवयव रहा है! साम्राज्यवाद के गैर-लेनिनवादी अध्येता और आम अकादमिक शोधकर्ता भी इस तरह की बचकानी प्रस्थापनाएँ नहीं देते हैं! मार्क्सवादी-लेनिनवादी विज्ञान को तो बेदियू ने पहले ही इतिहास की कचरा-पेटी के हवाले कर दिया है। हालाँकि कोई गैर-मार्क्सवादी भी उपनिवेशवाद के प्राक्-वित्तीय दौर और वित्तीय दौर में फ़र्क करेगा, लेकिन बेदियू ऐसा नहीं कर पाते। क्योंकि, लकाँ और हेगेल के पोथों के बीच ही वे दब-से गये हैं! वैसे, सभी उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तकों के बारे में एक बात दावे से कही जा सकती है - इन्हें राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' भी नहीं आता है। इस कमी को इतिहास की सुसंगत जानकारी और एक सन्तुलित ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के रूप में भी देखा जा सकता है। और कमी को ये बेदियू पूरा कैसे करते हैं? फ़्रांसीसी फ़ैशनेबल उत्तर-वाम की लच्छेदार शब्दावली में ऐतिहासिक तथ्यों के विकृतीकरण के अद्वितीय हुनर के ज़रिये! आमतौर पर बेदियू इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ही अपनाते हैं। लेकिन अपने राजनीतिक-दार्शनिक हित-साधन के लिए वह आत्मगत चयन करते हुए ऐतिहासिक तथ्यों का ब्यौरा देने से बाज़ नहीं आते हैं। वह इन तथ्यों को इस तरह तोड़-मरोड़ कर और मनमाने ढंग से पेश करते हैं कि उनकी अन्तर्वस्तु ही बदल जाती है। मसलन, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर अपने विचार रखते हुए वे जमकर तथ्यों का ब्यौरा देते हैं, लेकिन यह आत्मगत पूर्वाग्रहों के साथ किया गया इतिहास का एक पाठ है, जिसमें नतीजे पहले ही तय कर लिये गये हैं और उनके आधार पर तथ्यों का चयन बाद में किया गया है।

बेदियू अपने लेखन में एक टटपूँजिया स्वच्छन्दतावादी की तरह (जो कि वह हैं!) रूमानीपन का प्रदर्शन करते हैं और छद्म आशावाद से ग्रस्त होकर कहते हैं कि आज सबसे अहम है विचारों और एक सामान्य परिकल्पना के प्रति अपने जुनून को एक बार फिर तलाशना (!), इस विश्वास के साथ की एक दूसरी दुनिया सम्भव है! "हमें पूँजीवाद के घृणित तमाशे के बरक्स लोगों का, लोगों

के जीवन का और विचारों के आन्दोलन का यथार्थ खड़ा करना होगा।" यह कैसे खड़ा होगा यह बताना बेदियू ज़रूरी नहीं समझते लेकिन अपनी पुरानी थीम पर वह ज़रूर एक बार फिर लौटते हैं (ऐसा करना वह कभी नहीं भूलते!)। वे कहते हैं कि हालाँकि 'कम्युनिज़्म' शब्द को "सस्ता और वेश्या बना दिया गया है" लेकिन हम इसे लुप्त नहीं होने देंगे। चूँकि बेदियू "कम्युनिज़्म" के इस विचार के तारणहार हैं, इसलिए वह "कम्युनिज़्म" को बचाएँगे! एलेन बेदियू उसे अतीत के सारे अनुभवों से, क्रान्ति के सिद्धान्त से, समाजवादी राज्य से और हिरावल पार्टी के भारी-भरकम बोझ से इस "शाश्वत" विचार को भारमुक्त करेंगे और "मुक्ति की नयी राजनीति" गढ़ेंगे, जो क्या होगी यह बेदियू नहीं बताएँगे क्योंकि वह खुद भी इससे अपरिचित हैं।

अपने उत्तरमाक्सवादी चिन्तन से पैदा हुए पूर्वाग्रहों के चलते बेदियू माओ का, माओवाद का और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का निकृष्ट क्रिस्म का हस्तगतीकरण (appropriation) और विकृतीकरण (distortion) करते हैं। वह कहते हैं कि सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पार्टी-राज्य के स्वरूप के संतृप्तीकरण (saturation) का प्रारूपिक उदाहरण है। इसके बाद वे जोड़ते हैं कि हालाँकि यह स्वयं (सांस्कृतिक क्रान्ति) पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के भीतर ही काम कर रही थी और इसीलिए "विफल" हुई, लेकिन इसने आने वाले दिनों के लिए कुछ ज़रूरी सबक दिये। बेदियू के अनुसार यह ज़रूरी सबक थे - सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मार्क्सवादी सिद्धान्त को तिलांजलि देने की वांछितता। अपने इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बेदियू सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर की कई घटनाओं का ब्यौरा टुकड़ों-टुकड़ों में देते हैं, मनमाने ढंग से उन घटनाक्रमों की व्याख्या करते हैं और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का विकृतीकरण करते हैं।

बेदियू माओ का पेटी बुर्जुआ लोकरंजकतावादी विनियोजन करके उन्हें हिरावल पार्टी की अवधारणा के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयास करते हैं। हालाँकि यह दीगर बात है कि इस उपक्रम में वह कोई विशेष सफलता हासिल नहीं कर पाते हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को समझने की उम्मीद हम बेदियू जैसे उत्तर-माक्सवादी और उत्तर-माओवादी (क्योंकि बकौल बेदियू पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क की क़ैद से कम्युनिज़्म के विचार को मुक्त कराने में वे माओ से भी आगे निकल गये हैं!) से कर भी नहीं सकते हैं। इस अध्याय के अन्त में वे कहते हैं, "आज हम जानते हैं कि हर क्रिस्म की मुक्तिकामी राजनीति को पार्टी के मॉडल के आगे सोचना होगा और पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के अध्याय को अन्तिम और निर्णायक तौर पर बन्द कर देना होगा। भविष्य की राजनीति पार्टी के बिना होगी..." लेकिन, भविष्य की यह राजनीति क्या होगी, बेदियू एक बार फिर इस प्रश्न पर चुप्पी साधे हुए हैं।

बेदियू अपनी रचनाओं में पेरिस कम्यून के मॉडल का खूब समर्थन करते हैं। कारण स्पष्ट है - क्योंकि पेरिस कम्यून के वक्रत हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य की अवधारणा उतनी सुस्पष्ट नहीं थी जितना कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक सत्ता पर क्राबिज़ होने के इस पहले प्रयोग के समाहार के बाद वह हुई। बेदियू के शब्दों में कहें तो कम्यून पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क का बन्दी नहीं था।

मार्क्स ने कम्यून की परिस्थितियों, कारणों और अनुभवों का निचोड़ निकालते हुए जो निष्कर्ष निकाला, उसे भी याद करना यहाँ ज़रूरी है। मार्क्स ने कहा था, **"मज़दूर वर्ग बनी-बनायी राज्य मशीनरी को ज्यों का त्यों हाथ में नहीं ले सकता और उसे अपना मक़सद पूरा करने के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता।"** उन्होंने बताया कि सर्वहारा वर्ग को पुरानी राज्य मशीनरी को "तोड़ने" और "चकनाचूर करने के लिए" क्रान्तिकारी हिंसा का इस्तेमाल करना चाहिए तथा "सर्वहारा अधिनायकत्व" को लागू करना चाहिए। बेदियू का कहना कि मार्क्स कम्यून के अपने आकलन में सुस्पष्ट नहीं थे, कोरी लफ़्फ़ाज़ी है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सर्वहारा राज्यसत्ता के विषय में मार्क्स के विचार वास्तव में क्या थे। यह बेदियू का स्वतःस्फूर्ततावाद और पार्टी-राज्य फ़्रेमवर्क से उनकी 'एलर्जी' है जो उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है। बेदियू के अनुसार एक दूसरी दुनिया का भ्रूण कम्यून के मॉडल में ही आकार ले रहा है क्योंकि यह मॉडल पार्टी-राज्य के स्वरूप से मुक्त है। यह इतिहास के चक्के को पीछे धकेलना नहीं तो और क्या है? पेरिस कम्यून का प्रयोग ठीक यही दिखलाता था कि सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी संगठन की आवश्यकता है और उनके ज़रिये ही वह बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस कर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को क़ायम कर सकता है। मज़दूर वर्ग व अन्य मेहनतकश वर्गों के विरुद्ध हिंसा के संगठित उपकरण का ध्वंस संगठित क्रान्तिकारी हिंसा के ज़रिये ही किया जा सकता है। लेकिन बेदियू के लिए पेरिस कम्यून का मॉडल राज्य, पार्टी आदि की अशुद्धताओं से मुक्त था! यह तथ्यतः भी ग़लत है। दस सप्ताह से कुछ ज़्यादा समय तक पेरिस में मज़दूरों की सत्ता ने जो कुछ किया वह क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ही था! बल्कि, मार्क्स के शब्दों को उधार लेते हुए कहा जा सकता है कि भ्रूण रूप में सर्वहारा सत्ता और शासन का एक नमूना पेश करने के बावजूद, पेरिस कम्यून की सबसे बड़ी ग़लती यही रही कि उसने क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पर्याप्त हद तक लागू नहीं किया। लेकिन बेदियू हर ऐतिहासिक घटना की तरह पेरिस कम्यून का ज़िक्र करते हुए भी मनमाने ढंग से तथ्यों का चयन और व्याख्या करते हैं ताकि अपनी पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया को और राजनीतिक सदमे को अभिव्यक्ति दे सकें। बेदियू का काम आसान है : नतीजे पहले से तय हैं, बस तथ्यों को उसमें फिट करना है।

बेदियू के "कम्युनिज़्म" का विचार क्या है, इसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। अपने "कम्युनिज़्म" के विचार को परिभाषित करने के लिए बेदियू यथार्थ (the Real), काल्पनिक (the Imaginary) और प्रतीकात्मक (the Symbolic) की लकानियन त्रयी को लागू करते हैं। उनके अनुसार इतिहास 'प्रतीक' का क्षेत्र है, भविष्य की परियोजना (उनके लिए कम्युनिज़्म का विचार) 'काल्पनिक' का क्षेत्र है और राजनीति 'यथार्थ' का क्षेत्र है! आप इस बँटवारे के पीछे बेदियू की पूरी हेगेलीय-लकानीय समझदारी को देख सकते हैं। यदि कम्युनिज़्म की परियोजना 'काल्पनिक' का क्षेत्र है तो कम्युनिज़्म की पूरी परियोजना एक आत्मगत कारक बन जाती है। इसके अलावा बेदियू का कम्युनिज़्म एक काण्टीय नियामक विचार (Regulative Idea) है जिसके लिए यथार्थ के अनुरूप होना या उसका प्रतिनिधित्व करना अनिवार्य नहीं है। यह एक

लोकोत्तर विचार (transcendental Idea) है। इसलिए बेदियू के कम्प्युनिज़्म का विचार महज़ एक विचार है, यह किसी क्रिस्म के अमलीकरण या मूर्तीकरण का मोहताज नहीं है! ऐसा क्यों है इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

बेदियू मार्क्सवाद पर हमला करने के लिए ज़ाक लकाँ के मनोविश्लेषण की श्रेणियों का इस्तेमाल एक विशेष उद्देश्य से करते हैं। इस प्रच्छन्न उद्देश्य को समझने के लिए हमें कुछ शब्द लकाँ की इन श्रेणियों को समझने पर खर्च करने पड़ेंगे, अन्यथा बेदियू के असली मन्तव्य और मंशा को सही ढंग से समझा नहीं जा सकता है। यह कुछ साथियों को थोड़ा उबाऊ या ग़ैर-ज़रूरी लग सकता है। लेकिन इन उत्तर-मार्क्सवादियों का हमला मार्क्सवाद पर इसी प्रकार का है कि असल बात तक पहुँचने से पहले लफ़्फ़ाज़ियों के कई पर्दों को चीरना पड़ता है। इसके बिना बेदियू जैसे उत्तर-मार्क्सवादियों की सुसंगत आलोचना मुश्किल है, और किसी भी प्रकार की यान्त्रिक या चलताऊ आलोचना मार्क्सवाद के उद्देश्य को लाभ के बजाय हानि ही पहुँचाती है। हम इसे अधिकतम सम्भव सहज और सरल रूप में रखने का प्रयास करेंगे, ताकि बुनियादी बात को समझकर बेदियू की आलोचना पर आगे बढ़ सकें। हम आपको यक्रीन दिलाते हैं इस छोटे-से बोझिल पैराग्राफ़ के बाद हम बेदियू द्वारा मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों पर हमले के मूल को देख सकेंगे।

कम्प्युनिज़्म के विचार को 'काल्पनिक' के रूप में, इतिहास को 'प्रतीकात्मक' के रूप में और राजनीतिक को 'यथार्थ' के रूप में चित्रित करने के पीछे भी जो सोच काम कर रही है, वह क्या है और इसके पीछे बेदियू का मक़सद क्या है? इसके अनुसार, इतिहास 'प्रतीकात्मक' का प्रतिनिधित्व करता है। लकानीय त्रयी में अगर हम 'यथार्थ', 'प्रतीकात्मक' और 'काल्पनिक' के सम्बन्ध को समझ लें तो बेदियू का हेगेलीय भाववाद खुलकर सामने आ जाता है। मनुष्य के मनोविज्ञान के निर्माण की व्याख्या करते हुए लकाँ ने कहा कि 'यथार्थ' (the Real) 'वास्तविकता' (the reality) से अलग वस्तु है। 'यथार्थ' वह स्थिति है जिससे हम उस क्षण हमेशा के लिए काट दिये जाते हैं, जिस दिन हम भाषा के जगत में प्रवेश करते हैं। यानी कि अपनी छवि के प्रति सचेत होने के पहले एक नवजात शिशु 'यथार्थ' के जगत में होता है। इस मंज़िल में बच्चा सिर्फ़ आवश्यकता और उसकी पूर्ति को पहचानता है। वह अभी अपने, अपनी माँ या बाह्य जगत में अन्तर नहीं जानता है। लकाँ के लिए यह मंज़िल पूर्णता (completeness या fullness) की मंज़िल है। यह बोध भाषा में बच्चे के प्रवेश के साथ खो जाता है। भाषा के जगत में प्रवेश करते ही आवश्यकता (necessity) माँग (demand) बन जाती है। यथार्थ से यह अलगाव स्थायी होता है और इसीलिए लकाँ का कहना था कि मनुष्यों के लिए यथार्थ असम्भव है, क्योंकि इसे भाषा में अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। लेकिन लकाँ के मुताबिक़ यथार्थ हमेशा एक भूमिका अदा करता रहता है और 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' 'यथार्थ' के पत्थर से बार-बार टकराते हैं और असफल होते रहते हैं। 'काल्पनिक' से लकाँ का क्या अभिप्राय है? 'काल्पनिक' की अवस्था 'मिरर स्टेज' की अवस्था है जिसमें सब्जेक्ट (व्यक्ति) आदिम आवश्यकता से "माँग" की मंज़िल में प्रवेश करता है। आवश्यकता पूरी हो सकती है, लेकिन "माँग" कभी पूरी नहीं हो सकती है। इसकी

वजह से एक 'अभाव/कमी' का बोध जन्म लेता है। जैसे ही किसी को अपने अस्तित्व के दुनिया से अलग होने का पता चलता है वैसे ही एक अकुलाहट की भावना जन्म लेती है, जिसके पीछे कुछ 'खो' जाने का बोध काम करता है। बच्चा जैसे ही इस मंजिल में पहुँचता है, उसकी "माँग" होती है इस अन्यता (otherness) के घेरे में आ चुकी दुनिया को अपना अंग बनाना, जैसा कि बच्चे की नवजात अवस्था में हुआ करता था, जब बच्चा भाषा में प्रवेश के साथ अपने आपको दुनिया से अलग नहीं देखता था। यह "माँग" अपूरणीय होती है, क्योंकि यह उस छवि (image) पर आधारित है जो बच्चे ने अपने मन में बनायी है; यह छवि सुसंगत है, पूर्ण है, और स्थिरतापूर्ण है, लेकिन यह छवि उस वास्तविक बच्चे जैसी नहीं है। यह छवि एक कल्पना है जो बच्चे ने अपनी माँग के आधार पर बनायी है और इस रूप में अपूरणीय है। यह छवि किसी भी ऐसे व्यक्ति की हो सकती है जो कि बच्चा बनना चाहता हो; और इस रूप में अपनी 'काल्पनिक' छवि से उसका सम्बन्ध नारसिसिस्टिक है। अब आते हैं लकाँ के 'प्रतीकात्मक' के सिद्धान्त पर। 'प्रतीकात्मक' वास्तव में 'काल्पनिक' की सहायता से और भाषा के माध्यम के ज़िरये 'यथार्थ' की एक श्रेणीबद्ध प्रस्तुति है। मिसाल के तौर पर, 'काल्पनिक' के विश्व में हम अच्छे-बुरे, दुख-आनन्द, आदि के बारे में आदर्शकृत धारणाएँ रखते हैं और अच्छा बुरे का, दुख आनन्द का बहिष्कार करता है; उनमें से एक ही स्वीकार्य होता है; यह वह धरातल होता है जहाँ हम चयन करते हैं। लेकिन 'प्रतीकात्मक' के जगत में इन दोनों का अस्तित्व सम्भव होता है; हालाँकि उनके बीच हम भेद करते हैं, मगर हम उन दोनों के अस्तित्वों को स्वीकार करते हैं। 'यथार्थ' में ऐसी श्रेणियाँ होती ही नहीं हैं; चूँकि 'यथार्थ' उस दौर का प्रतिनिधित्व करता है जब/जहाँ भाषा नहीं थी और इसलिए विचारधारा भी नहीं थी। बाद में, भाषा के प्रवेश के साथ और अपनी 'कल्पनाओं' की श्रेणियों की सहायता से हम 'यथार्थ' का 'वास्तविकता' के रूप में पुनरुत्पादन करते हैं। यह सारा झमेला दरअसल यह कह रहा है कि 'काल्पनिक' मानसिक निर्मिति है, जो कि भाषा के जगत में प्रवेश के समय 'स्व' और 'अन्य' में भेद के साथ पैदा होती है; इस दौर के पहले 'स्व' और 'अन्य' एक व पूर्ण होते हैं और यह 'यथार्थ' की मंजिल होती है; इसके बाद, भाषा (विचारधारा) के माध्यम से हम 'यथार्थ' को समझने के प्रयास में उसे श्रेणीबद्ध करते हैं, उसे समझने के लिए विभेदीकृत करते हैं (जो कि दरअसल 'यथार्थ' होता ही नहीं है!) और इस प्रक्रिया में अपने लिए एक 'वास्तविकता' का निर्माण करते हैं जो कि एक निर्मिति ही होती है और यही 'प्रतीकात्मक' का आधार है! यथार्थ अज्ञेय है! और इसीलिए जैसे ही हमारा 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' इस 'यथार्थ' से टकराते हैं, वैसे ही वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और इसके साथ ही नये 'काल्पनिक' और नये 'प्रतीकात्मक' की रचना होती है, जो एक नयी 'वास्तविकता' के रूप में एक नयी निर्मिति का निर्माण करते हैं, जो कि और कुछ नहीं बल्कि 'यथार्थ' की एक छद्म प्रस्तुति ही होती है।

अब ज़रा याद करें कि बेदियू ने अपने कम्प्युनिज़्म के विचार की बात करते हुए इस लकानियन त्रयी में किसे क्या कहा है - इतिहास 'प्रतीकात्मक' का प्रतिनिधित्व करता है; कम्प्युनिज़्म का

विचार 'काल्पनिक' का प्रतिनिधित्व करता है; और राजनीति 'यथार्थ' का प्रतिनिधित्व करती है! यानी कि इतिहास भाषा और पाठ का क्षेत्र है, वास्तव में इतिहास ('ऐसा हुआ था') का कोई अस्तित्व नहीं है, यह आपकी कल्पनाओं की मदद से इतिहास की भाषाई निर्मिति है! कम्युनिज़्म का विचार कल्पनाओं का क्षेत्र है जिसमें मानवता अपनी वह "माँग" रखती है, जो कि एक आदर्श मनोगत छवि और यथार्थ के टकराव या विरोध से पैदा हुई है, और जो ठीक इसीलिए पूर्ण नहीं हो सकती; नतीजतन, इस "माँग" को शाश्वत रूप से (eternally) यथार्थ से टकराते रहना है, भंग होते रहना है और पुनर्निर्मित होते रहना है! कम्युनिज़्म के विचार की यह अनन्त यात्रा है, जिसमें अब पुरानी "माँगें" (पार्टी, राज्य, वर्ग आदि) यथार्थ से टकरा कर भंग हो चुकी हैं और अब नयी "माँगें" यथार्थ के साथ नये द्वन्द्व में निर्मित हो रही हैं और "इच्छाओं" के रूप में अपने आपको भाषा/विचारधारा में अभिव्यक्त कर रही हैं। और यथार्थ क्या है? वह समकालीन राजनीति है जिसकी संरचना को भाषा या विचारधारा में नहीं बाँधा जा सकता है; यह 'यथार्थ' भाषा-पूर्व युग की वस्तु है और भाषा में कल्पना के सहारे इसकी निर्मिति उसकी छद्म प्रस्तुति ही होगी, एक 'वास्तविकता' का निर्माण होगा! तो फिर आप राजनीति सचेतन तौर पर और योजनाबद्ध रूप में करें क्या? बेदियू का जवाब सीधा है - कुछ नहीं! यह यथार्थ स्वायत्त रूप से विकसित होना है और इसमें जो बदलाव होंगे उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, और यहीं से हम बेदियू के कुछ अन्य निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी प्रतिपादनों पर आ सकते हैं, जिसमें सबसे अहम है "इवेण्ट" की अवधारणा। बेदियू के "इवेण्ट" (घटना/संयोग) की अवधारणा के अनुसार समाज में होनेवाले सभी बदलाव **आकस्मिक** होते हैं और उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता। अब आप इस बात को बेदियू की 'यथार्थ' की अवधारणा से जोड़ सकते हैं। चूँकि यथार्थ सैद्धान्तिकीकरण से परे है (क्योंकि सैद्धान्तिकीकरण का माध्यम भाषा और पाठ है) इसलिए यथार्थ में होने वाले परिवर्तनों के बारे में भी कुछ पहले से नहीं कहा जा सकता, उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता और इन्हीं परिवर्तनों को व्याख्यायित करने के लिए "इवेण्ट" की अवधारणा बेदियू द्वारा रची गयी है। यह "इवेण्ट" ही नयी सम्भावनाओं को जन्म देता है, लेकिन "इवेण्ट" का होना संयोग या इत्तेफ़ाक की बात है, इसलिए आमूलगामी सामाजिक परिवर्तन की पूरी परियोजना ही बेदियू द्वारा संयोग के क्षेत्र में धकेल दी गयी है। इसमें सचेतन योजना और राजनीति का स्थान नहीं है या अगर है तो वह एक निष्प्रभावी स्वतःस्फूर्ततावादी उपस्थिति है। और इस तरह से क्रान्ति या कहें कि परिवर्तन से हर प्रकार का अभिकरण छीन लिया गया है। क्योंकि किसी सचेतन अभिकर्ता की आवश्यकता ही नहीं है! इसी निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद की मदद के लिए एक अन्य सैद्धान्तिकीकरण जो बेदियू यहाँ प्रस्तुत करते हैं वह है उनका "सबटैक्शन" (व्यवकलन) का सिद्धान्त। इसके अनुसार आज कम्युनिज़्म का लक्ष्य राज्य का विलोपीकरण नहीं है (क्योंकि यह एक असीमित, अपरिमित प्रक्रिया है!), बल्कि "राज्य से दूरी बनाये रखने की राजनीति" है - जो किसी भी राज्य में किसी भी

रूप में सम्मिलित होने को नकारती है। "सबट्रैक्शन" के अपने सैद्धान्तिकीकरण के ज़रिये एक बार फिर बेदियू सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा पर हमला करते हैं और दरअसल क्रान्ति करने के सिद्धान्त पर ही हमला बोलते हैं।

"कम्युनिज़्म" की अपनी परिकल्पना और विचार के नाम पर बेदियू मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं और क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को खारिज करने का काम करते हैं। वह अतीत के सभी समाजवादी प्रयोगों पर "विफलता", "त्रासदी" और "आपदा" का लेबल तो चस्पाँ कर देते हैं, जो कि बेदियू के लिए आकाशवाणी-समान सत्य है, लेकिन न तो उन प्रयोगों का कोई आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करते हैं और न ही सामाजिक परिवर्तन का अपना कोई सकारात्मक मॉडल पेश करते हैं। इस पूरे उत्तरमार्क्सवादी उपक्रम का असली मक़सद है अति-आमूलगामी शब्दावली में आमूलगामिता की हर सम्भावना या समझदारी पर चोट की जाये और इसीलिए उनके हर सिद्धान्त का असल निशान मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी कोर अन्तर्वस्तु यानी कि वर्ग, राज्य, और पार्टी का सिद्धान्त है।

## 'कम्युनिज़्म एक्सकॉण्डिटस' या स्लावोय जिज़ेक के निठल्ले, निष्क्रिय, नुक़सानदेह सैद्धान्तिकीकरण का नया उदाहरण

दार्शनिकों ने  
 दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है  
 पर सवाल उसको बदलने का है,  
 मानता हूँ  
 मेरे लिए मगर मुमकिन नहीं रह गया है,  
 बदलना इसे।  
 इसलिए अब मैं  
 सलाहकार बन गया हूँ  
 दुनिया बदलने वालों का  
 आओ दुनिया बदलने वालो!  
 मेरे अनुभव का लाभ उठाओ,  
 अन्यथा बदलते रह जाओगे  
 नहीं बदलेगी यह दुनिया।

- **कात्यायनी** (दुनिया को बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-2)

स्लावोय जिज़ेक का ज़िक्र आम तौर पर अन्तरराष्ट्रीय वाम के 'सुपरस्टार' दार्शनिक के रूप में होता है। वह अपनी फैशनेबल उत्तर-मार्क्सवादी, लकानियन, हेगोलियन अभिव्यक्ति शैली के कारण भी काफ़ी प्रचलित हैं। समकालीन पूँजीवादी सांस्कृतिक परिदृश्य पर उनकी टिप्पणियों या आलोचना को देखें, तो बेशक कई अन्तर्दृष्टियाँ मिलती हैं, और इस मायने में, एक सांस्कृतिक

समालोचक (cultural critic) के रूप में, जिज्ञेक उम्दा भूमिका निभा रहे हैं। लेकिन इसके अलावा, उनके ज़्यादातर सैद्धान्तिकीकरणों की वास्तविक अर्न्तवस्तु में नयापन बस नाम के लिए ही है। जिज्ञेक के पास एक सशक्त रूप है, जिसका वह कुशलता के साथ इस्तेमाल करते हैं। लेकिन वह इसका इस्तेमाल ऐसी बातें कहने में करते हैं, जो आमतौर पर सैद्धान्तिक रूप से बेहद दरिद्र, कई बार तथ्यात्मक तौर पर ग़लत, और ख़राब क्रिस्म के सार-संग्रहवाद की मिसालें होती हैं। आलेख के इस भाग में हम स्लावोय जिज्ञेक के राजनीतिक-विचारधारात्मक सैद्धान्तिकीकरणों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे और उनकी पड़ताल करेंगे। साथ ही, हमारा ध्यान मुख्य तौर पर इस बात पर होगा कि जिज्ञेक अपने तमाम (मार्क्सवाद से ज़्यादा!) रैडिकल दावों के बाद अन्त में क्या सकारात्मक प्रस्ताव हमारे सामने रखते हैं।

स्लावोय जिज्ञेक के चिन्तन और रचना कर्म की एक ख़ास विशेषता है उनके चिन्तन और लेखन में किसी भी संगति और सामंजस्य का अभाव। 1989 में अंग्रेज़ी में प्रकाशित उनकी पहली पुस्तक 'दि सब्लाइम ऑब्जेक्ट ऑफ़ आइडियॉलोजी' से लेकर पिछले वर्ष के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित 'दि इयर ऑफ़ ड्रीमिंग डेंजरसली' तक की यात्रा में जिज्ञेक ने कई विचारधारात्मक कलाबाज़ियाँ और गुलाटियाँ मारी हैं। शुरुआत में वह 'उग्रपरिवर्तनवादी जनवादी परियोजना (Radical Democratic Project) की अवस्थिति पर खड़े थे जो अब मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (जिज्ञेक के अनुसार) में तब्दील हो चुकी है। स्लावोय जिज्ञेक की पिछले डेढ़ दशकों के दौरान लिखी गयी रचनाओं को पढ़कर बरबस ही फ़ेदिन के उपन्यास 'आग्नेय वर्ष' के चरित्र त्वेत्खिन की याद आती है जो बोलशेविक क्रान्ति के दौरान व्यावहारिकता के तकाज़े से पक्ष चुन रहा था और आवश्यकतानुसार पक्ष बदल भी रहा था। वैसे जिज्ञेक के कम्युनिज़्म का यह विचार कितना मार्क्सवादी है, इसकी पड़ताल हम आगे करेंगे। जिज्ञेक के उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तन की अपनी समालोचना का दायरा हम मुख्यतः उनकी दो पुस्तकों में प्रस्तुत विचारों तक सीमित रखेंगे - 'फ़र्स्ट ऐज़ ट्रेज़डी, दैन ऐज़ फ़ार्स' और 'दि इयर ऑफ़ ड्रीमिंग डेंजरसली'। राजनीति और विशेषकर भविष्य की राजनीति से जुड़े जिज्ञेक के सैद्धान्तिकीकरण, मुख्य तौर पर इन दो पुस्तकों में उभरकर सामने आ जाते हैं। एक बात जो जिज्ञेक के लेखन में आपको आमतौर पर दिख जायेगी, वह है अपने विश्लेषण के दौरान वे बेहद बेतुकी दिखने वाली तुलनाएँ करते हैं और उनमें समानताएँ तलाशने की लॉटरी खेलते हैं। मिसाल के तौर पर, जिज्ञेक अगर कीर्केगार्द, मार्क्स और हेनरिख हाइने की तुलना करें तो आपको अचम्भित नहीं होना चाहिए। वह ऐसी तुलनाओं के ज़रिये जो करते हैं, वह और कुछ नहीं बल्कि ऐसी सामान्य परिघटनाओं का जटिल प्रस्तुतिकरण है, जिन्हें अन्य विचारकों, विशेष तौर पर मार्क्सवादी विचारकों, ने पहले ही सही ढंग से व्याख्यायित किया है। ऐसे प्रस्तुतिकरण के लिए वे हेगेलीय और लकाँवादी दार्शनिक और वैचारिक श्रेणियों का इस्तेमाल करते हैं। इन श्रेणियों के अतिरिक्त जिज्ञेक सार-संग्रहवादी तरीके से किसी भी प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक या समकालीन विचारक की अवधारणाओं का इस्तेमाल कर सकते हैं - ताओ, बुद्ध और प्लेटो से लेकर लॉक और देकार्त तक; काण्ट, कीर्केगार्द, अडोर्नो, वॉल्टर

बेंजामिन और हाइडेगर से लेकर देल्यूश, नेग्री, हार्ट, बेदियू और जुडिथ बटलर तक। हालाँकि, इन अवधारणाओं में आम तौर पर कुछ भी सामान्य/साझा नहीं होता। इस प्रकार के तर्क से जिज्ञेक लगातार अलग-अलग दार्शनिक व्यवस्थाओं में समानान्तर रेखाएँ खींचते रहते हैं और फिर इन समानान्तर रेखाओं का इस्तेमाल समकालीन परिदृश्य की व्याख्या करने के लिए करते हैं। इस तरीके से अलग-अलग जगहों से अलग-अलग तत्वों को अन्दाजे से जोड़ने और जोड़कर उसे अपनी समकालीनता की व्याख्या में बिठाने को हम सट्टेबाज़ दार्शनिक पद्धति (स्पेक्युलेटिव फ़िलोसॉफ़िकल मेथड) कह सकते हैं। लेकिन यह विश्लेषण अन्त में कहीं नहीं ले जाता है, और वास्तव में यह दुनिया बदलने की बात तो बहुत दूर, दुनिया की एक आंशिक तौर पर सही व्याख्या भी नहीं होती है। कुल मिलाकर, लकाँ के मनोविश्लेषण, लेवी स्ट्रॉस के उत्तरसंरचनावाद, उत्तरआधुनिकतावाद और तमाम अन्य मार्क्सवाद-विरोधी विचार-सरणियों से मिलने वाली जूठन का इस्तेमाल करते हुए इनका दर्शन अपने आपको मार्क्स से ज़्यादा रैडिकल दिखलाने का प्रयास करता है, और लगातार यह दिखाने का प्रयास करता है कि मार्क्स क्या-क्या नहीं समझ पाये और कहाँ-कहाँ वह ग़लत थे।

साथ ही एक और बात जो जिज्ञेक के चिन्तन की आभिलाक्षणिकता है वह है उनका खुद को 'लेनिनवादी' क़रार देते रहना। वह बार-बार इस बात पर शोर देते हैं कि आज लेनिन को 'दोहराये' जाने की ज़रूरत है। लेकिन जब वह इस 'दोहराव' को व्याख्यायित करते हैं तो उसमें कुछ भी लेनिनवादी नहीं होता बल्कि वे लेनिनवाद की मूल प्रस्थापनाओं को ख़ारिज करते चलते हैं। उदाहरण के लिए, 2009 में 'आइडिया ऑफ़ कम्युनिज़्म' नाम से आयोजित एक सम्मेलन में (इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं) प्रस्तुत किये गये अपने वक्तव्य 'हाउ टू बिगिन फ़्रॉम दि बिगिनिंग' में लेनिन को दोहराये जाने की बात करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के अध्याय को पूरी तरह से बन्द किये जाने की आवश्यकता है और इसलिए हमें एक "नयी शुरुआत" करनी होगी। हम देख सकते हैं कि माओ के विचारों का जैसा हस्तगतीकरण और विकृतीकरण बेदियू अपने चिन्तन में करते हैं, ठीक वही काम स्लावोय जिज्ञेक लेनिन के सन्दर्भ में करते हैं। जिज्ञेक जैसे उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों के लिए 'लेनिनवाद' जैसी अवधारणाएँ महज़ एक 'कैचवर्ड' हैं और अपने लेखन में वह जहाँ-तहाँ इसका इस्तेमाल करते चलते हैं।

अब ज़रा देखते हैं कि मार्क्सवाद से अधिक रैडिकल सिद्धान्त देने के चक्कर में जिज्ञेक किस तरह की सैद्धान्तिक कलाबाज़ियाँ दिखाते हैं। मसलन, वह दावा करते हैं कि मार्क्स का 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान' का वह प्रसिद्ध कथन, जिसमें वे उत्पादक सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों व आर्थिक आधार और अधिरचना के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में बताते हैं, वास्तव में इतिहासवाद और उद्भववाद का शिकार है। मार्क्स के इस उद्धरण को अगर आप स्वयं पढ़ें तो उसमें मार्क्स कहीं भी कोई इतिहासवादी या नियतत्ववादी बात नहीं कह रहे हैं। जो वह कह रहे हैं वह सिर्फ़ इतना है : समाज में लोग प्रभावी उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी

इच्छा से स्वतन्त्र निश्चित उत्पादन सम्बन्धों में बँधते हैं; एक दौर तक प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास को गति देते हैं, लेकिन इतिहास की एक निश्चित मंजिल पर उत्पादक शक्तियों का विकास मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के तहत सम्भव नहीं रह जाता; यहाँ से सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू होता है (इसका यह अर्थ नहीं है, कि किसी पूर्वनिर्धारित मौके पर इस युग में क्रान्ति का सम्पन्न हो जाना तय है); आगे मार्क्स बताते हैं कि कोई भी व्यवस्था उत्पादक शक्तियों के विकास के मौजूदा ढाँचे के भीतर बाधित होने से पहले नष्ट नहीं हो सकती और नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उसके लिए आवश्यक शर्तें मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही पूरी न हो गयी हों (इसका यह अर्थ नहीं है कि वे उत्पादन सम्बन्ध ही पुरानी व्यवस्था के गर्भ में पूर्णतः पैदा हो चुके हों, यहाँ मार्क्स सिर्फ अनिवार्य पूर्वशर्तों की बात कर रहे हैं); और अन्त में मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मानवता अपने लिए वही लक्ष्य निर्धारित कर सकती है, जो लक्ष्य वह वास्तव में प्राप्त कर सकती है। इसका सिर्फ इतना ही अर्थ है कि दास समाज या सामन्ती समाज के उत्पीड़ित वर्ग साम्यवादी समाज का सपना नहीं देख सके थे। लेकिन जिज्ञेक के लिए ऐसी कोई सीमा नहीं है। एक सच्चे प्रत्ययवादी-हेगेलवादी के समान वह कहते हैं कि आज के दौर में भी भावी बेहतर समाज के बारे में कोई परिकल्पना नहीं निर्मित की जानी चाहिए। उसे पूरी तरह से गोपनीयता के राज्य की वस्तु माना जाना चाहिए, जिसे जिज्ञेक 'कम्युनिज्म एक्सकॉण्डिटस' का नाम देते हैं। इसका अर्थ है कि एक ऐसा कम्युनिज्म जिसके बारे में पहले से कोई नक्शा तैयार नहीं किया जाना चाहिए। जिज्ञेक यहाँ पर एलेन बेदियू के पदचिन्हों पर ही चल रहे हैं। फ्रँक इस इतना है कि जिज्ञेक कहीं सीधे-सीधे यह नहीं कहते कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह से अप्रासंगिक हो चुकी है। लेकिन वास्तव में वह जो करते हैं वह और भी ज्यादा खतरनाक है। बेदियू अपने इरादों में स्पष्ट हैं और उनकी आलोचना अपेक्षाकृत ज्यादा आसान है। लेकिन जिज्ञेक अपनी सभी बातों को स्वयं ही काटते चलते हैं।

एक अन्य जगह पर जिज्ञेक कहते हैं कि मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की जो आलोचना की है, उसे आज दुहराने की ज़रूरत है, लेकिन कम्युनिज्म की उस यूटोपियाई समझदारी के बग़ैर जो कि मार्क्स ने प्रस्तुत की। जिज्ञेक मार्क्स द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना को न समझ पाने के कारण ही ऐसा समझते हैं कि मार्क्स की कम्युनिज्म की समझदारी यूटोपियाई और फ्रन्तासी के समान थी। कम्युनिज्म की मार्क्सवादी परियोजना कोई पूर्वकल्पित या पूर्वनिर्धारित यूटोपिया या फ्रन्तासी नहीं थी, बल्कि पूँजीवाद की वैज्ञानिक आलोचना का ही नतीजा थी। जैसा कि मार्क्स कहते थे, 'कम्युनिज्म कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे हासिल किया जाना है। यह इतिहास की वास्तविक गति है।' लेकिन जिज्ञेक के लिए इतिहास की ऐसी कोई गति नहीं होती। मार्क्स स्वयं कम्युनिस्ट समाज के एक-एक विवरण को पहले से निर्धारित करने के खिलाफ़ थे, और ऐसी किसी भी कवायद को वह अनुत्पादक मानते थे। लेकिन जिज्ञेक कम्युनिस्ट समाज के विषय में मार्क्स के कुछ भी कहने को ग़ैर-मुनासिब मानते हैं!

ज़िज़ेक कहते हैं कि मार्क्स का इतिहासवादी स्कीमा रद्द करने की ज़रूरत है और इसके लिए हमें आज के पूँजीवाद की तीन चारित्रिक अभिलाक्षणिकताओं पर नज़र डालने की ज़रूरत है। ज़िज़ेक के मुताबिक पहली सबसे प्रमुख अभिलाक्षणिकता आज की पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े से लगान (रेण्ट) की ओर संक्रमण या तब्दीली है। ज़िज़ेक यहाँ दो अर्थों में लगान की बात कर रहे हैं - साझा बौद्धिक सम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार से मिलने वाला लगान। लेकिन इस परिघटना में नया क्या है और इसकी खोज करने का दावा ज़िज़ेक क्यों कर रहे हैं, यह समझ से परे है। वास्तव में इन दोनों परिघटनाओं को मार्क्स और लेनिन दोनों ने ही अपनी रचनाओं में दर्ज किया है। वास्तव में, यह रिकार्डों का सिद्धान्त था कि लगान सम्पत्ति के एकाधिकार से नहीं बल्कि उत्पादन की अलग-अलग स्थितियों से पैदा होता है। जबकि मार्क्स और लेनिन का स्पष्ट रूप में यह मानना था कि लगान सम्पत्ति के एकाधिकार से पैदा होता है और वह अधिशेष का एक हिस्सा बनता है। इस रूप में मुनाफ़े से लगान की ओर जाने की बात करना दरअसल ज़िज़ेक के एक विभ्रम को दिखलाता है और साथ ही यह भी दिखलाता है कि सभी हेगेलीय लकानियन उत्तर-मार्क्सवादियों की तरह ही ज़िज़ेक की समझ भी राजनीतिक अर्थशास्त्र में दयनीय है।

ज़िज़ेक का दावा है कि मार्क्स ने सामान्य बुद्धि (जनरल इण्टेलेक्ट) के निजीकरण की कल्पना नहीं की थी। ज़िज़ेक का यह दावा भी ग़लत है कि मार्क्स ने कभी नहीं सोचा था कि सामान्य बुद्धि का इस पैमाने पर निजीकरण होगा। मार्क्स स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हर प्रकार के श्रम के सभी उत्पाद सामाजिक सम्पत्ति हैं और ज्ञान भी एक सामाजिक सम्पत्ति है। लेकिन पूँजीवाद श्रम के भौतिक उत्पादों और बौद्धिक उत्पादों दोनों का ही निजीकरण करता है। प्राक्-पूँजीवादी युग में सामान्य बुद्धि के विकास का जो स्तर था, उसमें ज़ाहिरा तौर पर बौद्धिक उत्पादों के निजीकरण की प्रवृत्ति कम ही होगी। जैसे-जैसे पूँजीवाद उत्पादन पद्धति आगे बढ़ी, उत्पादक शक्तियों का विकास हुआ, उत्पादकों की राजनीतिक और तकनोलॉजिकल चेतना का स्तरोनन्यन हुआ, वैसे-वैसे उत्पादन में सूचना और तकनीकी पद्धति के ज्ञान का महत्व बढ़ता गया। पूँजीपतियों के बीच की प्रतिस्पर्धा और मज़दूर वर्ग की स्वायत्त चेतना (जो बुर्जुआ वर्चस्व से सापेक्षिक रूप से मुक्त हो) के उदय के डर ने बौद्धिक सम्पदा के निजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। जहाँ तक बौद्धिक सम्पदा के नयेपन और सूचना के सर्वशक्तिशाली बन जाने का प्रश्न है, तो यह मूर्खतापूर्ण दावा है। एक कुल्हाड़ी या चक्का बनाने में भी प्राचीनकाल में सूचना की आवश्यकता होती थी। यह सच है कि सामान्य बुद्धि के स्तरोननयन के साथ सूचना की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है, लेकिन उसका निजीकरण और उसका मालकरण कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिस पर उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक इतना विस्मित हों। आलेख के अगले भाग में हम देखेंगे कि नेग्री और हार्ट भी इस परिघटना को लेकर काफ़ी चकित हैं।

उत्तर-मार्क्सवादियों के इस नये सैद्धान्तिकीकरण की मूल बात यह है कि सर्वहारा वर्ग इनके लिए अनुपस्थित हो चुका है और टटपुँजिया वर्ग परिवर्तन का नया अगुआ है। ज़िज़ेक भी एक प्रकार से इसी थीम का अनुसरण करते हैं। शारीरिक श्रम करने वालों का उदाहरण देने की ज़रूरत

होती है तो वह ज़्यादा से ज़्यादा 'फ़्लाइंग अटेंडेंट' का उदाहरण दे पाते हैं! औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का कहीं ज़िक्र भी नहीं होता। अभौतिक उत्पादन (जैसे सूचना का उत्पादन) एक उन्नत दुनिया का प्रतीक है; इसमें कोई शक़ नहीं। यह बात अलग है कि पूँजीवादी व्यवस्था में भौतिक उत्पादन निकृष्ट बन गया है, और अभौतिक उत्पादन उस पर अपना वर्चस्व और प्रभुत्व स्थापित करके बैठा हुआ है। लेकिन पूँजीवाद में सीधा क्या है? संक्षेप में कहें, तो ज़िज़ेक और उनके जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों ने सूचना पूँजीवाद के उदय के साथ आने वाले परिवर्तनों की जो समझदारी प्रस्तुत की है, वह वास्तव में मार्क्सवाद की बुनियादी श्रेणियों को रद्द करने के लिए की गयी है। इसमें तार्किक निरन्तरता की भारी कमी है, और थोड़ी ही पड़ताल पर उसका उथलापन और ओछापन सामने आ जाता है।

अब आते हैं एक नये क्रिस्म की बुर्जुआज़ी के उदय बारे में ज़िज़ेक के दावे पर। जिसे वह उत्तर-आधुनिक पूँजीवाद की दूसरी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता मानते हैं। नयी बुर्जुआज़ी की अवधारणा को वह एक लकानियन विचारक ज़्याँ क्लॉड मिलनर से उधर लेते हैं, और उसे अपने विचारधारात्मक खाँचे में फिट करते हैं। इस बुर्जुआज़ी में न सिर्फ़ डॉक्टर, इंजीनियर, आदि जैसे पेशे के लोग भी शामिल हैं, बल्कि इस वर्ग के सम्भावित उम्मीदवारों में ज़िज़ेक विश्वविद्यालय छात्रों को भी गिनाते हैं। ज़िज़ेक का यह दावा है कि इस नयी बुर्जुआज़ी के ऊपरी हिस्से नियमित स्थायी रोज़गार, बेहद ऊँचे वेतनों और विशेषाधिकारों के स्वामी हैं। जबकि निचले हिस्से वे हैं जिनके सिर पर पूँजीवाद ने अनिश्चितता की तलवार लटका रखी है। ये निचले हिस्से ही हैं, जो कि 2011 में वे "खतरनाक सपने" देख रहे थे ('ऑक्युपाई' आन्दोलन) जिनकी बात ज़िज़ेक अपनी नयी पुस्तक में करते हैं। ज़िज़ेक मानते हैं कि अरब जनउभार, ब्रिटिश छात्र-युवा आन्दोलन और निम्न वर्गों के दंगे, स्पेन और यूनान में चल रहे आन्दोलन और साथ ही 'ऑक्युपाई' आन्दोलन इन्हीं वर्गों की आकांक्षाओं की नुमाइन्दगी करते हैं। ज़िज़ेक इन आन्दोलनों को "वामपन्थी" अर्थों में क्रान्तिकारी नहीं मानते। उनका कहना है कि इन आन्दोलनों के पास कोई भविष्य दृष्टि नहीं है। लेकिन अगले ही पल ज़िज़ेक को इन आन्दोलनों में "भविष्य के चिन्ह" भी दिखलायी देते हैं। ऐसे विरोधभासों से ज़िज़ेक का पूरा लेखन कर्म भरा पड़ा है।

बेदियू की ही तरह इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ज़िज़ेक का भी है, लेकिन अपनी क्रिस्म से। वह इतिहास को पूरी तरह प्रतीकात्मक तो नहीं मानते लेकिन वह बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी विश्लेषण के एक त्रासदी मानते हैं, और इस रूप में उसे लक्षण के रूप में ही देखते हैं, जैसा कि बेदियू कहते हैं। ज़िज़ेक के लिए भी बीसवीं सदी के समाजवाद की तरफ़ एक भी दृष्टि डाले हुए भी भावी कम्युनिस्ट समाज का निर्माण हो सकता है। ज़िज़ेक ने अपनी किसी भी रचना में बीसवीं सदी के समाजवाद को, विशेषकर रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों के अनुभवों को एक बुरे अनुभव, त्रासदी या विपदा के तौर पर चित्रित करने के लिए किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण का इस्तेमाल नहीं किया है। ज़िज़ेक के लेखन में यह नतीजा आकाशवाणी के समान (axiomatic) है। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि

आज के समय में कम्युनिस्ट तब तक नया कुछ नहीं कर सकते, जब तक कि वह बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की तरफ़ देखना पूरी तरह से बन्द नहीं कर देते और यह मान नहीं लेते कि वे पूर्ण असफलता में समाप्त हुए। इस इतिहास-दृष्टि के बारे में जितना कम कहा जाये, उतना बेहतर है।

पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि आज जो पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलन हो रहे हैं वह बेहद अराजकतापूर्ण हैं और अस्त-व्यस्त (messy) हैं। लेकिन उन्हें इसी रूप में स्वीकार करने की ज़रूरत है। अस्त-व्यस्त आन्दोलनों के सैद्धान्तिकीकरण के व्यवस्थित होने की जिज्ञेक विरोध करते हैं। अगर वस्तुगत परिस्थिति में अराजकता, उथल-पुथल और अस्त-व्यस्तता है, तो इसका यह नतीजा कैसे निकाला जा सकता है उसका सैद्धान्तिक विश्लेषण भी अस्त-व्यस्त होना चाहिए? एक तरफ़ तो जिज्ञेक मौजूदा प्रतिरोध-आन्दोलनों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की हिमायत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वह उनकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि वे मौजूदा व्यवस्था का अंग हैं, और चूँकि उनके पास किसी भावी कम्युनिस्ट समाज का प्रस्ताव या विज़न नहीं है, इसलिए वे प्रगतिशील नहीं हैं, बल्कि वे उन वर्गों के आन्दोलन हैं जिन्हें अपनी विशेषाधिकर-प्राप्त सामाजिक स्थित के खोने का भय है। इसके बाद वह यह भी कहते हैं कि भावी कम्युनिज़्म के बारे में कोई विज़न या ठोस प्रस्ताव होना ही नहीं चाहिए, और हमारा प्रस्ताव होना चाहिए कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस! अब आप ही बतायें कि जिज्ञेक आखिर कहना क्या चाहते हैं? कुछ नहीं! यह सारा सैद्धान्तिक तमाशा एक निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के अलावा और कुछ नहीं है, जिसे लकानियन शोरबे और हेगेलीय मसाले के साथ छद्म-मार्क्सवादी अँगीठी पर परोसा जा रहा है। इसका कोई ऑपरेटिव पार्ट नहीं है।

हम देख सकते हैं कि छद्म-मार्क्सवादी आवरण में जिज्ञेक मार्क्सवाद की स्थापित बुनियादी प्रस्थापनाओं को खारिज करने की ही कोशिश करते हैं। भावी मुक्तिकामी परियोजना की कोई तस्वीर न तो वह पेश करते हैं न ही ऐसा करने के हिमायती हैं। वह अगर कुछ करने में सक्षम हैं तो वह है निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी और नुकसानदेह रूप से भ्रामक सैद्धान्तिकीकरण, जिसके ज़रिये वह दुनिया की एक बेहद दयनीय रूप से असफल व्याख्या ही कर पाते हैं।

## 'ऑपराइज़्मो' (मज़दूरवाद) की ज़मीन पर एण्टोनियो नेग्री-माइकल हार्ट की 'अमूर्त' 'अभौतिक', 'आकारविहीन' सैद्धान्तिकी

दार्शनिकों ने

दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है

पर सवाल उसको बदलने का है।

लेकिन हम खुद सोचेंगे

सभी सवालों पर फिर से,

नये ढंग से।

हर पुरानी चीज़ पर

सवाल उठाना हैं हमें  
जैसे कि इस कथन पर भी  
कि दार्शनिकों ने ...

- **कात्यायनी** (दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-6)

अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'एम्पायर' (2000) के फ्रांसीसी संस्करण की शुरुआत एण्टोनियो नेग्री और माइकल हार्ट इस दावे के साथ करते हैं कि इस पुस्तक के ज़रिये उन्होंने "इक्कीसवीं सदी का नया कम्युनिस्ट घोषणापत्र" लिखने की कोशिश की है। इसके अलावा नेग्री और हार्ट का यह भी मानना है कि जहाँ अन्य उत्तर-मार्क्सवादी विचारक पुरानी शब्दावली से ही काम चला रहे हैं, वहाँ इन दोनों ने नयी शब्दावली गढ़ी है। जैसे इस नयी शब्दावली के पीछे की पूरी सैद्धान्तिकी में मार्क्सवाद को छोड़कर सब कुछ मिल जाता है। इसमें आपको स्पिनोज़ा का प्रकृतिवादी यान्त्रिक भौतिकवाद मिल जायेगा; गिलेश डेल्यूश, फ़ेलिक्स ग्वातारी, मिशेल फ़ूको का उत्तर-आधुनिकतावाद मिल जायेगा; यहाँ तक कि अमेरिकी संघवादी जेम्स मैडिसन का सिद्धान्त भी आपको इनके लेखन में मिल जायेगा, साथ ही नेग्री-हार्ट की इस अजीबो-ग़रीब मिश्रण वाली उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी की जड़ में इतालवी मज़दूरवाद (ऑपराइज़्मो) की गैर-मार्क्सवादी अर्थवादी सोच है। नेग्री-हार्ट की प्रातिनिधिक रचनाओं - 'एम्पायर' (Empire, 2000), मल्टीट्यूड (Multitude, 2004), कॉमनवेल्थ (Commonwealth, 2009) के सन्दर्भ में संक्षिप्त चर्चा करते हुए हम इनके प्रमुख राजनीतिक-विचारधारात्मक सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल करेंगे। चूँकि मज़दूरवाद का इतालवी संस्करण (ऑपराइज़्मो) लेखकद्वय की सैद्धान्तिकी में एक विशेष स्थान रखता है, बल्कि यँ कहें तो इनकी पूरी उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिक अट्टालिका, मज़दूरवाद के राजनीतिक आधार पर खड़ी है, इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि एक सरसरी निगाह हम ऑपराइज़्मो की इस विशिष्ट इतालवी परिघटना पर भी डालें।

अंटोनियो (टोनी) नेग्री ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत इटली में 1950-1960 के दशक के मज़दूर आन्दोलनों में शिरकत से की। 1970 के दशक के ऑटोनोमिस्ट आन्दोलन के प्रमुख नेता और सिद्धान्तकारों में से एक रहे नेग्री रोमन कैथोलिक ग्रुप (GIAC) से भी जुड़े हुए थे। 1956 से 1963 तक इतालवी समाजवादी पार्टी के सदस्य भी रहे। पार्टी छोड़ने के बाद इतालवी ऑपराइज़्मो के जन्मदाता मारियो ट्रोण्टी के साथ जुड़े। 1950 के दशक की शुरुआत में मारियो ट्रोण्टी इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी (PCI) के सदस्य थे। पार्टी छोड़ने के बाद 1959 में वह इतालवी समाजवादी रैनिगो पांशिग्री के साथ Quadroni Rossi (Red notebook) नामक पत्रिका निकालने लगे। 1966 में उन्होंने Operai e Capitale (Workers and Capital) लिखा और 1967 में पार्टी में फिर लौट आये ताकि ऑपराइज़्मो को एक सिद्धान्त के तौर पर पार्टी के अन्दर भी लागू किया जा सके।

1968 में ओपराइस्टों (मज़दूरवादियों) के समूह में मुख्य रूप से दो मुद्दों पर फूट पड़ गयी। पहला मुद्दा था, इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का प्रभुत्व और दूसरा मुद्दा था, CGIL (General Italian Confederation of Workers) द्वारा सामाजिक संघर्षों में हस्तक्षेप एवं

मध्यस्थता की पद्धति पर ज़्यादा जोर देने की आवश्यकता को रेखांकित किया जाना। नेग्री ने 1968 में ट्रोण्टी का साथ छोड़ दिया, क्योंकि नेग्री का मानना था कि पी.सी.आई. की राजनीति अब कोई नया मोड़ नहीं ले सकती है, जबकि ट्रोण्टी एक और कोशिश करने की बात कह रहे थे। इसी समय नेग्री ने पोतेरे ओपराइया नामक ग्रुप की स्थापना की जो 1968 से 1973 तक सक्रिय रहा और 1975 में ऑटोनोमिया आन्दोलन से जुड़ गया।

इतालवी मज़दूर आन्दोलन में ऑपराइज्मो की धारा 1960 के दशक में जड़ जमाने लगी। चूँकि कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं था (इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी का संशोधनवादी और समझौता-परस्त चरित्र 1950-60 का दशक आते-आते साफ़ हो चुका था) इसलिए ऑपराइज्मो जैसी विजातीय प्रवृत्तियों को मज़दूर आन्दोलन के बीच फलने-फूलने का मौक़ा मिला। ऑपराइज्मो धारा के मुख्य सिद्धान्तकार थे - मारियो ट्राण्टी, एण्टोनियो नेग्री और पाउलो विरनो। 1960 एवं 1970 के दशक इटली की जनता में फैले भयानक असंतोष और जनउभारों के दशक हैं। तत्कालीन सरकार की आर्थिक नीतियों ने कृषि आधारित दक्षिणी इटली से औद्योगिक क्षेत्र उत्तरी इटली की ओर प्रवास की स्थिति पैदा कर दी। औद्योगिक क्षेत्र को सस्ता श्रम मिल रहा था लेकिन सरकार इतनी बड़ी जनसंख्या को शहरों में गुज़र करने के लिए अन्य सुविधाएँ देने में असमर्थ थी। इस स्थिति ने मज़दूर आन्दोलनों को जन्म दिया। ये मज़दूर आन्दोलन जल्दी ही जनता के आन्दोलनों में तब्दील हो गये। 1962 में तूरिन में फियेट (Fiat) के मज़दूरों ने बड़ी हड़ताल की। 1968 में बड़े पैमाने पर हड़तालें और हिंसात्मक घटनाएँ हुईं। इसी दौरान 1970 में विश्व पूँजीवाद मन्दी के दौर में प्रवेश कर चुका था और दुनिया भर में (फ्रांस, जर्मनी, ग्रीस आदि) जनता के आन्दोलनों का दौर शुरू हो चुका था। 1975 में इटली में ऑटोनोमिया आन्दोलन शुरू हुआ जिसमें बड़ी संख्या में मज़दूर, स्त्रियाँ, छात्रा, युवा बेरोजगार सभी शामिल थे। यह आन्दोलन स्वतःस्फूर्त और प्रतिनिधित्व-विरोधी (anti-representation) था। ओपेराइस्ट (Operaist) विचारकों ने इन आन्दोलनों से अपनी सैद्धान्तिक प्रामाणिकता प्राप्त की। इनमें लिबरटैरियन, अराजकतावादी, नव-अराजकतावादी, "विचारधारा-मुक्त" राजनीतिक कार्यक्रम यानी कि मज़दूर आन्दोलनों की हर क्रिस्म की विजातीय प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं।

मज़दूरवाद का इतालवी संस्करण ऑपराइज्मो "मज़दूर वर्ग की संरचना" में आये "बदलावों" को रेखांकित करने की बात करता है। तात्पर्य यह है कि वह सर्वहारा वर्ग को नये तरीके से परिभाषित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, दिहाड़ी मज़दूर (wage earning workers), कर्मचारी (white collar), शारीरिक श्रम करने वाले औद्योगिक मज़दूर (blue collar) और छात्र, बेरोजगार युवा, घरेलू कामगार आदि सभी इस "नये सर्वहारा" में शामिल हैं। इनमें वे सभी हैं जो यूनियन के किसी भी रूप में संगठित नहीं हैं। यह सिद्धान्त "मास वर्कर्स" के "सोशलाइज्ड वर्कर्स" में रूपान्तरण की अवधारणा देता है। यह सोशलाइज्ड वर्कर उच्च शिक्षा प्राप्त, बौद्धिक कार्यों के 'मानकीकरण' एवं 'सर्वहाराकरण' से पैदा हुआ वर्ग था। यह वर्ग अकुशल एवं शारीरिक श्रम करने वाले "मास वर्कर" से भिन्न था। नेग्री-हार्ट की 'अभौतिक श्रम' (immaterial labour) की अवधारणा का स्रोत सर्वहारा वर्ग की यही 'नयी परिभाषा' है। ऑपराइज्मो राज्य, ट्रेड यूनियन,

पार्टी या किसी भी तरह के अनुशासित राजनीतिक संगठन से मजदूर वर्ग को मुक्त रखने का हिमायती है तथा "स्वतः संगठित प्रतिरोध" को प्रधानता देता है, क्रान्ति की जगह "विप्लव" की बात करता है लेकिन "विप्लव" कब, कौन, कैसे करेगा; इसका कोई जवाब नहीं देता -

"हम क्रान्ति नहीं विप्लव की बात करते हैं : आज यह ज्यादा महत्वपूर्ण है कि पूँजी द्वारा सर्वहारा के एकजुट मोर्चे को तोड़ने के लिए ली गयी पूर्ण पहलकदमी को लगातार परास्त किया जाये" (Crisi dello stato-Piano, Negri, pg. 42)

आगे नेग्री ने लिखा है, कि लेनिन ने सर्वहारा के एकीकरण की जो प्रक्रिया बतायी है वह आधुनिक विश्व में उलट गयी है। अब पार्टी के नेतृत्व में "ऊपर से नीचे" (Top-down process) की प्रक्रिया की जगह "जन अग्रगामी समूह" (mass avant gardes) से उत्प्रेरित "नीचे से ऊपर" (bottom-up) प्रक्रिया की ज़रूरत है। यह लेनिनवादी पार्टी और हिरावल की अवधारणा को खारिज करना ही है। ऑपराइज़्मो ने एक और विचित्र क्रिस्म का सैद्धान्तिकीकरण पेश किया है। इसे अस्वीकरण के सिद्धान्त (Theory of refusal) की संज्ञा दी गयी। इसके अनुसार मजदूर वर्ग, पूँजीवादी व्यवस्था को अपना श्रम देने से इंकार और पूँजीवादी विकास में अपनी सहभागिता से इंकार करेगा। यह कैसे सम्भव होगा, ऑपराइज़्मो के सिद्धान्तकार यह बताना ज़रूरी नहीं समझते। ऑपराइज़्मो के संक्षिप्त परिचय के बाद हम नेग्री और हार्ट के सैद्धान्तिक लेखन पर बात करेंगे।

नेग्री और हार्ट की सैद्धान्तिकी पर विस्तार से बात करने से पहले सारतः कुछ बातें स्पष्ट कर देनी ज़रूरी हैं। पहली, यह कि नेग्री और हार्ट के अनुसार मार्क्सवादी सिद्धान्त एवं पद्धति पिछले 150 वर्षों, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पैदा हुए नये यथार्थ को समझने के लिए नाकाफ़ी है। मार्क्सवाद को सिरे से खारिज करते हुए लेखकद्वय का विचार है कि आज आर्थिक और सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष को एक नया रूप चुनना होगा। ऐसी नयी अवधारणाएँ खोज निकालनी होंगी जो नये यथार्थ के अनुरूप हो और बड़े पैमाने पर जनता के राजनीतिक संघर्ष की वस्तुगतता की पुनर्स्थापना करे। (यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि वह रूप कैसा होगा?) दूसरी, कि जिस प्रकार पूँजीवाद के अन्दर समाजवाद के भौतिक आधार मौजूद होते हैं उसी तरह आज इस भूमण्डलीकरण ने सामाजिक एवं आर्थिक न्याय पर आधारित एक विश्वव्यापी समाज की ज़मीन तैयार कर दी है। उत्पादन एवं श्रमिक वर्ग की संरचना में आये बदलावों ने पूँजी के उत्पीड़न और दमन के खिलाफ़ संघर्ष के नये अवसर पैदा किये हैं। ऐसे सिद्धान्त-प्रतिपादनों के द्वारा नेग्री-हार्ट पूँजीवाद साम्राज्यवाद के 'अपॉलोजिस्ट्स' की भूमिका बखूबी निभा रहे हैं। तीसरी, कि आज साम्राज्यवाद का दौर नहीं "एम्पायर" (Empire) का दौर है इसलिए देशीय या क्षेत्रीय स्तर पर संघर्ष का कोई मतलब नहीं है और सर्वहारा वर्ग जैसा कोई केन्द्रीकृत वर्ग नहीं है, बल्कि निर्गुण, निराकार "मल्टीट्यूड" है जो किसी राज्य-सत्ता के अन्तर्गत नहीं बल्कि "ग्लोबल सिटीजनशिप" के अन्तर्गत है और विप्रादेशिकृत (deterritorialized) है। चौथी, कि यह "मल्टीट्यूड" सामाजिक स्तर पर उत्पीड़ित "भूमण्डलीकृत जनसंख्या" है जो "एम्पायर" के अन्दर ही गठित हो रही है। यह मल्टीट्यूड 'एम्पायर' के खिलाफ़ परस्पर सहभागिता और सहकार के आधार पर साझा सम्पदा "कॉमन" (Common) की खोज करेगा और स्वतः ही संगठित होगा। यह बात दीगर है कि उनकी

किताब 'कॉमनवेल्थ' के दो सौ पन्ने इसी बात की असफल खोज करते हुए रंगे गये हैं कि यह 'कॉमन' अस्तित्वमान कैसे होगा! पाँचवीं, कि बीसवीं शताब्दी के तमाम क्रान्तिकारी प्रयोग गैर-जनवादी और निरंकुश शासन (Tyranny) थे इसलिए "कॉमन" की खोज करनी होगी।

अब नेग्री-हार्ट की सैद्धान्तिकी के विस्तार पर आते हैं। अपने लेखन में नेग्री और हार्ट पूँजीवाद या साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग नहीं करते बल्कि 'एम्पायर' की बात करते हैं। यह 'एम्पायर' किसी भी सीमा में नहीं बँधा हुआ है और इसका कोई केन्द्र नहीं है। यह कोई ऐतिहासिक सत्ता नहीं बल्कि निरपेक्ष सत्ता है। यहाँ नेग्री-हार्ट, डेल्यूज और ग्वातारी जैसे उत्तर-आधुनिकतावादियों से "डिटेरिओरलाइजेशन" की अवधारणा ले आते हैं जिससे उनका तात्पर्य है पूँजी और जनसंख्या का सीमातीत ग्लोबल प्रसार। उनके अनुसार यह 'एम्पायर' इतिहास की गति में कोई अवस्था नहीं है, बल्कि एक ऐसी सत्ता है जो इतिहास से बाहर है या इतिहास के अन्त पर है। यह मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को ही संचालित नहीं करता है बल्कि मानव प्रकृति को भी शासित करता है और समाज में गहरायी तक व्याप्त है। इस प्रकार यह 'बायोपॉवर' (जैवशक्ति) का पैराडाइम रचता है। 'बायोपॉवर' की यह अवधारणा फूको की दी हुई है जिसके अनुसार 'बायोपॉवर' आधुनिक राष्ट्र-राज्य (Nation State) और पूँजीवाद द्वारा "बॉडीज़" (Bodies) को अधीन करके जनसंख्या पर नियन्त्रण रखता है। यहाँ फूको व्यक्ति को एक जैविक सत्ता के रूप में "बॉडी" का नाम देता है। अब आइये इस पूरे बौद्धिक-सैद्धान्तिक गड़बड़झाले की पड़ताल करते हैं।

'डिटेरिओरलाइजेशन' की इस अवधारणा में इसके नाम के अलावा कुछ भी नया नहीं है। विस्तार और प्रसार तो पूँजी की चारित्रिक विशेषता है और नैसर्गिक गति है। बिना स्वयं को प्रसारित किये वह अपना अस्तित्व नहीं बचा सकती। इसलिए भूमण्डलीकरण के दौर में वह अपने वैश्विक प्रसार से सभी बाधों को हटाते जाती है ताकि वित्तीय पूँजी एवं माल का आगमन-निगमन सुगम बनाया जा सके। इस यथार्थ का सैद्धान्तिकीकरण मार्क्सवाद ने ही किया था। फैशनेबल नाम देकर उत्तर-मार्क्सवादी इसे अपना आविष्कार बताने पर तुले हुए हैं। जहाँ तक मिशेल फूको के "बायोपावर" और "बायोपॉलिटिक्स" जैसी अवधारणाओं का प्रश्न है तो यह सत्ता की अपराजेयता को ही रेखांकित करने के लिए गढ़ी गयी है। यह उसी पुरानी फूकोल्डियन उत्तर-आधुनिकतावादी सैद्धान्तिकी का विस्तार मात्रा है कि सत्ता पोर-पोर में समायी हुई है और इसलिए सत्ता का सामूहिक प्रतिरोध व्यर्थ है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत्ता का सामूहिक प्रतिरोध हर-हमेशा स्वयं सत्ता की संरचनाओं को जन्म देगा इसलिए इस प्रतिरोध को वैयक्तिक और निजता की जगत में हर प्रकार के सार्वभौमिक और मानक को तोड़ कर किया जाना चाहिए।

बकौल नेग्री-हार्ट "एम्पायर" के अंदर एक ऐसी प्रतिरोधी ताकत पैदा हो रही है जो इसे परास्त करेगी। वह ताकत है "मल्टीट्यूड"। यह "मल्टीट्यूड" उनके लिए वर्ग का स्थानापन्न है। इसकी अवधारणा को विकसित करते हुए लेखकद्वय "श्रम की संरचना" में आये "बदलावों" की ओर इंगित करते हैं और "अभौतिक श्रम" (Immaterial labor) की एक नयी अवधारणा देते हैं। उनके अनुसार बीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में औद्योगिक श्रम का वर्चस्व खत्म हो गया और इसकी जगह "अभौतिक श्रम" स्थापित हो गया। यह अभौतिक श्रम ज्ञान, सूचना, संचार,

रिलेशनशिप, भावनात्मक संप्रेषण आदि उत्पादित करता है। यानी सेवा क्षेत्र, बौद्धिक श्रम और संज्ञानात्मक श्रम "अभौतिक श्रम" हैं। इस अभौतिक श्रम के द्वारा जो उत्पादन पैदा होता है यह "बायोपोलिटिकल उत्पादन" है। बायोपोलिटिकल इसलिए कि यह विचार, इमेज, संकेत उत्पादित करता है। यह उत्पादन स्वायत्त है और इसे मापा नहीं जा सकता है। यही बायोपोलिटिकल उत्पादन 'मल्टीट्यूड' को परस्पर सहभागिता एवं सहकार की ओर ले जायेगा।

क्रान्तिकारी वर्ग राजनीति को खारिज करते हुए वे कहते हैं कि, क्रान्तिकारी वर्ग राजनीति का उद्देश्य बस सभी को सार्वभौम रूप से दो वर्गों - बुर्जुआ और सर्वहारा में बाँट देना है और इसलिए सामाजिक समानता पर आधारित संरचना पैदा कर पाने में वह असमर्थ है। आज चूँकि अलग-अलग अस्मिताओं और "सिंग्युलैरिटी" का सवाल अहम है इसलिए इस तरह की राजनीति अप्रासंगिक है। आज सिर्फ़ "गैर-क्रान्तिकारी परियोजनाएँ" ही मज़दूरों की अस्मिताओं की रक्षा कर सकती हैं। यह और कुछ नहीं बल्कि वही पुराना उत्तर आधुनिकतावादी राग है जो अस्मितावादी राजनीति की बात करता है। अब चूँकि क्षेत्र, जाति, भाषा, नस्ल, धर्म की विभिन्नताएँ मौजूद हैं इसलिए इन्हें एक ही चीज़ है जो समाहित कर सकती है, वह है परम "उदार" "मल्टीट्यूड" जो "एकता में अनेकता" का मॉडल देता है।

नेग्री व हार्ट आगे बताते हैं कि अब राजनीतिक संघर्ष 'निष्क्रमण' (Exodus) के रूप में होगा। मल्टीट्यूड समय के साथ परिपक्व होगा और इस अवस्था में पहुँचेगा कि "बायोपोलिटिकल उत्पादन" में पैदा हुए श्रम की स्वायत्तता के बल पर खुद को "एम्पायर" से अलग कर लेगा। (Commonwealth, पृ. 153) दरअसल इस "एक्सोडस" की जड़ें ऑपराइज़्मो के "अस्वीकरण सिद्धान्त" में हैं। लेकिन इतना सारा "अहम कार्य" मल्टीट्यूड करेगा कैसे? अब श्रीमान नेग्री-हार्ट को तो पार्टी और हिरावल जैसी अवधारणाओं से परहेज़ है, क्योंकि इस तरह के संगठन "अस्मिता" का हनन कर देते हैं इसलिए सहभागिता, स्वायत्तता और "नेटवर्क संगठन" (Network Organisation) ही उसे संगठित करेंगे। अब आपको नेग्री और हार्ट बारहवीं शताब्दी में ले जाते हैं और एक "सोशल वर्कर" की अवधारणा देते हैं। यह सोशल वर्कर 12वीं शताब्दी के इतालवी कैथोलिक उपदेशक सेंट फ्रांसिस ऑफ़ असीसी का चोगा पहनकर आदर्शवादी रूप में "ड्यूटी" और "अनुशासन" से काम करते हुए "नेटवर्क संगठन" बनायेगा। बकौल नेग्री-हार्ट सेंट फ्रांसिस ही "भविष्य की राजनीति को रास्ता दिखायेंगे" (Empire, p. 413)। तो नेग्री-हार्ट द्वारा प्रस्तावित मुक्तिकामी राजनीति के मॉडल - एक कैथोलिक धर्म गुरु हैं। अब आप देख सकते हैं कि इन सट्टेबाज़ दार्शनिकों का धुरीविहीन चिन्तन इन्हें कहाँ ले आया - सीधे धर्म की गोद में!

अब ज़रा बीसवीं शताब्दी के समाजवादी प्रयोगों और समाजवादी संक्रमण पर नेग्री-हार्ट की "मौलिक" प्रस्थापनाओं पर भी एक सरसरी निगाह दौड़ाई जाये। बकौल नेग्री-हार्ट समाजवादी संक्रमण "बायोपोलिटिकल इकोनॉमी" को नियन्त्रित करने में अक्षम है। आज उत्पादन औद्योगिक नहीं रहा बायोपोलिटिकल (अभौतिक) हो गया है इसलिए समाजवाद की प्रासंगिकता खत्म हो गयी है। हालाँकि बीसवीं शताब्दी में एक शक्तिशाली आर्थिक मॉडल दिया गया लेकिन यह समझना आवश्यक है कि समाजवाद और पूँजीवाद कभी भी परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि समाजवाद

पूँजीवादी उत्पादन के राज्य द्वारा प्रबन्धन का दौर है। यह चूँकि औद्योगिक पूँजी के प्रोत्साहन और विनियमन के लिए काम करता है इसलिए श्रम के अनुशासन की एक ऐसी सत्ता कायम करता है जो सरकार एवं नौकरशहाना संस्थाओं के द्वारा चलायी जाती है (Commonwealth, पृ. 269, 361, 362)। चूँकि समाजवाद औद्योगिक पूँजी के "पैराडाइम" से निकलता नहीं इसलिए सारी क्रान्तियाँ विफल हो गयीं! वे आगे कहते हैं कि सोवियत यूनियन के अन्तिम दशकों में सामाजिक उत्पादन की आन्तरिक गतिकी और इसके राह की बाधाओं को देखना पड़ेगा। 1960 से 1980 के दशकों में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक वातावरण विकसित हो रहा था जिसे समाजवादी व्यवस्था द्वारा दबाने की कोशिश की गयी। चूँकि इस रचनात्मकता की राह में बाधा खड़ी की गयी इसलिए स्थिरता की स्थिति बन गयी और उस दौरान हो रहा बायोपोलिटिकल उत्पादन दबकर रह गया।

तो बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की यह बचकानी आलोचना नेग्री-हार्ट पेश करते हैं! इसे आलोचना कहना भी आलोचना शब्द का मज़ाक उड़ाना होगा! एक तो यह तथ्यात्मक रूप से भी गलत है। 1960 से 1980 के दशक जिसे नेग्री-हार्ट समाजवादी काल मान रहे हैं, वह तो समाजवाद का दौर था ही नहीं। दूसरे "बायोपॉलिटिकल इकॉनमी" यानी की सूचना के उत्पादन (अभौतिक उत्पादन) की सम्भावनासम्पन्नता के प्रति इन विचारकों में एक प्रकार का फ्रेटिश (अन्धभक्ति) है। एक बात जो ये 'चिन्तक' नज़रअन्दाज कर जाते हैं वह यह कि उत्पादन में सूचना का कितना भी महत्व हो जाये (और ऐसा कब नहीं था), भौतिक उत्पादन का महत्व और उसकी मानव जीवन के लिए अनिवार्यता किसी भी सूरत में कम नहीं हो सकती। अभौतिक उत्पादन करने वालों को भोजन, मकान, कपड़े व अन्य भौतिक वस्तुओं की ज़रूरत होगी, और इनके मिलने के बाद ही वह अभौतिक उत्पादन कर सकता है। साथ ही, आज सिर्फ़ संख्यात्मक तौर पर भी देखा जाये तो भौतिक उत्पादन करने वालों की तादाद अभौतिक उत्पादन करने वालों से कहीं ज़्यादा है। लेकिन भौतिक और अभौतिक उत्पादन के बीच इस प्रकार का बँटवारा ही अवैज्ञानिक और अतार्किक है।

इनकी पूरी सैद्धान्तिकी का सार-संक्षेप करे तो नेग्री और हार्ट जिस अभौतिक उत्पादन, अभौतिक श्रम और अभौतिक पूँजीवाद की बात करते हैं, जिसके अनुसार आज पूँजीवादी विश्व में सूचना प्रमुख और प्रभावी उत्पाद/माल बन चुकी है, और इसके उत्पादन में लगी श्रमशक्ति प्रमुख श्रम शक्ति बन चुकी है, वह इसीलिए गढ़ा गया है कि सर्वहारा वर्ग की परिभाषा को प्रदूषित किया जा सके। एक अभौतिक पूँजीवाद के नाश के लिए वह एक आकृतिविहीन आकारविहीन मल्टीट्यूड की कल्पना करते हैं। यह मल्टीट्यूड एक उतने ही आकारविहीन और आकृतिविहीन क्रिस्म के शासकों के समूह (एम्पायर) का तख्तापलट कर, कॉमन्स (साझा-सम्पदा) को निजी कब्जे से मुक्त करायेगा। इनकी सैद्धान्तिकी में पूँजीवाद एक अवैयक्तिक (इम्पर्सनल) शक्ति बन जाता है, प्रतिरोध एक अमूर्त चीज़ बन जाती है और प्रतिरोध करने वाले भी आकृतिविहीन वस्तु बन जाते हैं। यह पूरी अवधारणा बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों, जैसे कि वर्ग की अवधारणा,

निजी सम्पत्ति और पूँजी की अवधारणा, पार्टी और राज्य की अवधारणा आदि पर हमला करने के लिए ही गढ़ी गयी है।

## अर्नेस्टो लाक्लाऊ और चैण्टल माउफ़ की 'उग्रपरिवर्तनवादी जनवाद' की अवधारणा : उत्तर-आधुनिकतावादी अस्मितावादी राजनीति की एक और सैद्धान्तिकी

दार्शनिकों ने

दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है

पर सवाल उसको बदलने का है,

लेकिन मुकम्मिल तौर पर

बदलना इस दुनिया को

मेरे बूते की बात नहीं।

इसलिए मैं पैबन्द लगाता हूँ।

- **कात्यायनी** (दुनिया को बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-4)

आज उत्तर-मार्क्सवादी 'दार्शनिकों' की नयी खेप (बेदियू, जिज़ेक, नेग्री-हार्ट आदि) के अवतरित होने के साथ अर्नेस्टो लाक्लाऊ और चैण्टल माउफ़ के सैद्धान्तिकीकरण बौद्धिक जगत से थोड़े 'आउटडेटेड' हो गये हैं। क्या करें, आजकल इनसे भी ज्यादा 'रैडिकल' और गर्मागर्म जुमलों का इस्तेमाल करने वाले "चिन्तकों" के "चिन्तनों" का बाज़ार गर्म है! लेकिन 1985 जब 'हेजेमनी एण्ड सोशलिस्ट स्ट्रैटजी : टुवर्ड्स ए रैडिकल डेमोक्रेटिक स्ट्रैटजी : टुवर्ड्स ए रैडिकल डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स' प्रकाशित हुई थी तब इसे राजनीतिक सिद्धान्त की मार्क्सवादी परम्परा में एक "ब्रेकथ्रू" रचना के तौर पर देखा जा रहा था क्योंकि यह "मरणासन्न, जड़, कठमुल्लावादी" मार्क्सवादी सिद्धान्त से उत्तर-संरचनावादी, "उत्तर-मार्क्सवादी" दर्शन की तरफ़ संक्रमण का संकेत दे रही थी। इस मायने में लाक्लाऊ-माउफ़ को उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी के जन्मदाता के तौर पर भी देखा जा सकता है। हालाँकि, आज इनका रचनाकर्म अकादमिक दायरों में उतनी हलचल नहीं पैदा कर पा रहा है, लेकिन आज तक जिज़ेक जैसे अधिक फैशनेबल उत्तर-मार्क्सवादी, लाक्लाऊ-माउफ़ की कई अवधारणाओं की बुनियाद पर ही अपने नित-नये सैद्धान्तिकीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

लाक्लाऊ और माउफ़, अपनी उक्त पुस्तक में क्रान्तिकारी सम्भावना की हर बात को खारिज करते हुए "उग्रपरिवर्तनवादी" सुधारवादी परियोजनाओं को हाथ में लेने की हिमायत करते हैं। इनका मानना है कि 'कठमुल्लावादी' मार्क्सवाद को उसके 'सारभूतवादी' (essentialist) तत्वों (यानी की वर्ग की अवधारणा, क्रान्तिकारी परिवर्तन की अवधारणा, हिरावल के रूप में पार्टी

की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा) से निजात दिलाने के लिए समकालीन उत्तर-आधुनिकतावादी, उत्तर-संरचनावादी दर्शन के सैद्धान्तिक उपकरणों का इस्तेमाल करना पड़ेगा। साथ ही ज़ाक लकाँ, मिशेल फूको, रोलाँ बार्थ, ज़ाक देरिदा जैसे दार्शनिकों से भी काफ़ी कुछ सीखना होगा। मार्क्सवादी सिद्धान्त में अन्तर्निहित 'आर्थिक नियतत्ववाद' (economic determinism) को इसी तरह से दुरुस्त किया जा सकता है।

लाक्लाऊ और माउफ़ भी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी विचारकों का अपनी उत्तर-मार्क्सवादी राजनीति के हिसाब से विनियोजन करने में पीछे नहीं रहते। यहाँ इन्होंने अपना निशाना ग्राम्शी को बनाया है। हालाँकि यह सिर्फ़ ग्राम्शी के सिद्धान्तों के हस्तगतीकरण तक नहीं रुकते बल्कि उससे भी आगे जाने की बात करते हैं! वैसे इसमें भी कुछ नया नहीं है! बेदियू माओ से भी आगे निकलकर उत्तर-माओवादी हो गये, जिज़ेक लेनिन से भी आगे निकलकर उत्तर-लेनिनवादी हो गये, लाक्लाऊ और माउफ़ ग्राम्शी से आगे निकलकर उत्तर-ग्राम्शीवादी हो गये! और यह सभी मिलकर, मार्क्सवाद की हदों को लाँघकर, मार्क्सवाद से भी अधिक रैडिकल विचारधारा की खोज करते हुए, उत्तर-मार्क्सवादी हो गये हैं!

अपने 'उग्रपरिवर्तनवादी जनवाद' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लाक्लाऊ और माउफ़ कहते हैं कि यह किसी 'एक राजनीतिक स्पेस' की बात नहीं करता बल्कि 'जनवादी संघर्षों' की खोज "राजनीतिक 'स्पेस' की बहुलता" में यक्रीन करता है। और यहाँ पर लाक्लाऊ और माउफ़ अपनी अस्मितावादी राजनीति की अवधारणा को लाते हैं। वर्ग-आधारित एकजुटता और तदजनित संघर्ष एक क्रिस्म की एकाशमीयता और सार्वभौमिकता का निर्माण करते हैं। चूँकि हर क्रिस्म की सार्वभौमिकता और सामान्यता दमनकारी होती है इसलिए आज के 'रैडिकल जनवाद' की परियोजना को नये सामाजिक आन्दोलनों - जैसे कि पर्यावरण, शान्ति से जुड़े आन्दोलनों, नारीवादी आन्दोलन, समलैंगिकों के आन्दोलन आदि को अपने दायरे में लाना होगा। भारत में कुछ बौद्धिकतावादी मार्क्सवादियों ने लाक्लाऊ और माउफ़ के इस सिद्धान्त को भारत के परिप्रेक्ष्य में जाति, जेण्डर, आदिवासियों आदि के संघर्ष पर लागू किया है और इस थीसिस तक गये हैं कि अब वर्ग संघर्ष अपने क्लासिकीय रूपों में नहीं होगा, बल्कि इन पहचानों के संघर्ष के रूप में होगा; या अब क्लासिकीय वर्ग संघर्ष तमाम 'जनवादी संघर्षों' में से एक होगा, जिनमें जाति, जेण्डर आदि के संघर्ष भी शामिल होंगे और वर्ग संघर्ष पर अलग से बल देना नियतत्ववाद होगा। अब तक यह स्पष्ट हो चुका है लाक्लाऊ-माउफ़ का राजनीतिक एजेण्डा वाक़ई में उत्तर-आधुनिकतावादी, अस्मितावादी राजनीति का एजेण्डा ही है। इनके लिए वर्ग-आधारित राजनीति अतीत की बात है। आज इसका दौर बीत चुका है। आज के दौर में सुधारवाद के ज़रिये, पैबन्दसाज़ी के ज़रिये पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही 'रैडिकल जनवादी' स्पेस बनाया जा सकता है, इसलिए इनके अनुसार क्रान्तिकारी परिवर्तन की, सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्ति की कोई ज़रूरत नहीं रह गयी है। यही इनके सिद्धान्त की मूल अन्तर्वस्तु है।

## अन्त में...

इस पूरी चर्चा के बाद हम स्पष्ट तौर पर यह कह सकते हैं कि उत्तर-मार्क्सवाद के अलग-अलग 'शेड्स' के 'सिद्धान्तकारों' की भाँति-भाँति की सैद्धान्तिकियों का मकसद मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर हमला करना है। सही मायनों में कहें, तो उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रत्यक्ष हमलों के चुक जाने के बाद उत्तर-आधुनिकतावाद का विरोध करने की नौटंकी करते हुए, इन तमाम सट्टेबाज़ उत्तर-मार्क्सवादी दार्शनिकों के धुरी-विहीन चिन्तन और दार्शनिक खानाबदोशी का वास्तविक निशाना एक बार फिर मार्क्सवाद ही है। इनके शब्द अलग हैं; उत्तर-आधुनिकतावाद जिस बेशर्मी के साथ पूँजीवाद की अन्तिम विजय, कोई विकल्प न होने, पहचान की राजनीति के समर्थन, आदि की बात करता था, अब वैसा करना असम्भव है और किसी के लिए ऐसा करना अपना मज़ाक उड़वाने जैसा होगा। इसलिए इन नये दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष तौर पर पूँजीवाद-विरोध की भाव-भंगिमा अपनायी है और पूँजीवाद की ये लोग एक "नये क्रिस्म की आलोचना" करते हैं। आज के ज़माने में पूँजीवाद के खिलाफ़ आम जनता सड़कों पर उतर रही है। यह 1990 का दौर नहीं है जब दुनिया भर में पस्ती और निराशा छायी हुई थी। उस समय उत्तर-आधुनिकतावाद नंगे तौर पर 'अन्त' की घोषणाएँ कर सकता था। अब कोई भी विचारधारा जो ऐसा प्रयास करेगी, उसके हथ्र का अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए पूँजीवादी बौद्धिक तन्त्र ने अपनी सहज गति से नये क्रिस्म के "दार्शनिकों" को पैदा किया है जिसमें से किसी को 'मोस्ट एण्टरटेनिंग थिंकर', 'ग्रेटेस्ट लिविंग थिंकर' आदि कहा जा रहा है तो किसी को 'मोस्ट इनोवेटिव थिंकर ऑफ़ जेनरेशन' और पता नहीं क्या-क्या कहा जा रहा है। लेकिन जैसा कि हमने देखा, इन नये "दार्शनिकों" का निशाना भी वही है जो कि 1990 के दशक और 2000 के दशक की शुरुआत में उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त आदि का था - मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु। आज इन तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों दार्शनिकों की दार्शनिक आवारागर्दी की कठोर आलोचना की ज़रूरत है और इनके विचारों के वास्तविक मार्क्सवाद-विरोधी चरित्र को साफ़ करने की ज़रूरत है। यह समझने की ज़रूरत है कि शब्दों के सारे खेल और बाज़ीगरी के पीछे इनका इरादा और मकसद क्या है।

ट्रम्प का यरुशलम दाँव  
अमेरिकी साम्राज्यवाद की  
बौखलाहट की निशानी

• आनन्द सिंह

यूरोपीय संघ और अरब जगत के अपने सहयोगियों की चेतावनी के बावजूद अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने गुजरे 6 दिसम्बर को यरुशलम को इजरायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने की घोषणा कर दी। यह घोषणा करते हुए ट्रम्प ने खुद की पीठ थपथपाते हुए कहा कि वह ऐसा क़दम उठाने जा रहा है जिसे उठाने का साहस अब तक अमेरिका का कोई भी राष्ट्रपति नहीं कर सका था। गौरतलब है कि 1995 में अमेरिका कांग्रेस ने 'यरुशलम एम्बेसी एक्ट' पारित किया था जिसके तहत इजरायल में अमेरिका के दूतावास को यरुशलम स्थानान्तरित करने का प्रावधान था। परन्तु इसके गम्भीर निहितार्थ को देखते हुए उसके बाद से सभी अमेरिकी राष्ट्रपति इस फ़ैसले को टालते आ रहे थे। ट्रम्प ने यह फ़ैसला ऐसे समय लिया है जिस समय जहाँ एक ओर अमेरिका के भीतर घरेलू मोर्चे पर फिसड्डीपन की वजह से ट्रम्प की लोकप्रियता दिनो-दिन कम होती जा रही है वहीं दूसरी ओर सीरिया में असद सरकार को गिराने में अमेरिकी साम्राज्यवाद की विफलता और समूचे मध्यपूर्व में रूस-ईरान-सीरिया-हिजबुल्ला धुरी का पलड़ा भारी होने की वजह से अमेरिकी साम्राज्यवादी खेमे में उहापोह की स्थिति बनी हुई है। ऐसे में यरुशलम को इजरायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने का दाँव अमेरिकी साम्राज्यवाद की बौखलाहट की ही अभिव्यक्ति

है। इस फ़ैसले के गहरे निहितार्थों के मद्देनज़र इसके पीछे के कारणों को समझना बेहद ज़रूरी है।

## यरुशलम सम्बन्धित विवाद : एक पश्चदृष्टि

गौरतलब है कि 1948 में इज़रायल नामक राष्ट्र के जन्मकाल के समय से ही यरुशलम शहर की स्थिति को लेकर चल रहा विवाद फ़िलिस्तीन के प्रश्न का एक अहम पहलू रहा है। 1947 की संयुक्त राष्ट्र की योजना में भी यरुशलम के प्रशासन को एक विशेष अन्तरराष्ट्रीय संस्था के हवाले करने का प्रावधान था जिसे अरब देशों ने ख़ारिज कर दिया था। 1948 में इज़रायल की स्थापना की घोषणा के फ़ौरन बाद इज़रायल और अरब देशों के बीच करीब 10 महीने तक युद्ध की स्थिति बनी रही जिसके बाद संयुक्त राष्ट्र की मध्यस्थता में युद्धविराम की संधि पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार यरुशलम के पश्चिमी हिस्से पर इज़रायल का अधिकार हो गया जबकि पूर्वी यरुशलम जॉर्डन के नियन्त्रण में रहा।

गौरतलब है कि पूर्वी यरुशलम इस्लाम, यहूदी और ईसाई तीनों की धर्मों के अनुयायियों द्वारा अपने-अपने धर्म का पवित्र स्थल माना जाता है। पूर्वी यरुशलम में ही पुराने शहर का वह हिस्सा आता है जिसमें 'हरम-अल-शरीफ़' मस्जिद स्थित है जो अरब के लोगों के लिए सबसे पवित्र स्थानों में से एक मानी जाती है। यहूदी लोग इस परिसर को 'टेम्पल माउण्ट' कहते हैं। इसी परिसर में अल-अक्सा मस्जिद भी स्थित है जिसे इस्लाम की तीसरी सबसे पवित्र मस्जिद के रूप में मान्यता प्राप्त है। 1967 के अरब-इज़रायल युद्ध के बाद पूर्वी यरुशलम का हिस्सा भी इज़रायली क़ब्ज़े में आ गया। हालाँकि इस क़ब्ज़े को अब तक अन्तरराष्ट्रीय मान्यता नहीं मिली है क्योंकि जेनेवा कन्वेंशन के मुताबिक़ युद्ध के ज़रिये क़ब्ज़ा किये गये भूक्षेत्र की स्थिति सैन्य क़ब्ज़े की होती है। अभी दिसम्बर 2016 में ही संयुक्त राष्ट्र में एक प्रस्ताव पारित किया गया था जिसमें यह साफ़ लिखा था कि फ़िलिस्तीन का भूक्षेत्र इज़रायली सैन्य क़ब्ज़े में है। फ़िलिस्तीन के लोगों का पूर्वी यरुशलम से गहरा भावनात्मक लगाव है और वे उसे भविष्य के स्वतन्त्र और एकजुट फ़िलिस्तीन राज्य की राजधानी के रूप में देखते हैं। यरुशलम की विवादित स्थिति के मद्देनज़र ही 1978 के कैम्प डेविड समझौते और 1993 के ओस्लो समझौते में भी यरुशलम की स्थिति को भविष्य में फ़ैसलाकुन बातचीत के लिए टाल दिया गया था। गौरतलब है कि वर्ष 2000 में दूसरे इन्तिफ़ादा की चिंगारी उस समय के इज़रायल के विपक्षी नेता और पूर्व राष्ट्रपति एरियल शैरोन द्वारा 'टेम्पल माउण्ट' के परिसर में प्रवेश करने के बाद ही भड़की थी।

गौर करने की बात यह भी है 1995 में 'यरुशलम एम्बैसी एक्ट' पारित करने के बाद अमेरिकी कांग्रेस ने 2002 में एक बार फिर इज़रायल में अमेरिकी दूतावास को यरुशलम में स्थानान्तरित करने और यरुशलम में पैदा हुए अमेरिकियों के पासपोर्ट में जन्मस्थान के रूप में इज़रायल का नाम डालने से सम्बन्धित एक विधेयक पारित किया था। लेकिन दक्षिणपन्थी अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज डब्ल्यू. बुश भी उसे लागू नहीं कर सका था। ट्रम्प के मौजूदा फ़ैसले से पहले तक अमेरिका की आधिकारिक अवस्थिति यह रही थी कि यरुशलम की स्थिति शान्ति प्रक्रिया के तहत इज़रायलियों

और फ़िलिस्तीनियों के बीच बातचीत के ज़रिये तय होनी चाहिए। इसलिए निश्चित रूप से यह अमेरिकी विदेश नीति में एक बड़ा क़दम है जिसके बाद से मध्यपूर्व में शान्ति स्थापित करने के उसके तमाम दावों की असलियत सबके सामने उजागर हो गयी है।

## ट्रम्प के फ़ैसले के पीछे के कारण

यरुशलम को इज़रायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने के अमेरिकी फ़ैसले के पीछे के कारणों और निहितार्थों को समझने के लिए पश्चिमी एशिया के क्षेत्र के तेल व गैस संसाधनों पर नियन्त्रण करने और समूचे क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए दो साम्राज्यवादी धुरियों - अमेरिका के नेतृत्व में अरब देशों और इज़रायल की धुरी और रूस के नेतृत्व में ईरान-सीरिया-हिज़बुल्ला धुरी - के बीच चल रही होड़ में वर्तमान रणनीतिक शक्ति सन्तुलन को समझना ज़रूरी है। गौरतलब है कि 2011 से सीरिया में जारी गृहयुद्ध में दखल देकर बशर अल-असद की सरकार को गिराने का अमेरिकी साम्राज्यवाद का दाँव उल्टा पड़ता नज़र आ रहा है। इस प्रक्रिया में खड़ा किया गया इस्लामिक स्टेट नामक भस्मासुर अपने आका को ही काट खाने पर आमादा हो गया है। अमेरिका की इस रणनीतिक विफलता का मुख्य कारण रूसी साम्राज्यवाद का सीरिया के पक्ष में खुले रूप में उतरना रहा है जिसकी वजह से असद सरकार अपने पैरों पर फिर से खड़ी होने में कामयाब होती दिख रही है।

सीरिया के अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में भी अमेरिका के सहयोगी अरब देशों का पलड़ा हल्का होता दिख रहा है और ईरान का दबदबा बढ़ता दिखायी दे रहा है। हाल के वर्षों में इराक़ और यमन में ईरान का प्रभाव बढ़ा है जिसकी वजह से सऊदी अरब और ईरान के रिश्ते भी दिन-ब-दिन बिगड़ते गये हैं। गौरतलब है कि पिछले साल सऊदी अरब ने शियाओं के एक धर्मगुरु को मौत के घाट उतार दिया था और ईरान के साथ अपने कूटनीतिक रिश्ते तोड़ लिए थे। उधर लेबनॉन की संसद व सरकार और खासकर देश के दक्षिणी हिस्से में भी ईरान के सहयोगी हिज़बुल्ला का नियन्त्रण दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। हाल ही में लेबनॉन के प्रधानमन्त्री साद अल-हरीरी ने सऊदी अरब के दौरे के दौरान रियाद से ही अचानक इस्तीफ़ा दे दिया। अल-हरीरी के अनुसार उसकी जिन्दगी ख़तरे में थी क्योंकि लेबनॉन में हिज़बुल्ला ने राज्य के भीतर राज्य बना लिया है और पूरे देश को अपने चंगुल में ले लिया है। उसने यह भी कहा कि अरब के मामलों में ईरान की दखलन्दाज़ी बढ़ती जा रही है। अरब देशों और ईरान-हिज़बुल्ला के बीच तनाव तब और बढ़ गया जब सऊदी अरब और बहरीन ने लेबनॉन से अपने नागरिकों को वापस बुला लिया।

मध्य-पूर्व में ईरान के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए सऊदी अरब और इज़रायल के बीच क़रीबी भी बढ़ती जा रही है। सऊदी अरब के नये शहजादे मोहम्मद बिन सलमान ने इज़रायल से अपने रिश्तों को और प्रगाढ़ करने के संकेत दिये हैं। इस नये शहजादे को ट्रम्प प्रशासन का पूरा सहयोग मिल रहा है। हाल ही में ट्रम्प ने सऊदी अरब का दौरा किया और रियाद से उसका विमान सीधे तेल अवीव गया जोकि अभूतपूर्व था। हालाँकि 1970 के दशक से ही अमेरिका की अगुवाई में

अरब देशों और इजरायल के बीच सम्बन्ध प्रगाढ़ होते आये हैं, लेकिन अमेरिका के किसी भी अन्य राष्ट्रपति की तुलना में ट्रम्प इन सम्बन्धों को कहीं ज्यादा खुले रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। हाल ही में ट्रम्प ने ओबामा प्रशासन द्वारा ईरान के साथ किये गये नाभिकीय समझौते को रद्दी की टोकरी में फेंकने का भी फैसला किया।

ट्रम्प के यरुशलम सम्बन्धी फैसले को उपरोक्त समीकरणों की रोशनी में ही देखा जाना चाहिए। हालाँकि अपने भाषण में ट्रम्प ने मध्य-पूर्व में शान्ति प्रक्रिया जारी रखने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का दम भरा, लेकिन इजरायल के पक्ष में इस अभूतपूर्व घोषणा से यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो गया है कि अमेरिका का इरादा मध्य-पूर्व में स्थिरता या शान्ति फैलाना नहीं बल्कि अस्थिरता और अशान्ति फैलाकर इस क्षेत्र में अपनी दखल बढ़ाने का है। इसके अतिरिक्त इस घोषणा के जरिये ट्रम्प अमेरिका की घरेलू राजनीति में अपनी लोकप्रियता के घटने के मद्देनजर अपने दक्षिणपन्थी और रूढ़िवादी सामाजिक आधार को सुदृढ़ करने की फ़िराक़ में भी है। गौरतलब है कि ट्रम्प ने अपने चुनाव प्रचार के दौरान भी यरुशलम को इजरायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने का वायदा किया था। अमेरिका में रूढ़िवादी ईसाइयों का अच्छा-खासा हिस्सा ऐसा है जो 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में दी गयी कहानी को सच मानता है। इन 'इवेंजेलिकलों' को बाइबल की इस "जगत के अन्त (end of days)" भविष्यवाणी में शब्दशः भरोसा है कि यरुशलम पर यहूदियों का कब्जा होने के बाद सभ्यताओं की एक जंग छिड़ेगी जिसमें यहूदियों को ईसाइयत या मौत में से एक को चुनना होगा। वे यीशू के दूसरी बार धरती पर आने की भविष्यवाणी (second coming of Christ) को भी सच मानते हैं और यरुशलम पर इजरायल के नियन्त्रण को उसका संकेत मानते हैं। इन धुर दक्षिणपन्थी रूढ़िवादियों ने ट्रम्प की घोषणा का दिल खोलकर स्वागत किया। इनमें जुआघर चलाने वाला एक अरबपति शेल्डन अडेल्सन भी शामिल है जिसने ट्रम्प के चुनाव में बीस मिलियन अमेरिकी डॉलर का चन्दा दिया था और जो इजरायल में अमेरिकी दूतावास को यरुशलम में स्थानान्तरित करने के लिए लॉबी करता आया है। इसके अतिरिक्त 'अमेरिकन इजरायल पब्लिक अफेयर्स कमेटी' जैसी जायनवादी लॉबियाँ भी लंबे समय से यह माँग करती आयी हैं।

## ट्रम्प के यरुशलम दाँव के निहितार्थ

मध्य-पूर्व के भूराजनीतिक समीकरणों को देखते हुए यह समझना मुश्किल नहीं है कि ट्रम्प के फैसले के बाद पहले से अस्थिर रहे इस क्षेत्र की अस्थिरता और खून-खराबे में निश्चय ही बढ़ोतरी होगी। इस घोषणा के बाद फ़िलिस्तीन के प्रश्न के बहुचर्चित 'दो राज्यों वाले समाधान (two-state solution)' का कोई मतलब नहीं रह गया है क्योंकि पूर्वी यरुशलम की स्थिति ऐसे किसी समाधान का अहम अंग थी। शान्ति के पैरोकार के रूप में अमेरिका की छवि इस क्षेत्र में पहले ही संदिग्ध थी, नंगे रूप में इजरायल के पक्ष में की गयी इस घोषणा के बाद उसकी रही-सही साख़ पर भी बड़ा लग गया है और उसकी तटस्थता का सारा ढोंग उजागर हो गया है। राष्ट्रपति

बनने के बाद ट्रम्प ने अपने युवा और अनुभवहीन दामाद जेर्ड कुशनर को मध्य-पूर्व की शान्ति प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी सौंपी थी। रिपोर्टों के मुताबिक कुशनर एक बेहद सीमित सम्प्रभुता वाले फ़िलिस्तीनी राज्य के फॉर्मूले पर काम कर रहा है। अभी हाल ही में ट्रम्प प्रशासन ने वाशिंगटन डीसी में फ़िलिस्तीन मुक्ति संगठन का कार्यालय बन्द करने की धमकी दी थी जिससे स्पष्ट है कि अमेरिका धौंसपट्टी के ज़रिये फ़िलिस्तीनियों को घुटने के बल झुकाना चाहता है। महमूद अब्बास के नेतृत्व वाला फ़तह धड़ा भले ही ऐसे सीमित फ़िलिस्तीनी राज्य को स्वीकार कर ले लेकिन फ़िलिस्तीन के अवाम को ऐसा कोई भी समाधान स्वीकार्य नहीं होगा। वैसे भी अब्बास की मौक़ापरस्ती और फ़िलिस्तीनी प्राधिकरण में व्याप्त भ्रष्टाचार की वजह से फ़तह की लोकप्रियता दिनोदिन कम होती जा रही है और उसका सामाजिक आधार खिसकता जा रहा है। ट्रम्प की घोषणा के बाद अब्बास के पास भी फ़िलिस्तीन के आवाम को किसी शान्ति फॉर्मूले के लिए तैयार करने का कोई आधार नहीं बचा है।

अरब जगत के हुक्मरानों ने ट्रम्प की घोषणा के विरोध में बयान जारी किये और इस्लामिक सहयोग संगठन की आपात बैठक बुलाकर इस घोषणा की मुखालफ़त की और पूर्वी यरुशलम को फ़िलिस्तीन की राजधानी के रूप में मंजूरी देते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। लेकिन अरब जगत के किसी भी देश ने अमेरिका या इज़रायल के खिलाफ़ कोई सख़्त कूटनीतिक क़दम उठाने की हिम्मत नहीं दिखायी। उल्टे बहरीन की सरकार ने इस घोषणा के बाद ही एक बहुधर्मीय प्रतिनिधिमण्डल को इज़रायल की यात्रा की अनुमति दे दी।

हुक्मरानों के जबानी जमा खर्च के बावजूद अरब जगत की जनता के बीच इन हुक्मरानों की अमेरिकापरस्ती और इज़रायल की ओर झुकाव की वजह से जो गुस्सा था वह इस फ़ैसले के बाद फूट पड़ा। जैसाकि उम्मीद थी फ़िलिस्तीन सहित समूचे अरब जगत की सड़कों पर जनाक्रोश देखा गया। ग़ौरतलब है कि यह जनाक्रोश न सिर्फ़ अमेरिका और इज़रायल के खिलाफ़ था बल्कि अरब के हुक्मरानों के खिलाफ़ भी था जिन्होंने फ़िलिस्तीन के मसले पर इज़रायल के खिलाफ़ कोई सख़्त कार्रवाई करने के बजाय उससे अपनी क़रीबी बढ़ायी है।

यरुशलम के मसले पर अब तक भारत की अवस्थिति यह रहती थी कि वह पूर्वी यरुशलम को स्वतन्त्र फ़िलिस्तीनी राज्य की राजधानी के रूप में मान्यता देने का पक्षधर था। लेकिन ट्रम्प की घोषणा के बाद भारत सरकार की ओर से जो औपचारिक बयान जारी किया गया उसमें अपनी इस पुरानी अवस्थिति को नहीं दोहराया गया। स्पष्ट रूप से यह भारतीय शासकों के इज़रायल की ओर झुकाव और फ़िलिस्तीन से विश्वासघात का एक और प्रमाण है। फिर भी, अमेरिका द्वारा अपना दूतावास यरुशलम ले जाने के फ़ैसले पर 21 दिसम्बर 2017 को संयुक्त राष्ट्र में हुए मतदान में भारत ने 127 अन्य देशों के साथ विरोध में मत दिया जिससे अमेरिका पूरी तरह अलग-थलग पड़ गया। इसका एक प्रमुख कारण अरब देशों में भारत के आर्थिक हितों की चिन्ता थी। उल्लेखनीय है कि मतदान से पहले अरब राजनयिकों का प्रतिनिधिमण्डल भारतीय राजनयिकों से मिला था। हालाँकि, मोदी के सत्ता में आने के बाद इज़रायल की ओर भारत के बढ़ते झुकाव में महज़ इस

वोट से कोई कमी आयेगी, ऐसा नहीं लगता।

ट्रम्प प्रशासन द्वारा बौखलाहट में आकर उठाये गये इस क़दम का लाभ अन्ततः रूस की ओर झुकाव रखने वाली ईरान-सीरिया-हिज़बुल्ला धुरी को ही होगा क्योंकि इससे अमेरिका की ओर झुकाव रखने वाले अरब देशों धुरी का फ़िलिस्तीन के प्रश्न पर विश्वासघात की वजह से उनका सामाजिक आधार और कम होने वाला है। इसने ईरान को अरब की जनता के बीच फ़िलिस्तीन के मसले पर अरब देशों के विश्वासघात को उजागर करने और अपनी प्रतिबद्धता रेखांकित करने का मौक़ा दे दिया है। मध्य-पूर्व में ईरान के बढ़ते प्रभाव से अमेरिका की बौखलाहट की एक और अभिव्यक्ति संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका की राजदूत निक्की हेली द्वारा 15 दिसम्बर की एक प्रेस कांफ़्रेंस में देखने में आयी जिसमें उसने ईरान पर आरोप लगाया कि उसने यमन के हूती विद्रोहियों को बैलिस्टिक मिसाइल की आपूर्ति की है। हेली ने ईरान के ख़िलाफ़ एक अन्तरराष्ट्रीय गठबन्धन बनाने का आह्वान किया। ज़ाहिर है कि ईरान की धुरी का बढ़ता प्रभाव अमेरिकी साम्राज्यवादियों की बौखलाहट को और बढ़ायेगा जिसकी वजह से आने वाले दिनों में उनकी आक्रामकता और बढ़ने वाली है जिसका खामियाज़ा इस क्षेत्र की जनता को ही उठाना पड़ेगा। लेकिन साथ ही साथ इससे समूचे अरब जगत में जनविद्रोहों की आग को भी हवा मिलेगी और फ़िलिस्तीन के प्रश्न का ज़्यादा से ज़्यादा अन्तरराष्ट्रीयकरण होने से फ़िलिस्तीनी अवाम के बहादुराना संघर्ष को मिल रहे वैश्विक समर्थन में भी इज़ाफ़ा होगा।

## चीन : एक उभरती हुई साम्राज्यवादी ताक़त और उसके निहितार्थ

• आनन्द सिंह

14-15 मई 2017 को चीन की राजधानी बीजिंग में सम्पन्न 'वन बेल्ट वन रोड' शिखर सम्मेलन में 29 देशों के राष्ट्राध्यक्षों और 130 देशों के व्यावसायिक प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने विश्व के मुक्त व्यापार में चीन की नैतिक और व्यावहारिक नेतृत्वकारी क्षमता का दावा किया। विश्व मीडिया में इस सम्मेलन की व्यापक कवरेज हुई और तमाम बुर्जुआ विश्लेषकों ने भी इसे विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था में चीन के बढ़ते वर्चस्व के रूप में प्रस्तुत किया। इससे पहले जनवरी में डावोस में वर्ल्ड इकोनॉमिक फ़ोरम की बैठक में भी शी जिनपिंग ने अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प की संरक्षणवादी नीतियों के मद्देनज़र चीन को भूमण्डलीकरण के दौर में विश्व पूँजीवाद की रहनुमाई करने का दावा ठोंका था। नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में विश्व-पूँजीवाद की रहनुमाई करने की चीनी हुक्मरानों की आकांक्षा का भौतिक कारण हाल के वर्षों में चीन का उभरती हुई साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में विश्वपटल पर उपस्थिति दर्ज़ कराना है। ऐसे में मात्र तीन दशकों के भीतर एक समाजवादी राष्ट्र के एक उभरते हुए साम्राज्यवादी राष्ट्र में हुए इस संक्रमण की प्रक्रिया और उसके निहितार्थ को समझना बेहद ज़रूरी हो जाता है।

चीन में माओ की मृत्यु के पश्चात 1970 के दशक के अन्त तक पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो चुकी थी। पुनर्स्थापना की इस प्रक्रिया को देड सियाओ-पेड ने तथाकथित "बाज़ार समाजवाद" के ज़रिये औपचारिक स्वरूप दिया। इस प्रक्रिया के तहत गाँवों में पुराने सामूहिक फार्मों की व्यवस्था को समाप्त करके पारिवारिक फार्मों को मंजूरी दी गयी जो बाज़ार के लिए पैदा करते थे। इसी तरह ग्रामीण क्षेत्रों में कस्बा और गाँव उद्यम स्थापित किये गये जो बाज़ार के लिए हल्के-फुल्के औद्योगिक माल बनाते थे। लाखों की संख्या में राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों को बन्द किया गया और इन उद्यमों में काम करने वाले लाखों मज़दूरों को निकाल दिया गया। इसके अतिरिक्त दक्षिण में पर्ल नदी के डेल्टा क्षेत्र (हांगकांग और मकाओ से लगे), फुजिआन प्रदेश (ताइवान के निकट) और शंघाई में नये निर्यातोन्मुख औद्योगिक क्षेत्र स्थापित किये गये। इसकी वजह से पहले हांगकांग में रहने वाले चीनी लोगों और बाद में बड़ी पश्चिमी, जापानी और कोरियाई कम्पनियों की ओर से बड़े पैमाने पर विदेशी निवेश आना मुमकिन हुआ। ऐसे क्रदमों से चीनी विशेषता वाले पूँजीवाद का विकास हुआ जिसके चलते 1980 से लेकर 2014 तक चीन की अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर अभूतपूर्व तेज़ी से बढ़ी।

## विश्व अर्थव्यवस्था में चीन की अर्थव्यवस्था की वर्तमान स्थिति

चीन की अर्थव्यवस्था इस समय नॉमिनल जीडीपी के अनुसार अमेरिका के बाद दुनिया में दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है जिसका नॉमिनल जीडीपी 10 ट्रिलियन डॉलर से भी अधिक है जोकि विश्व की तीसरी व चौथी अर्थव्यवस्थाओं - जापान व जर्मनी - के जीडीपी के योग से भी अधिक है।

चूँकि दुनिया के तमाम देशों में जीवन स्तर और मुद्राओं का मूल्य अलग होता है, इसलिए विश्व अर्थव्यवस्था में किसी देश की वास्तविक स्थिति जानने के लिए उस देश के जीडीपी के अतिरिक्त उसकी मुद्रा के मूल्य को भी ध्यान में रखना चाहिए। परचेज़िंग पॉवर पैरिटी (पीपीपी) ऐसा ही एक मापदण्ड है जिसके अनुसार चीन की अर्थव्यवस्था पहले ही दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन चुकी है।<sup>[1]</sup> 1990 में विश्व अर्थव्यवस्था में चीन की अर्थव्यवस्था की हिस्सेदारी 2 प्रतिशत से भी कम थी जोकि 2014 में बढ़कर 13 प्रतिशत हो गयी।<sup>[2]</sup> इस समय दुनिया के 80 प्रतिशत एयरकंडीशनर, 70 प्रतिशत मोबाइल फ़ोन और 60 प्रतिशत जूते चीन में बनते हैं।<sup>[3]</sup> विश्व बैंक के डेटा के अनुसार वैश्विक कपड़ा निर्यात में चीन की हिस्सेदारी 40 प्रतिशत से भी ऊपर है। मैनुफ़ैक्चरिंग सेक्टर, जिसे पूँजीवादी मूल्य उत्पादन का सबसे प्रमुख क्षेत्र माना जाता है, में चीन दुनिया का अग्रणी देश बन चुका है। इस प्रकार चीन ने मैनुफ़ैक्चरिंग में 110 वर्षों से चले आ रहे अमेरिका के नेतृत्व को पछाड़ दिया है। दुनिया के कुल कच्चे स्टील के उत्पादन का लगभग आधा हिस्सा चीन का है। मार्क्सवादी भूगोलशास्त्री डेविड हार्वी ने यह दिखाया है कि वर्ष 2011 और 2013 के बीच चीन में सीमेण्ट की जितनी खपत हुई वह अमेरिका द्वारा समूची बीसवीं सदी में सीमेण्ट की कुल खपत का डेढ़ गुना है। इसके अतिरिक्त खदान व सेवा क्षेत्रों में भी चीन ने हाल

के दशकों में तेजी से विकास किया है। आज दुनिया की कुल आर्थिक वृद्धि का 30 प्रतिशत चीन की बढ़ती है।

'फोर्ब्स' पत्रिका द्वारा हर वर्ष जारी दुनिया की शीर्ष की 2000 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर आधारित एक अध्ययन में क्रिश्चियन फुक्स ने यह दिखाया है कि किस प्रकार 2004 और 2014 के बीच संख्या, परिसम्पत्ति और मुनाफ़े के लिहाज़ से अमेरिकी (व यूरोपीय) कम्पनियों की तुलना में चीनी कम्पनियों की ताक़त आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी है।

	2004	2014
शीर्ष की 2000 कम्पनियों में चीन की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ	49	207
शीर्ष की 2000 कम्पनियों में अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ	751	563
चीन की परिसम्पत्तियों का हिस्सा	1.1%	13.7%
चीन के मुनाफ़े का हिस्सा	3.6%	14.3%
उत्तरी अमेरिका और यूरोप की परिसम्पत्तियों का हिस्सा	77.4%	63.1%
उत्तरी अमेरिका और यूरोप के मुनाफ़े का हिस्सा	82.9%	61.7%

ऐसे तमाम आँकड़े दिये जा सकते हैं जो यह निर्विवाद रूप से साबित करते हैं कि चीन दुनिया की अग्रणी पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं की क़तार में तमाम पुराने साम्राज्यवादी देशों को मात दे रहा है।

## चीन की अर्थव्यवस्था में इज़ारेदारी का विकास और बढ़ता वित्तीयकरण

समाजवादी अतीत की वजह से 1970 के दशक के अन्त में चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना होने के बावजूद 1990 तक चीन की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक उपक्रमों का ही दबदबा था। लेकिन 1990 के दशक से निजीकरण की प्रक्रिया के ज़ोर पकड़ने की वजह से चीन की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका क्रमशः कम से कम होती गयी है। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों में भी निजी कम्पनियों जैसा ही तानाशाहाना प्रबन्धन काम करता है। आज हालात ये हैं कि चीन का अधिकांश उत्पादन निजी क्षेत्र में होता है, हालाँकि अभी भी सार्वजनिक उपक्रम चीन की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सार्वजनिक कंपनियाँ भी निजी कम्पनियों की ही तरह मुनाफ़े के आधार पर काम करती हैं और उनको होने वाला मुनाफ़ा सरकार को न जाकर सार्वजनिक कम्पनियों के लिए विशेष रूप से निर्मित फ़ण्ड में जाता है। इस प्रकार चीन की अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी विकास के साथ ही साथ सार्वजनिक और निजी दोनों ही क्षेत्रों में इज़ारेदारी का विकास हुआ है।

चीन की अर्थव्यवस्था में इज़ारेदारी का आलम यह है कि दुनिया की 2000 सबसे बड़ी और

सबसे ताक़तवर कम्पनियों की सूची फ़ोर्ब्स ग्लोबल 2000 में चीन अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर है। इस सूची में 565 कम्पनियाँ अमेरिका की हैं, जबकि 263 कम्पनियाँ चीन की हैं। फ़ॉर्च्यून ग्लोबल 500 सूची में 100 से भी अधिक कम्पनियाँ चीन की हैं, जबकि 2001 में इस सूची में केवल 12 चीनी कंपनियाँ थीं।<sup>[4]</sup> इनमें से दो-तिहाई से भी अधिक कम्पनियाँ सार्वजनिक क्षेत्र की हैं। दुनिया के दस सबसे बड़े बैंकों में चार बैंक चीन के हैं। यह तथ्य विश्व वित्तीय बाज़ार में चीन के बढ़ते दबदबे की ओर इशारा करता है। औद्योगिक पूँजी और बैंकिंग पूँजी के विलय से चीन में भी वित्तीय पूँजी का एक विराट साम्राज्य खड़ा हुआ है जिसकी अहमियत चीन की अर्थव्यवस्था में समय बीतने के साथ बढ़ती ही जा रही है। अधिकांश बैंक और बीमा कम्पनियाँ अभी भी राज्य के स्वामित्व में हैं। इस प्रकार चीन में एक विशिष्ट क्रिस्म का राज्य एकाधिकार पूँजीवाद का निर्माण हुआ है।

## पूँजी का निर्यात

पूँजी के निर्यात के मामले में भी चीन की अर्थव्यवस्था ने पिछले कुछ वर्षों में ज़बरदस्त विकास किया है जो उसके उभरते हुए साम्राज्यवादी शक्ति का संकेत है। चीन का पूँजी निर्यात उत्पादक निवेश (कारखानों, सड़कों, बन्दरगाहों आदि के निर्माण के लिए) और वित्तीय पूँजी (बॉण्ड, क्रज़ आदि) दोनों ही रूपों में हो रहा है। पिछले तीन दशकों में उत्पादन के क्षेत्र में तेज़ी से बढ़ते पूँजी संचय के फलस्वरूप चीन में वित्तीय पूँजी का एक विशाल भण्डार एकत्र हुआ है जिसका एक सूचक वहाँ का विपुल विदेश मुद्रा भण्डार है। जहाँ वर्ष 2000 में यह भण्डार 1.65 बिलियन डॉलर था, वहीं अब यह बढ़कर 4 ट्रिलियन डॉलर के आसपास जा पहुँचा है। इस विदेशी मुद्रा भण्डार का बड़ा हिस्सा अमेरिका और यूरोप के तमाम देशों में ट्रेजरी बॉण्ड की खरीदारी में लगा है। इन ट्रेजरी बॉण्डों में निवेश की वजह से चीन अमेरिकी सरकार का सबसे बड़ा विदेशी ऋणदाता बन चुका है।

साम्राज्यवादी मुल्कों में वित्तीय पूँजी लगाने के अतिरिक्त चीन अपने देश में मेहनतकशों के शोषण से संचित अपार पूँजी का लाभ उठाते हुए विकासशील या अल्पविकसित देशों में भी विकास क्रज़ के रूप में वित्तीय पूँजी का निर्यात कर रहा है। तीसरी दुनिया के देशों को क्रज़ देने के मामले में चीन विश्व बैंक को भी पीछे छोड़ चुका है। 16 जनवरी 2016 को चीन के नेतृत्व में एशियन इंफ्रास्ट्रक्चर इन्वेस्टमेण्ट बैंक (एआईआईबी) की शुरुआत हुई जिसका मुख्यालय बीजिंग में है। यह एक बहुपक्षीय विकास बैंक है जिसका विशेष मैडेट एशिया में इंफ्रास्ट्रक्चर का विकास करना है। 100 बिलियन डॉलर के पेडअप कैपिटल वाले इस बैंक में 50 बिलियन डॉलर का योगदान अकेले चीन ने किया है। यह बैंक शुरुआती पाँच से छह वर्षों में प्रतिवर्ष 10-15 बिलियन डॉलर का क्रज़ देगा। एआईआईबी की शुरुआत के अतिरिक्त चीन पिछले वर्ष यूरोपियन बैंक फ़ॉर रीकंस्ट्रक्शन एंड डेवलपमेण्ट (ईबीआरडी) के 67वें सदस्य के रूप में शामिल हुआ। जहाँ एआईआईबी एशिया में इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए फ़ण्डिंग पर ध्यान केंद्रित करेगा वहीं ईबीआरडी मुख्य तौर पर पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया के कुछ क्षेत्रों में इंफ्रास्ट्रक्चर

विकास पर जोर देगा। इसके अतिरिक्त ब्रिक्स देशों द्वारा निर्मित ब्रिक्स बैंक या न्यू डेवलपमेण्ट बैंक (एनडीबी) की स्थापना में भी चीन की अग्रणी भूमिका रही है। एआईआईबी, ईबीआरडी और एनडीबी में चीन की अग्रणी भूमिका तथाकथित 'ब्रेटनवुड बहनों', वर्ल्ड बैंक और आईएमएफ के वर्चस्व में कमी और विश्व वित्तीय तन्त्र में बुनियादी बदलावों की ओर इंगित करती है। चीन पहले ही तीसरी दुनिया के देशों को ऋण देने के मामले में पश्चिमी साम्राज्यवादियों को पीछे छोड़ चुका है। गौरतलब है कि चीनी बैंकों द्वारा दिये गये ऋण पर ब्याज की दर अन्य अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋण पर ब्याज की दर से अमूमन अधिक होती है। उदाहरण के लिए श्रीलंका ने चीन से अरबों डॉलर का ऋण लिया है। श्रीलंका का कुल राष्ट्रीय ऋण 64.9 बिलियन डॉलर है जिसमें से चीन से लिये गये ऋण का हिस्सा 8 बिलियन डॉलर है जो बेहद उच्च ब्याज दर से लिया गया ऋण है। उदाहरण के लिए श्रीलंका के हम्बनटोटा बन्दरगाह के निर्माण के लिए वहाँ की सरकार ने चीन से 6.3 प्रतिशत की ब्याज दर पर 301 मिलियन डॉलर का ऋण लिया है जबकि विश्वबैंक और एशियाई विकास बैंक द्वारा 0.25 से 3 प्रतिशत की ब्याज दर पर ऋण दिये जाते हैं। श्रीलंका की अर्थव्यवस्था में मन्दी की वजह से श्रीलंका की सरकार चीन से लिये गये ऋण का भुगतान नहीं कर पा रही है जिसकी वजह से श्रीलंका की सरकार ने इस ऋण को ईक्विटी में बदलने का फैसला किया है। इसकी परिणति उस परियोजना में चीन के मालिकाने के रूप में भी हो सकती है। यही नहीं श्रीलंका की सरकार ने चीन की कम्पनियों को हम्बनटोटा बन्दरगाह के कुल शेयर का 80 प्रतिशत और समूचे बन्दरगाह को 99 साल के पट्टे पर भी देने का फैसला किया है। इसी प्रकार चीन की कम्पनियों को श्रीलंका के मट्टला हवाई अड्डे के परिचालन और प्रबन्धन का पूरा नियन्त्रण दे दिया गया है। गौरतलब है कि मट्टला हवाई अड्डे का निर्माण श्रीलंका की सरकार ने चीन से 300-400 मिलियन डॉलर का ऋण लेकर किया था। चूँकि अब श्रीलंका की सरकार इस हवाई अड्डे के परिचालन व परिवहन में लगने वाला खर्च वहन नहीं कर पा रही है इसलिए उसने चीन की कम्पनियों को नियन्त्रण सौंप दिया है।

2007 में शुरू हुई मौजूदा विश्वव्यापी महामन्दी के पहले से ही चीन ने 'गो ग्लोबल' ('दुनिया की ओर जाओ') नीति के तहत अपनी अर्थव्यवस्था को सस्ते मालों के निर्यात वाली अर्थव्यवस्था से पूँजी निर्यात वाली अर्थव्यवस्था की ओर मोड़ना शुरू कर दिया था। महामन्दी के बाद से तो इस दिशा में वह अभूतपूर्व तेजी के साथ आगे बढ़ा है। वर्ष 2011 में चीन ने कुल 4-6 खरब डॉलर की पूँजी निर्यात की थी। यह बात भी सच है कि चीन की अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी का आयात भी बड़े पैमाने पर होता है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से चीन का पूँजी निर्यात पूँजी आयात के मुक़ाबले कहीं तेजी से बढ़ा है और आज चीन नेट पूँजी निर्यातक देश बन चुका है।

आज चीन पश्चिमी विकसित मुल्कों से लेकर एशिया, अफ्रीका एवं लातिन अमेरिका के देशों सहित दुनिया के कोने-कोने में अपनी पूँजी लगा रहा है। चीन की कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर अमेरिका की कई कम्पनियों में निवेश कर रही हैं और तमाम कम्पनियों को खरीद भी रही हैं जिससे अमेरिकी पूँजीपति सकते में आ गये हैं। ऑस्ट्रेलिया में चीन ने खनन, तेल, गैस व अन्य

प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में बड़े पैमाने पर निवेश किया है और हाल के वर्षों में उसने खाद्य, एग्रीबिज़नेस, रियल स्टेट, नवीकरणीय ऊर्जा, हाई टेक एवं वित्तीय सेवाओं में भी निवेश करना शुरू किया है। इसी तरह से कनाडा में भी चीन तेल, गैस व खनन में बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। ब्राजील में चीन का निवेश मुख्य रूप से ऊर्जा एवं धातु उद्योग में हो रहा है। इसी तरह से लातिन अमेरिका के अन्य मुल्कों जैसे पेरू, अर्जेण्टीना, इक्वाडोर आदि में चीन ऊर्जा एवं अवरचनागत क्षेत्र में पूँजी लगा रहा है। अपने पड़ोसी मुल्क वियतनाम में चीन लकड़ी, रबर, खाद्य फसलों एवं खनिज सम्पदा के दोहन में बेतहाशा निवेश कर रहा है और वहाँ से मालों को ढोकर चीन लाने के लिए बड़े पैमाने पर सड़कों एवं रेलमार्ग के विकास में निवेश कर रहा है। इसी तरह चीन हिन्दचीन एवं दक्षिण पूर्वी एशिया के मुल्कों में भी बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। दक्षिण एशिया में नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका में भी चीन पूँजी निवेश कर रहा है। नेपाल में चीन पूँजी निवेश के मामले में भारत को भी पीछे छोड़ चुका है। यही नहीं चीन ने भारत की 'मेक-इन-इण्डिया' स्कीम का लाभ उठाते हुए इसे भारत में पूँजी निर्यात के अवसर के रूप में हाथोहाथ लिया है।

अफ्रीका में चीन पूँजी निवेश करने पर विशेष ज़ोर दे रहा है। गौरतलब है कि माओकालीन चीन अफ्रीकी मुल्कों में बुनियादी ढाँचे के निर्माण से लेकर खनन आदि में निवेश करके मित्रतापूर्ण मदद करता था। लेकिन आज का चीन इस पुरानी दोस्ती का इस्तेमाल अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश करके अपनी अर्थव्यवस्था को सरपट रफ़्तार से दौड़ाने के लिए ज़रूरी तेल और खनिज सम्पदा की लूट के लिए कर रहा है। अंगोला चीन के सबसे बड़े तेल-आपूर्तिकर्ताओं में से एक बन गया है। चीन का पूँजी निवेश नाइजीरिया, ज़ाम्बिया, घाना, लाइबेरिया, रवाण्डा, सूडान जैसे अफ्रीकी मुल्कों में सबसे ज़्यादा है। इस वक़्त समूचे अफ्रीका में चीन की 800 से भी अधिक कम्पनियाँ काम कर रही हैं और वहाँ रहने वाले चीनी नागरिकों की संख्या 10 लाख से भी अधिक है। ये तथ्य अपने आप में अफ्रीका में चीन की साम्राज्यवादी दखल को दिखा रहे हैं।

## 'वन बेल्ट, वन रोड' परियोजना

चीन की बहुचर्चित 'वन बेल्ट, वन रोड' (ओबीओर) परियोजना अपने आप में चीन की साम्राज्यवादी महत्वकांक्षा का सूचक है। इस परियोजना में 4 अरब से अधिक जनसंख्या वाले 68 देशों के शामिल होने की सम्भावना है जिनका वैश्विक जीडीपी में 40 प्रतिशत का योगदान है।<sup>[5]</sup> इसके दो हिस्से हैं – सिल्क रोड इकोनॉमिक बेल्ट और ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी मैरिटाइम सिल्क रोड। सिल्क रोड इकोनॉमिक बेल्ट के तहत चीन से यूरोप के बीच सड़क, रेलमार्ग, तेल और प्राकृतिक गैस पाइपलाइन समेत कई इंफ़्रास्ट्रक्चर और व्यापारिक परियोजनाएँ शामिल हैं जिसका विस्तार चीन के मध्य में स्थित ज़ियान प्रान्त से शुरू होकर मध्य एशिया से होते हुए मॉस्को, रॉटरडम और वेनिस तक होगा। इस बेल्ट में कई मार्ग होंगे जो चीन-मंगोलिया-रूस, चीन-मध्य और पश्चिम एशिया, चीन-इण्डोचीन प्रायद्वीप, चीन-पाकिस्तान, चीन-बांग्लादेश-म्यांमार से होते हुए गुज़रेंगे।

जबकि ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी मैरिटाइम सिल्क रोड के तहत समूचे एशिया व प्रशान्त में शिपिंग लेन का समुद्र आधारित नेटवर्क और बन्दरगाह विकास की योजना है जिसका विस्तार दक्षिण व दक्षिण-पूर्व एशिया से होते हुए पूर्वी अफ्रीका और उत्तरी भूमध्यसागर तक होगा। चीन की राज्य मीडिया के अनुसार इस परियोजना में 1 ट्रिलियन डॉलर का निवेश पहले ही चुका है और अगले दशक तक कई ट्रिलियन डॉलर के निवेश की योजना है।<sup>[6]</sup> गौरतलब है कि यह परियोजना केवल इंफ्रास्ट्रक्चर विकास तक ही सीमित नहीं है। इसके विज्ञान दस्तावेज के अनुसार इसमें इंफ्रास्ट्रक्चर के विकास के अतिरिक्त आर्थिक विकास की नीतियों में तालमेल, इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए तकनीकी मानकों में समरूपता, निवेश और व्यापार की बाधाओं को दूर करना, मुक्त व्यापार क्षेत्रों की स्थापना, वित्तीय तालमेल और सांस्कृतिक व अकादमिक लेन-देन के माध्यम से लोगों का लोगों से सम्पर्क स्थापित करना भी शामिल है।<sup>[7]</sup> इस परियोजना के माध्यम से पूंजी निर्यात करके चीन अपने देश में स्टील, एलुमिनियम और सीमेण्ट जैसे भारी उद्योगों में जारी अति-उत्पादन के संकट से उबरने और साथ ही साथ चीन के मालों के नये बाजार तैयार करने की फ़िराक में है। आर्थिक प्रभुत्व के साथ ही साथ चीन इस महत्वाकांक्षी परियोजना के जरिये अपनी सामरिक शक्ति में भी इज़ाफ़ा करना चाह रहा है। उदाहरण के लिए इस परियोजना के तहत ही चीनी सरकारी कम्पनी कॉस्को ने यूनान के पिरौस बन्दरगाह के 67 प्रतिशत शेयर खरीदकर उसपर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया जिससे उसे यूरोप में अपना पैर जमाने में मदद मिलेगी। इसी प्रकार इस परियोजना के जरिये हिन्द महासागर तक अपनी पहुँच बनाने के लिए चीन मलक्का जलडमरूमध्य और सिंगापुर पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए दक्षिण-पश्चिमी चीन से हिन्द महासागर की ओर एक नये समुद्री मार्ग का निर्माण करना चाहता है। पाकिस्तान के ग्वादर बन्दरगाह का निर्माण भी चीन हिन्द महासागर तक अपनी पहुँच के विकल्पों को बढ़ाने के मक़सद से करवा रहा है।

जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया था, श्रीलंका का हम्बनटोटा बन्दरगाह और मट्टला हवाई अड्डे में काफ़ी हद तक चीन की कम्पनियों का नियन्त्रण स्थापित हो गया है। इससे हिन्द महासागर के समूचे क्षेत्र में चीन का रणनीतिक व सैन्य प्रभुत्व बढ़ेगा। इसी प्रकार चीन-पाकिस्तान-आर्थिक-कॉरिडोर के लिए चीन अब तक पाकिस्तान को ऊँची ब्याज़ दर पर 50 बिलियन डॉलर से भी अधिक का ऋण दे चुका है। विशेषज्ञों का मानना है कि पाकिस्तान इस ऋण को 40 साल से पहले भुगतान नहीं कर पायेगा। पाकिस्तान के ग्वादर बन्दरगाह के निर्माण में भी चीन की बड़ी भूमिका रही है। इसी प्रकार चीन म्यांमार और बांग्लादेश में भी अवरचनागत क्षेत्र में बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है।

## चीन की बढ़ती सैन्य शक्ति और तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा

अपनी आर्थिक शक्तिमत्ता के विस्तार के अनुरूप चीन अपनी सैन्य शक्ति का ज़बरदस्त विकास कर रहा है। सैन्य सम्बन्धी खर्च की दृष्टि से चीन दुनिया में अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर

आता है। पिछले दशक के दौरान चीन ने अपनी सैन्य शक्ति का आधुनिकीकरण करने पर विशेष जोर दिया है। एक वैश्विक सैन्य शक्ति बनने के मकसद से चीन जहाज, पनडुब्बी, हवाई जहाज, इलेक्ट्रॉनिक खुफिया तन्त्र और विदेशी चौकियों का निर्माण कर रहा है। वह सुदूर सागर में वायु, धरातल और अधस्तल हर परिवेश के अनुसार अपनी सैन्य क्षमताओं को विकसित कर रहा है। चीन अपनी नाभिकीय शक्ति से लैस पनडुब्बियों में लगातार इजाफ़ा कर रहा है। इसके अलावा चीन विदेशों में अपनी चौकियाँ भी स्थापित कर रहा है, मिसाल के लिए अफ्रीका के जिबूती में चीन ने अपनी नयी सैन्य चौकी स्थापित की है। इसके अतिरिक्त श्रीलंका और पाकिस्तान में चीन जिन बन्दरगाहों का निर्माण कर रहा वे उसकी सामरिक शक्ति में विचारणीय इजाफ़ा करेंगे।

हथियारों के निर्यात के मामले में भी चीन ने पिछले दशक में ज़बरदस्त प्रगति की है। अमेरिका और रूस के बाद चीन दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा हथियारों का निर्यातक देश बन चुका है। इसके अतिरिक्त दुनिया के विभिन्न हिस्सों में संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेना में चीन 2 हजार से भी अधिक सैनिक भेजता है जो संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के सदस्यों में सबसे अधिक है। इससे चीन के सैनिकों को विभिन्न परिस्थितियों में लड़ने के लिए महत्वपूर्ण अनुभव मिलता है।

एक उभरती हुई साम्राज्यवादी ताक़त के रूप में विश्वपटल पर चीन की मौजूदगी और उसकी बढ़ती सैन्य शक्ति से दुनिया के पैमाने पर जारी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा तीखी हुई है। इस प्रतिस्पर्धा की घनीभूत अभिव्यक्ति दक्षिण चीन सागर में जारी तनाव में देखी जा सकती है। गौरतलब है कि दुनिया के कुल कच्चे तेल का एक चौथाई हिस्सा और अन्य व्यापारिक वस्तुओं का आधा हिस्सा दक्षिण चीन सागर से होकर गुज़रता है। चीन के सैन्य रणनीतिकारों ने 'टू आइलैंड चेन' की धारणा के तहत समूचे विवादित समुद्री क्षेत्र को टापुओं की दो श्रृंखलाओं में बाँटा है। पहली श्रृंखला, "नाइन डैशड लाइन", को लेकर चीन का विवाद वियतनाम, फ़िलीपींस और मलेशिया से है। चीन दक्षिण चीन सागर के लगभग पूरे हिस्से में अपना वर्चस्व कायम करना चाहता है। दूसरी श्रृंखला थोड़ा और आगे से गुज़रती है जिसमें चीन का विवाद जापान जैसे साम्राज्यवादी देश से है। चीन के लिए दक्षिण चीन सागर का महत्व न सिर्फ़ व्यापार की दृष्टि से है, बल्कि संसाधनों की दृष्टि से भी यह क्षेत्र बेहद अहम है। मछलियों व समुद्री जीवों के साथ ही साथ इस क्षेत्र में तेल व गैस के भण्डार की भी प्रचुर सम्भावना जताई जाती है। सामरिक और आर्थिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण होने की वजह से इस क्षेत्र में एक तरह से हथियारों की होड़ लगी हुई है और दक्षिण चीन सागर के किनारे स्थित सभी देश अपनी-अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहे हैं। इस क्षेत्र में चीन के बढ़ते वर्चस्व को देखकर अमेरिका भी सकते में आ गया है और इसी वजह से वह इस क्षेत्र में स्थित तमाम देशों को सैन्य मदद प्रदान कर रहा है, जिसकी वजह से स्थिति और तनावपूर्ण होती जा रही है।

हालाँकि चीन की सैन्य क्षमता अब भी अमेरिका की तुलना में बहुत कम होने की वजह से वह अमेरिका को अकेले टक्कर तो नहीं दे सकता, लेकिन हाल के वर्षों में रूस और चीन के संयुक्त नेतृत्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद के बरक्स एक नयी साम्राज्यवादी धुरी का उभार साफ़ देखा जा

सकता है। मध्य-पूर्व और विशेषकर सीरिया में जारी युद्ध इस अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के तीखे होने की स्पष्ट गवाही दे रहा है। शंघाई कोऑपरेशन काउंसिल और ब्रिक्स जैसी बहुपक्षीय संस्थाओं का अस्तित्व में आना अपने आप में एकध्रुवीय विश्व के मिथक को खारिज कर रहा है। उधर पश्चिम में भी ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से बाहर जाने और अमेरिका में ट्रम्प की संरक्षणवादी नीतियों की वजह से नाटो में भी दरार के संकेत दिख रहे हैं जो इस सम्भावना को बल देते हैं कि यूरोप के कुछ मुल्क भी अपना खेमा बदल सकते हैं। जो भी हो, इतना तो तय है कि आने वाले दिनों में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और तीखी होने वाली है। आज के दौर में विश्वयुद्ध की सम्भावनाएँ भले ही क्षीण हों, लेकिन क्षेत्रीय स्तर पर छोटे पैमाने के युद्धों और हिंसात्मक वारदातों की संख्या में निश्चय ही इजाफ़ा होगा।

### सन्दर्भ सूची

- [1] "Report for Selected Countries and Subjects". IMF
- [2] <http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.MKTP.CD>
- [3] <http://www.economist.com/news/leaders/21646204-asia-dominance-manufacturing-will-endure-will-make-development-harder-others-made>
- [4] <https://www.forbes.com/forbes/welcome/?toURL=https://www.forbes.com/sites/corinnejourney/2017/05/24/the-worlds-largest-public-companies-2017/>
- [5] [https://eng.yidaiyilu.gov.cn/info/iList.jsp?cat\\_id=10076&cur\\_page=1](https://eng.yidaiyilu.gov.cn/info/iList.jsp?cat_id=10076&cur_page=1)
- [6] [https://news.cgtn.com/news/3d63544d3363544d/share\\_p.html](https://news.cgtn.com/news/3d63544d3363544d/share_p.html)
- [7] [http://blogs.worldbank.org/eastasiapacific/china-one-belt-one-road-initiative-what-we-know-thus-far#\\_ftnref1](http://blogs.worldbank.org/eastasiapacific/china-one-belt-one-road-initiative-what-we-know-thus-far#_ftnref1)

## राजसमन्द हत्याकाण्ड और भारतीय फ़ासीवाद का चरित्र

• शिवानी कौल

आज जबकि भारत के वामपन्थी, खास तौर पर संसदीय वाम, अभी भी फ़ासीवाद के होने न होने या अपने “असली” रूप में आने न आने को लेकर बहस करने में व्यस्त हैं, उसी वक़्त फ़ासीवाद के आगमन की पुनःघोषणा करता हुआ एक राजसमन्द घटित होता है जो किसी सोये हुए इंसान की भी अन्तरात्मा को झकझोर देने के लिए काफ़ी है। राजसमन्द का जघन्य हत्याकाण्ड फ़ासीवाद के धिनौने चेहरे और फ़ासीवादी विचारधारा द्वारा रचे खेल की ही झलक मात्र है। जैसा कि अब सब जानते हैं, इस साल के दिसम्बर माह की शुरुआत में राजस्थान के राजसमन्द ज़िले में मोहम्मद अफ़राज़ुल नाम के पश्चिम बंगाल के मालदा ज़िले से आये अप्रवासी मज़दूर की शम्भूलाल रैगर द्वारा ‘लव जिहाद’ के नाम पर निर्मम तरीक़े से कुल्हाड़ी से हमले के बाद ज़िन्दा जलाकर हत्या कर दी गयी थी। इतना ही नहीं, शम्भूलाल ने इस बर्बर हत्या की अपने 14 साल के भतीजे से बाकायदा रिकॉर्डिंग भी करवायी थी।

इसके बाद रैगर ने इस वीडियो को अन्य वीडियो के साथ, जिनमें कि वह खुलेआम मुसलमानों के खिलाफ़ ज़हर उगलते हुए तथा ऐसे ही और हत्याकाण्डों को अंजाम देने की धमकी देते हुए नज़र आता है, इण्टरनेट पर अपलोड कर दिया। यह अनायास नहीं कि इस पूरे हत्याकाण्ड के लिए रैगर ने 6 दिसम्बर का दिन चुना, यानी बाबरी मस्जिद के ध्वंस की बरसी, जिसे भारत में फ़ासीवादी ताक़तें “शौर्य

दिवस” के रूप में मनाती हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि राजस्थान पुलिस ने शम्भूलाल को “दिमागी तौर पर असन्तुलित”, “विक्षिप्त हत्यारा” और “स्वनिर्मित हिन्दू-उन्मादी” आदि घोषित कर दिया जिसका अतीत में किसी भी तरह के हिन्दूवादी दक्षिणपन्थी संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। हालाँकि यह स्पष्ट है कि ऐसे जघन्य कांड किसी “मनोविकृत व्यक्तित्व”, या “विक्षिप्त-उन्मादी” के खुद के दिमाग की उपज नहीं है बल्कि यह फ़्रासीवादी ताकतों द्वारा सामाजिक ताने-बाने के निरन्तर जारी फ़्रासीवादीकरण की एक हिंसक अभिव्यक्ति है।

राजसमन्द हत्याकाण्ड कोई अकेली ऐसी घटना नहीं है और न ही “पागलपन” या “फ़ितूर” क्रार देकर इसे खारिज किया जा सकता है। हाल की एक रिपोर्ट के अनुसार, मई 2014 से भाजपा और नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद के साढ़े तीन सालों में घृणा-अपराधों, विशेषकर मुसलमानों के खिलाफ़, हिंसा की वारदातों तथा आतंकी घटनाओं में, अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी देखी गयी है। हिन्दुत्व फ़्रासीवाद के सत्ता में आने के बाद “गौ-रक्षा”, “गौ-मांस”, “लव-जिहाद”, “घर-वापसी” के नाम पर मॉब लिंगिंग (भीड़ द्वारा हत्या) और हिंसा की घटनाओं की जो बाढ़-सी आयी है, उन्हें निरन्तरता में ही देखा जाना चाहिए। अभी राजसमन्द की घटना को ज़्यादा वक्रत हुआ भी नहीं था कि साम्प्रदायिक फ़्रासीवाद की एक और प्रयोगशाला, मध्य प्रदेश, में फ़्रासीवादी हिंसा का दूसरा स्वांग रचा जाता है। सतना ज़िले में बजरंग दल के गुंडों ने क्रिसमस कैरोल गा रहे ईसाइयों पर हमला किया और एक पादरी की गाड़ी को भी जलाकर राख कर दिया। इसके बाद मध्य प्रदेश की पुलिस ने अपने असली चरित्र का प्रदर्शन करते हुए बजरंग दल के हमलावरों के खिलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की और उल्टे कैरोल-गायकों के खिलाफ़ ही केस बना डाला!

पुलिस के इस तर्क के यहाँ कोई मायने नहीं कि शम्भूलाल किसी दक्षिणपन्थी-हिन्दूवादी संगठन के सम्पर्क में नहीं था। हालाँकि ऐसे काफ़ी तथ्य मौजूद हैं जो स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि रैगर सोशल मीडिया, खास तौर पर व्हाट्सएप्प ग्रुपों, पर फैलाये जा रहे फ़ासिस्ट कचरे से ही लगातार अपनी मानसिक खुराक ले रहा था। इन ग्रुपों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संघ से जुड़े लोगों के तथा भाजपा नेताओं के भड़काऊ भाषण फैलाये गये थे जिन्हें स्वयं रैगर ने भी अपने वीडियो में दोहराया है। आज के दौर में फ़ासिस्ट बनने के लिए सिर्फ़ 'शाखा' जाने की ज़रूरत नहीं है! आज शाखाएँ सुनियोजित तरीके से सोशल मीडिया पर चलायी जा रही हैं जहाँ पर शाखाओं का पाठ और भी व्यापक पैमाने पर पढ़ाया जा रहा है। भाजपा नेताओं का इन ग्रुपों में शामिल होना आखिर और क्या साबित करता है? अलग-अलग मीडिया रिपोर्टों के अनुसार रैगर के द्वारा इस धिनौने अपराध को अंजाम देने से चन्द दिनों पहले इस इलाके में बजरंग दल द्वारा “लव जिहाद” पर एक पर्चा भी बाँटा गया था।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके अन्य अनुषंगी संगठनों, जो अनिवार्यतः संघ से न भी जुड़े हों, का नेटवर्क लम्बे अरसे से जनता के बीच फ़्रासीवादी विचारधारा को निरन्तरता से फैलाने में और उसकी जड़ें गहरी करने में काफ़ी हद तक सफल रहा है। संघ अपने फ़्रासीवादी प्रचार को अपने विशाल संस्थागत नेटवर्क के द्वारा न सिर्फ़ पिछले साढ़े तीन सालों से बल्कि 1925 से, यानी

अपने जन्मकाल से ही, और खास तौर पर 1980 के दशक से निरन्तरता के साथ अंजाम देता आ रहा है। फ़्रासीवादी विचारधारा के लिए सबसे उपजाऊ ज़मीन समाज के टटपुँजिया वर्ग (पेटी-बुर्जुआ) और लम्पट तत्वों के बीच होती है जो आर्थिक मन्दी के दौर में सब कुछ छिन जाने के डर और अनिश्चितता के खतरे में जीते हैं। इसलिये यह कहा जा सकता है कि फ़्रासीवादी सामाजिक आन्दोलन का उभार पेटी-बुर्जुआ तबके का “रूमानी उभार” है, जो अपनी वर्ग अवस्थिति के कारण स्वतःस्फूर्त ढंग से फ़्रासीवादी प्रतिक्रियावाद की तरफ आकर्षित होता है। यह तथ्य भी गौर करने लायक है कि शम्भूलाल रैगर पिछले एक साल से अपने धन्धे के पिट जाने के बाद से बेरोज़गार था। इसलिए, शम्भूलाल रैगर जैसे लोग फ़्रासीवादी तन्त्र के लिए सबसे उपयुक्त पैदल सैनिक साबित होते हैं।

भारत में एक तबका, खास कर वे जो बुर्जुआ लोकतन्त्र के बारे में उदार-बुर्जुआ भ्रम के शिकार हैं, सामाजिक क्षेत्र में हिंसा के सामान्यीकरण (‘नॉर्मलाइजेशन’) से सकते में आ गये हैं। इतिहास का सबक है कि जहाँ कहीं भी फ़्रासीवाद सत्ता में आया है, वहाँ पर सड़कों पर हिंसा उसका एक अनन्य हिस्सा रहा है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सड़कों पर हो रही हिंसा के साथ ही फ़ौज, पुलिस, नौकरशाही, न्यायतन्त्र आदि में भी फ़ासिस्ट काडरों की घुसपैठ करायी जाती है। यही आज भारतीय फ़्रासीवाद की भी सच्चाई है। आज भारत में खुलेआम ताण्डव मचा रहा फ़्रासीवाद भी किसी “आदिमवाद” या “क्रबीलावाद” (“ट्राइबलिज्म”) का रूप नहीं है जैसा कि उदारतावादी सोचने की ग़लती करते हैं, बल्कि यही फ़्रासीवाद की “आधुनिक” विचारधारा की काम करने की तकनीक है। पेटी-बुर्जुआ प्रतिक्रिया के विभिन्न रूपों को एकीकृत करने के लिए किसी ‘अन्य’ के रूप में काल्पनिक शत्रु की आकृति खड़ी की जाती है। भारत के साम्प्रदायिक फ़्रासीवाद के लिए यह ‘अन्य’ मुसलमान हैं। हालाँकि, जल्द ही फ़्रासीवाद द्वारा ‘अन्य’ बनाने की इस प्रक्रिया में समग्र राजनीतिक विरोध को अपनी ज़द में ले लिया जाता है।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख ज़रूरी है कि भारत में साम्प्रदायिक फ़्रासीवादी काफ़ी हद तक दलितों और आदिवासियों के फ़्रासीवादीकरण में तथा “हिन्दू” अस्मिता के इर्द-गिर्द विचारधारात्मक एकता के निर्माण में सफल रहे हैं। हिन्दुत्व-फ़ासिस्टों की प्रयोगशाला गुजरात इसी का एक उदाहरण है जहाँ फ़्रासीवादी ताक़तों द्वारा दलितों की एक बड़ी आबादी को सहयोजित कर लिया गया है। 2002 के गुजरात दंगों में दंगाइयों की भीड़ में दलित और आदिवासी बड़ी संख्या में शामिल थे। शम्भूलाल खुद दलित समुदाय की ‘रैगर’ जाति से आता है। हिन्दुत्व-फ़्रासीवादी कथानक में दलितों और आदिवासियों को हिन्दू-शूरवीरों, धार्मिक-योद्धाओं के रूप में महिमामण्डित किया जाता है, जिस रूप में शम्भूलाल भी खुद को पेश कर रहा है। ऐतिहासिक तथ्यों का विकृतीकरण कर दलितों और आदिवासियों की पिछड़ी अवस्था के लिए मुसलमानों को जिम्मेदार ठहराया जाता है। यहाँ यह बात रेखांकित किये जाने की ज़रूरत है कि यह फ़्रासीवाद के विरुद्ध विभिन्न समुदायों तथा अस्मिताओं की योगात्मक एकता के उदारवादी-वामपन्थी प्रोजेक्ट की हास्यास्पद समझ को भी दिखाता है जैसे कि ये सारे समुदाय व अस्मिताएँ सजातीय

और वर्ग-अविभाजित हैं और यह भी कि ऐसी कोई व्यवहारवादी एकता सम्भव भी है, इसके टिकने की बात तो अभी छोड़ ही दीजिये! फ़ासीवाद को फ़ैसलाकुन शिकस्त एक जुझारू वर्ग-आधारित जाति-विरोधी और साम्प्रदायिकता-विरोधी आन्दोलन ही दे सकता है।

रस्म-अदायगी के तौर पर राजसमन्द की इस नृशंस घटना के बाद कुछ घड़ियाली आँसू भी बहाये गये। अफ़राजुल की हत्या पर शोक जताते हुए राजस्थान की मुख्यमन्त्री वसुन्धरा राजे ने “सख्त कार्रवाई” के आश्वासन भी दिये पर अब तक कोई ठोस कार्रवाई नहीं की गयी है। क्या अब तक भाजपा शासित राजस्थान में बिलोका (राजस्थान के नगौर ज़िले में स्थित) के ग़फूर ख़ान, नूह के पहलू ख़ान और प्रतापगढ़ के ज़फर ख़ान के लिए कोई “त्वरित कार्रवाई” की गयी थी? कौन नहीं जानता कि ऐसे जघन्य कृत्यों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर भाजपा सरकारों और संघ का संरक्षण प्राप्त है? ये किन्हीं “परिधिगत” तत्वों के द्वारा नहीं किये जा रहे हैं जिन पर लगाम लगाये जाने की ज़रूरत है। बल्कि यही भारतीय फ़ासीवाद का असली चेहरा है। संघ और उसका चुनावी निकाय भाजपा फ़ासीवादी मशीनरी द्वारा किये जा रहे इन कुकृत्यों से, जिनका वो काफ़ी कुशलता से संचालन कर रहे हैं, स्वयं को पाप-मुक्त नहीं कर सकते। अब, हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की यह एक विशेषता बन गयी है कि जैसे ही कोई अखलाक या अफ़राजुल जैसी घटना होती है तो दोष इन “खर्च कर दिये जाने योग्य” “फ़्रिज” तत्वों पर डाल दिया जाता है। हालाँकि, ‘फ़्रिज’ और ‘मुख्यधारा’ के बीच की विभाजन रेखा स्वयं धुँधली है और यह धुँधलापन सोच-समझ कर निर्मित किया गया है। इसलिए, वडोदरा का पार्षद और गुजरात के दभोई विधानसभा क्षेत्र का भाजपा प्रत्याशी खुले-आम चुनावी रैलियों में भड़काऊ भाषण देता है। तेलंगाना का भाजपा विधायक, राजा सिंह, जिसका पिछला इतिहास ऊना की क्रूरता को “नीच दलितों को सिखाया गया सबक” के रूप में परिभाषित करने का रहा है, खुलेआम हिन्दुओं से “हिन्दू राष्ट्र” के निर्माण के लिए हथियार उठा लेने का आह्वान करता है। सूत में हिन्दू युवा वाहिनी का अध्यक्ष, जिसके सरपरस्त खुद उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ है, एक मुसलमान के क़त्ल के लिए शम्भूलाल की “हिम्मत” की दाद देता है और उसके पक्ष में लोगों से समर्थन की अपील करता है।

जब स्वयं राज्य मशीनरी का ही अपराधकर्ताओं के साथ गठजोड़ है, तो आप इससे उम्मीद ही क्या रख सकते हैं? अभी तक सबसे महत्वपूर्ण सवालों, जैसे कि उन वीडियो को फ़ैलाने के लिए कौन ज़िम्मेदार है जिन्हें देख कर रैगर ने इस घटना को अंजाम दिया, को जाँच के दायरे में लाया ही नहीं गया है। किन संगठनों और नेटवर्कों ने रैगर के वीडियो को फ़ैलाने का काम किया? वे लोग कौन हैं जो रैगर को महिमामण्डित कर नायक के तौर पर पेश कर रहे हैं और पुलिस द्वारा बैंक अकाउंट बन्द करने से पहले तक रैगर की पत्नी के नाम चन्दा इकट्ठा कर 5 लाख तक जमा करने में सफल हो जाते हैं? क्या इस पूरे हत्याकाण्ड में ये सब गुनहगार नहीं हैं? और क्या अगर इन लोगों में भाजपा के नेता भी शामिल हैं, तो उन्हें भी जाँच के दायरे में नहीं लाना चाहिए? बजरंग दल की अगुवाई में शम्भूलाल के समर्थन में उदयपुर की अदालत पर प्रदर्शन कर रही भीड़ ने जमकर उत्पात मचाया, पत्थरबाज़ी की और पुलिस के आला अधिकारियों तक को घायल कर दिया,

लेकिन पुलिस ने न कोई बल-प्रयोग किया और न ही गिरफ्तारी की। अगर इनकी जगह कोई मजदूर संगठन किसी मजदूर की गैर-क्रान्ती बर्खास्तगी के विरोध में या न्यूनतम वेतन लागू करवाने की संविधान-सम्मत माँग को लेकर प्रबन्धन के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन कर रहा होता तो क्या पुलिस और प्रशासन का यही रवैया होता? हम इसका जवाब जानते हैं। इतना ही नहीं, इस फ़ासीवादी भीड़ को क्रान्ति और सज़ा से ऊपर होने का इस क्रूर यत्नी था कि उदयपुर के न्यायिक परिसर में न्यायलय के गुम्बद पर चढ़कर भगवा झण्डा तक फहरा दिया गया और किसी को कुछ करने की हिम्मत नहीं हुई। यह पूरा घटनाक्रम बरबस उस मुहावरे की याद दिलाता है कि “जब सैय्याँ भये कोतवाल, तब डर काहे का”!

राजसमन्द हत्याकाण्ड फ़ासीवाद द्वारा समाज के पोर-पोर में घिनौने तरीकों से फैलाये जा रहे ज़हर की बस एक और ताक़ीद है। खुलेआम हिंसा और आतंक का इस्तेमाल फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा हर तरह के प्रतिरोध को शांत कराने और आत्मसमर्पण के लिए मजबूर करने के लिए किया जाता है। फ़ासीवाद सत्ता में हो या सत्ता से बाहर हो, हर-हमेशा ही यह बड़ी पूँजी के लिए 'अनौपचारिक राज्य-सत्ता' के तौर पर काम करता रहा है। जो उदारवादी-शान्तिवादी तर्क, संवैधानिक तन्त्र और जनवाद (असल में बुर्जुआ जनवाद) की विफलता पर विधवा-विलाप कर रहा है, और जो मौजूदा राजनीतिक-वैचारिक व्यवस्था की बर्बरता से सदमे में है, वह अपने आँसुओं की धारा में इस बर्बरता, यानी कि फ़ासीवाद, के उदय के पीछे के कारणों और सम्बन्धों को देख पाने में असमर्थ है।

अन्त में ब्रेष्ट का यह उद्धरण बिल्कुल सटीक बैठता है, “जो लोग पूँजीवाद का विरोध किये बिना फ़ासीवाद का विरोध करते हैं, जो उस बर्बरता पर दुखी होते हैं जो बर्बरता के कारण पैदा होती है, वे ऐसे लोगों के समान हैं जो बछड़े को जिबह किये बिना ही मांस खाना चाहते हैं। वे बछड़े को खाने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें खून देखना नापसन्द है। वे आसानी से सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है। वे उन सम्पत्ति सम्बन्धों के खिलाफ़ नहीं हैं जो बर्बरता को जन्म देते हैं, वे केवल अपने आप में बर्बरता के खिलाफ़ हैं। वे बर्बरता के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं, और वे उन देशों में ऐसा करते हैं जहाँ ठीक ऐसे ही सम्पत्ति सम्बन्ध हावी हैं, लेकिन जहाँ कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है।”

# बिटकॉइन : पूँजीवादी संकट के भँवर में एक नया बुलबुला

• उत्कर्ष

"क्या आप चन्द दिनों में करोड़पति बनना चाहते हैं? क्या आप मर्सिडीज खरीदने का सपना देखते हैं? अगर हाँ, तो बिटकॉइन में निवेश करें।" - यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इस तरह के विज्ञापन इन दिनों इण्टरनेट पर बढ़ते जा रहे हैं। अगर बिटकॉइन के मूल्य में बढ़ोतरी का ग्राफ़ देखा जाये तो यह वाकई मुमकिन लगता है। वर्ष 2017 की शुरुआत में एक बिटकॉइन का मूल्य 1000 अमेरिकी डॉलर से भी कम था, लेकिन यह लेख लिखने तक यह बढ़कर 15000 डॉलर से ऊपर जा चुका था। 6 दिसम्बर को इसका मूल्य 24 घण्टे में 13000 डॉलर से बढ़कर 17000 तक पहुँच गया था, हालाँकि 22 दिसम्बर को इसका मूल्य 20000 डॉलर से एकाएक नीचे गिरकर 13000 डॉलर से भी नीचे जा पहुँचा। जिन लोगों ने 2017 की शुरुआत में या उससे पहले बिटकॉइन में निवेश किया होगा उनके लिए उपरोक्त विज्ञापन निश्चय ही अतिशयोक्ति नहीं होगा। मौके का फ़ायदा उठाकर बिटकॉइन के मूल्य को लेकर सट्टेबाजी भी धड़ल्ले से हो रही है। ये सबकुछ संकट के भँवरजाल में फँसी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में एक नये बुलबुले के फूलने की ओर साफ़ इशारा कर रहा है जो कब फूटेगा यह बताना तो मुश्किल है लेकिन इतना तय है कि यह फूटेगा और अपने साथ और बड़ी तबाही

लायेगा। इसीलिए दुनिया के तमाम देशों के केन्द्रीय बैंक और पूँजीवादी थिंकटैंक सँभलकर निवेश करने की हिदायतें दे रहे हैं।

## क्या है बिटकॉइन?

बिटकॉइन एक डिजिटल मुद्रा (करेंसी) है जिसे क्रिप्टोग्राफी की तकनीक के जरिये सुरक्षित बनाया जाता है। इसलिए इसे क्रिप्टोकरेंसी कहते हैं। इसे 'इण्टरनेट का कैश' भी कहा जा रहा है। बिटकॉइन के अतिरिक्त कई अन्य क्रिप्टोकरेंसी भी इण्टरनेट पर उपलब्ध हैं, मसलन इथिरियम, लाइटकॉइन, रिपल और मोनेरो। बिटकॉइन की खोज 2008 में एक रहस्यमय व्यक्ति ने की थी जो अपना नाम सातोशी नाकामोटो बताता है, हालाँकि अभी तक यह नहीं पता चल पाया है कि वह व्यक्ति कौन है। बिटकॉइन की विशेषता यह है कि यह दुनिया के किसी भी देश या किसी भी संस्था द्वारा विनियमित नहीं होती। यह एक विकेन्द्रीकृत मुद्रा है जो किसी केन्द्रीय संस्था या बैंक द्वारा नहीं बल्कि ब्लॉकचेन नामक तकनीक की बदौलत कम्प्यूटर नेटवर्क के जरिये संचालित होती है।

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रा का लेनदेन प्रायः बैंकों या अन्य 'थर्ड पार्टी' के जरिये होता है जिसमें बैंक अपने सभी खाताधारकों के बही-खातों का प्रबन्धन करते हैं। चूँकि बैंक सरकार द्वारा विनियमित किये जाते हैं इसलिए बैंकों के जरिये मुद्रा का लेनदेन करने की इस प्रणाली में लोगों का विश्वास बना रहता है। ब्लॉकचेन की तकनीक ने यह मुमकिन बनाया है कि बिना किसी बैंक या 'थर्ड पार्टी' के मुद्रा का लेनदेन किया जा सकता है। इस प्रकार बिना किसी सांस्थानिक हस्तक्षेप के जरिये लेनदेन किये जा सकते हैं और समय व धन दोनों की बचत भी होती है। इस तकनीक में बही-खाते किसी केन्द्रीय संस्था के पास नहीं रहते बल्कि इस नये माध्यम से मुद्रा का लेनदेन करने वाले सभी लोगों के पास उपलब्ध होते हैं। इस क्रिस्म का ऑनलाइन लेनदेन करने वाले सभी लोग इण्टरनेट के माध्यम से एक कम्प्यूटर नेटवर्क से जुड़े होते हैं जिसे पियर-टू-पियर नेटवर्क कहते हैं। इस प्रक्रिया से होने वाले लेनदेन को सुरक्षित बनाने के लिए 'डिजिटल सिग्नेचर' और क्रिप्टोग्राफी की तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है। ऐसे लेनदेनों के सत्यापन की प्रक्रिया 'बिटकॉइन माइनिंग' का अंग है जो एक विशेष कुशलता की माँग करती है। इस कुशलता से लैस विशेषज्ञों को 'बिटकॉइन माइनर्स' कहते हैं। बिटकॉइन नेटवर्क में जब भी कोई लेनदेन होता है तो नेटवर्क में उपस्थित सभी 'माइनर्स' को अधिसूचना भेजी जाती है। जो 'माइनर' लेनदेन का सत्यापन सबसे पहले करता है उसके खाते में एक निश्चित मात्रा में (इस समय 25) बिटकॉइन चले जाते हैं। इस प्रकार 'माइनर्स' न सिर्फ बिटकॉइन का सत्यापन करते हैं, बल्कि वे उनका निर्माण भी करते हैं। लेनदेन का सत्यापन करने वाले 'माइनर्स' क्रिप्टोग्राफी की तकनीक में सिद्धहस्त होते हैं। बिटकॉइन नेटवर्क में होने वाले कई लेनदेनों को मिलाकर एक ब्लॉक बनता है। ये ब्लॉक एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, इसी वजह से इस तकनीक को ब्लॉकचेन कहते हैं। हर ब्लॉक पर अपने पिछले ब्लॉक की पहचान दर्ज होती है और इस प्रकार सभी ब्लॉक एक श्रृंखला में जुड़े होते हैं। ब्लॉकचेन की इस तकनीक को हैक करना इसलिए मुश्किल है क्योंकि हैकर को सिर्फ एक ब्लॉक

में नहीं बल्कि बिटकॉइन की शुरुआत से लेकर अबतक के सभी ब्लॉकों में छेड़छाड़ करनी होगी जोकि लगभग असम्भव है।

## बिटकॉइन के मूल्य में उतार-चढ़ाव की वजह

हाल के दिनों में बिटकॉइन के मूल्य में जो उछाल देखने में आ रहा है उसका मुख्य कारण इसके भविष्य को लेकर होने वाली अटकलबाजी और अफवाहों का फैलना है। इण्टरनेट पर भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर लोगों को उकसाया जा रहा है कि वे बिटकॉइन में निवेश करें। चूँकि बिटकॉइन की आपूर्ति कम्प्यूटर प्रोग्राम से होने की वजह से सीमित है, इसलिए इस क्रिस्म की अटकलबाजी और अफवाहों से कभी बिटकॉइन का मूल्य आसमान छूने लगते हैं तो कभी उसका मूल्य धड़ाम से नीचे गिर जाता है। अटकलबाजी के इस माहौल में दलालों और सट्टेबाजों की चाँदी हो गयी है। मुनाफ़े की गिरती दर के संकट से जूझ रहे पूँजीवाद में लाभप्रद निवेश के अवसर सीमित हो गये हैं। ऐसे में सट्टेबाजी की इस नयी सम्भावना की वजह से तमाम दलाल और हेज फ़ण्ड लार टपकाते हुए इसमें निवेश कर रहे हैं। अमेरिका की सीएम्ई और सीबीओई जैसे संस्थाओं ने दिसम्बर के महीने से बिटकॉइन में फ़्यूचर्स और डेरिवेटिव ट्रेडिंग भी शुरू कर दी है। सीएनबीसी की एक रिपोर्ट के मुताबिक इस समय 120 से ज़्यादा हेज फ़ण्ड बिटकॉइन और अन्य डिजिटल करेंसियों पर निवेश कर रहे हैं। ऐसे में इसमें क़त्तई आश्चय की बात नहीं है कि सट्टेबाजी का यह बुलबुला फूलता जा रहा है। गौरतलब है कि 1970 के दशक से ही मुनाफ़े की गिरती दर के संकट की वजह से मृत्युशैया पर लेटे पूँजीवाद में सट्टेबाजी के बुलबुलों के सहारे ही समय-समय पर थोड़ी जान आती दिखती है। ये बात दीगर है कि जब ये बुलबुले फूटते हैं तो तबाही का मंज़र छा जाता है।

## मुद्रा के रूप में बिटकॉइन का भविष्य

बिटकॉइन के अतिउत्साही समर्थक बिटकॉइन को एक युगपरिवर्तनकारी मुद्रा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार चूँकि बिटकॉइन किसी सरकार या बैंक के नियन्त्रण में नहीं है और चूँकि वह विकेन्द्रीकृत है इसलिए इस मुद्रा के इस्तेमाल से लोग अपने पैसे पर खुद नियन्त्रण कर सकते हैं और सरकार की मौद्रिक नीतियों व बैंकों द्वारा वसूले जाने वाले खर्च से बचा जा सकता है। तमाम क्रिस्म के 'लिबर्टेरियन' और अराजकतावादी विचार रखने वालों को ये बातें बहुत भाती हैं और वे इसको पूँजीवादी संकट के एक रैडिकल समाधान के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ऐसे लोग 2007-08 की मन्दी का हवाला देते हुए कहते हैं कि मुद्रा पर बैंकों और सरकार का नियन्त्रण होने की वजह से मन्दी के बाद आम लोगों के पैसे से ही बैंकों को बेलआउट किया गया। इसी प्रकार 2013 में साइप्रस की सरकार द्वारा संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए बैंक खातों में एक निश्चित राशि से अधिक जमा हुए पैसे को ज़ब्त करने के बाद बिटकॉइन के समर्थकों के इस प्रचार को बल मिला कि सरकार और बैंकों के नियन्त्रण में रहने वाली मुद्रा पर भरोसा नहीं किया जा

सकता है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह पूँजीवादी संकट की एक निम्न-बुर्जुआ प्रतिक्रिया और समाधान है जो लोभ-लालच और मुनाफ़ाखोरी पर टिकी समूची व्यवस्था का विकल्प ढूँढ़ने के बजाय मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही सरकार और बैंकों द्वारा नियन्त्रित केन्द्रीकृत मौद्रिक ढाँचे का विकल्प एक विकेन्द्रीकृत मुद्रा में ढूँढ़ता है।

ऐसे में यह सवाल लाज़िमी हो जाता है कि क्या बिटकॉइन वास्तव में एक वैश्विक मुद्रा के रूप में प्रचलित हो सकती है। एक तकनीक के रूप में ब्लॉकचेन निश्चय ही एक ऐसा नवोन्मेष है जिसका भविष्य में समाजवादी व्यवस्था में भी बहुआयामी इस्तेमाल होने की सम्भावना हो सकती है, लेकिन पूँजीवाद के रहते यह एक विश्वसनीय विश्वव्यापी मुद्रा बन पायेगी इसकी सम्भावना बहुत कम है। इसकी वजह यह है कि केवल ऐसी ही चीज़ मुद्रा के रूप में प्रभावी हो सकती है जो एक ऐसे सार्वभौमिक समतुल्य का काम करे जिसके सापेक्ष अन्य मालों के मूल्य को मापा जा सके और जो विनिमय के माध्यम का भी काम कर सके। पारम्परिक रूप से धातुएँ, खासकर सोना, ऐसे सार्वभौमिक समतुल्य और विनिमय के माध्यम का काम करती थीं। यह बात सच है कि आधुनिक दौर में काग़ज़ के नोट और इलेक्ट्रॉनिक माध्यम ने भी मुद्रा का स्थान ग्रहण किया है जिनका स्वयं का मूल्य किसी सुनिश्चित मात्रा में धातु की मुद्रा के बराबर हो ऐसा आवश्यक नहीं है। लेकिन गौरतलब बात यह है कि ऐसा इसलिए मुमकिन हो पाता है कि देशों की सरकारें इसकी गारण्टी देती हैं और उनकी यह क्षमता उनकी अर्थव्यवस्था की स्थिति से निर्धारित होती है। चूँकि बिटकॉइन जैसी क्रिप्टोकॉरेंसी किसी भी देश की सरकार और बैंकों द्वारा नियन्त्रित और संचालित नहीं है, इसलिए एक वैश्विक मुद्रा के रूप में इसकी विश्वसनीयता हमेशा सन्दिग्ध बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त इसकी एक सीमा यह भी है कि पूँजीवादी ढाँचे में निहित डिजिटल खाई के मद्देनज़र इण्टरनेट का इस्तेमाल न करने वाले दुनिया के अरबों लोगों के लिए इसका कोई मतलब नहीं है। साथ ही हाल के वर्षों में बिटकॉइन की विनिमय दर में हुए भयंकर उतार-चढ़ाव को देखते हुए भी मुद्रा के रूप में इसकी स्वीकार्यता पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है क्योंकि मुद्रा की एक बुनियादी शर्त एक समयान्तराल में उसकी सापेक्षिक स्थिरता होती है। अकेले वर्ष 2107 में ही पाँच बार ऐसा हुआ कि बिटकॉइन के मूल्य में एक दिन के भीतर ही 30 प्रतिशत का फेरबदल हुआ। इसके अतिरिक्त बिटकॉइन के निर्माण की प्रक्रिया भी उसके एक स्वीकार्य मुद्रा के रूप में प्रचलित होने पर प्रश्नचिह्न लगाती है। गौरतलब है कि बिटकॉइन एक कम्प्यूटर प्रोग्राम के ज़रिये निर्मित होती है जिसका मालों के उत्पादन से कोई समानुपातिक सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त बिटकॉइन की सुरक्षा के लिए इस्तेमाल होने वाली क्रिप्टोग्राफ़ी की तकनीक के बावजूद यह हैकिंग, चोरी और धोखाधड़ी से पूरी तरह से मुक्त नहीं है। अबतक के छोटे-से जीवनकाल के दौरान ही बिटकॉइन की चोरी और धोखाधड़ी के कई मामले सामने आ चुके हैं जिनकी वजह से चीन और रूस जैसे कई देशों में इस पर तमाम क्रिस्म की पाबन्दियाँ भी लगायी जा चुकी हैं। साथ ही बिटकॉइन के नाम पर दुनिया भर में चल रही सट्टेबाज़ी का बुलबुला क्राबू से बाहर होने पर तमाम सरकारें इसपर निश्चित ही नकेल कसना शुरू करेंगी जिससे सरकारों के हस्तक्षेप से स्वायत्त होने का बिटकॉइन समर्थकों

का दावा खोखला साबित हो जायेगा। इतनी सीमाओं को देखते हुए अगर भविष्य का अनुमान लगायें तो पूँजीवाद के दायरे में अधिक से अधिक यह हो सकता है कि मुद्रा के रूप में बिटकॉइन का उपयोग एक अत्यन्त सीमित रूप में होने लगे जिसके कुछ उदाहरण दिखने भी लगे हैं।

बिटकॉइन के कुछ अतिउत्साही समर्थक इसके न सिर्फ़ सरकार के नियन्त्रण से मुक्त होने का दावा करते हैं बल्कि इसके विकेन्द्रीकृत स्वरूप का हवाला देते हुए इसे कॉरपोरेट नियन्त्रण से भी मुक्त बताते हैं। यह बात सच है कि बिटकॉइन के निर्माण और संचालन की प्रक्रिया में किसी केन्द्रीय ढाँचे या केन्द्रीकृत संसाधन जैसे कि बड़े-बड़े सर्वर आदि की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि निर्माण और संचालन का काम फ़िलहाल दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में काम कर रहे बिटकॉइन 'माइन्स' करते हैं। परन्तु इस विकेन्द्रीकृत ढाँचे में भी केन्द्रीकरण की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। गौरतलब है कि बिटकॉइन 'माइनिंग' का काम साधारण कम्प्यूटर पर नहीं किया जा सकता है, इसके लिए बहुत अधिक प्रोसेसिंग रफ़्तार वाले विशेष क्रिस्म के कम्प्यूटर की आवश्यकता होती है जिसमें बहुत ज़्यादा ऊर्जा की खपत होती है। एक हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ फ़िलहाल बिटकॉइन 'माइनिंग' में लगने वाली बिजली का कुल खर्च आयरलैण्ड जैसे देश के कुल बिजली खर्च से अधिक है। बिटकॉइन 'माइनिंग' की प्रतिस्पर्धी प्रक्रिया में बिटकॉइन लेनदेन को सत्यापित करने के लिए 'माइन्स' के बीच होड़ लगी रहती है क्योंकि सबसे पहले सत्यापित करने वाले 'माइन्स' के खाते में कुछ बिटकॉइन जाते हैं। इस होड़ में अपनी सफलता की सम्भावना बढ़ाने के लिए कई 'माइन्स' ने अपने संसाधनों की पूलिंग करना शुरू कर दिया है जोकि स्पष्ट रूप से केन्द्रीकरण की प्रक्रिया की ओर इंगित कर रहा है। ऐसे में अगर भविष्य में बिटकॉइन का प्रचलन बढ़ता भी है तो इस सम्भावना से हरगिज़ इनकार नहीं किया जा सकता है कि बिटकॉइन 'माइनिंग' करने वाली बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ खुलने लगे। इस प्रकार कॉरपोरेट के नियन्त्रण से मुक्त होने का दावे का भी कोई आधार नहीं रह जायेगा।

# आज के साम्राज्यवाद पर लखनऊ में आयोजित छठी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी की रिपोर्ट

गत 24 से 28 नवम्बर के बीच लखनऊ के अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध अध्ययन संस्थान, गोमतीनगर के सभागार में अरविन्द स्मृति न्यास द्वारा 'आज के समय में साम्राज्यवाद : उद्भव, कार्यप्रणाली और गतिकी' विषय पर पाँच दिवसीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में साम्राज्यवाद के क्लासिकीय मार्क्सवादी सिद्धान्तों की आलोचनात्मक पुनर्विवेचना, साम्राज्यवाद के नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन, लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त और नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर का साम्राज्यवाद, साम्राज्यवाद के उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्त, मौजूदा अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और उसके निहितार्थ, साम्राज्यवाद के संशोधनवादी, सुधारवादी और सामाजिक-जनवादी सिद्धान्त, लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद, साम्राज्यवाद और मौजूदा आर्थिक संकट, साम्राज्यवाद और संस्कृति जैसे विषयों पर विभिन्न शोधात्मक आलेख प्रस्तुत किये गये और उन पर गहन चर्चा और गम्भीर बहस-मुबाहसा हुआ। संगोष्ठी में देश के विभिन्न राज्यों के विद्वानों, लेखकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ ही नेपाल और अमेरिका से आये लेखकों, संस्कृतिकर्मियों और कार्यकर्ताओं ने भी भागीदारी की।

## संगोष्ठी का पहला दिन

पहले दिन 24 नवम्बर को संगोष्ठी के आयोजक 'अरविन्द स्मृति न्यास' की मुख्य न्यासी **मीनाक्षी** ने एक स्वागत वक्तव्य के साथ संगोष्ठी की औपचारिक शुरुआत की जिसमें उन्होंने कहा कि आज साम्राज्यवाद के शोषण से एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के

देशों की जनता तबाह है और कर्जों के बोझ से दबी हुई है। एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देश राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हैं, परन्तु इन देशों का बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद के 'जूनियर पार्टनर' की भूमिका अदा करता है और इन देशों के मेहनतकश वर्ग को लूटता है। खासकर मध्य-पूर्व का क्षेत्र अमेरिका की साम्राज्यवादी आक्रामकता का केन्द्र और विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों की होड़ का अखाड़ा बना हुआ है। इन देशों की जनता पिछले कई दशकों से युद्ध की विभीषिका झेल रही है। दुनिया के कई अन्य देशों में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और दबाव ने वहाँ की अर्थव्यवस्था को तबाह कर दिया है। लगातार जारी वैश्विक आर्थिक संकट ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया है। साम्राज्यवाद के विभिन्न पहलुओं को समझने तथा इसके प्रतिरोध की रणनीतियों पर आज दुनिया भर में विचार-मन्थन जारी है। उन्होंने उम्मीद जतायी कि संगोष्ठी में पाँच दिनों तक साम्राज्यवाद के विभिन्न पहलुओं पर गहन विचार-विमर्श का सिलसिला जारी रहेगा।

संगोष्ठी का पहला आलेख विश्व भारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल से आये **प्रशान्त बनर्जी** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था : 'साम्राज्यवाद और पूँजीवादी शोषण का विस्तार : एक क्लासिकीय मार्क्सवादी विवेचना'। इस आलेख में श्री बनर्जी ने मार्क्स व एंगेल्स से लेकर लेनिन, काउत्स्की, रोज़ा लज़्मबर्ग आदि के साम्राज्यवाद-विषयक विचारों का संक्षिप्त व्योरा प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि साम्राज्यवाद कोई राजनीतिक या विचारधारात्मक परिघटना नहीं बल्कि उन्नत पूँजीवाद की प्रमुख आवश्यकता है। इसलिए सत्ता संघर्ष और औपनिवेशिक विस्तार के तौर पर साम्राज्यवाद की मार्क्सवादी व्याख्या को अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियों में खोजा जाना चाहिए। पूँजीवाद की प्रकृति ही ऐसी है कि मजदूर वर्ग पर प्रभुत्व कायम करके, उन्हें लूटकर और उनका शोषण करके स्वयं को समृद्ध बनाने की आन्तरिक इच्छा उसके भीतर ही मौजूद है। इसलिए साम्राज्यवाद के खिलाफ़ क्रान्ति पूँजीवादी शोषण के खिलाफ़ क्रान्ति का ही एक पहलू है।

पहले दिन का दूसरा आलेख विश्व भारती के ही **मोहम्मद नज़मुल हसन** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, "साम्राज्यवाद को पाँपुलिस्ट चुनौतियाँ : एक उत्तर-मार्क्सवादी आलोचनात्मक मूल्यांकन"। इस आलेख में उन्होंने साम्राज्यवाद के प्रतिरोध के लोकरंजकतावादी आन्दोलनों की चर्चा करते हुए एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका में चल रहे विभिन्न आन्दोलनों और साम्राज्यवाद के उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तों और उसके खिलाफ़ जारी 'पापुलिस्ट' संघर्षों पर संक्षेप में बात रखी। उन्होंने कहा कि 'पाँपुलिज़्म' कुलीनों को चुनौती देने के लिए किसानों, मजदूरों और मध्यवर्ग का एक विस्तारित गठबन्धन था। वह सामान्य तौर पर परस्पर विरोधी तत्वों का मिश्रण होता है, मसलन आम लोगों के लिए राजनीतिक अधिकारों और सार्विक भागीदारी की समानता, परन्तु नेतृत्व अक्सर एक करिश्माई व्यक्ति करता है जिसमें एक किस्म का निरंकुशता का पुट होता है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की **लता कुमारी** ने अपने आलेख में लातिन अमेरिका में साम्राज्यवादी शोषण के लम्बे रक्तरंजित इतिहास पर विस्तार से चर्चा की। अपने आलेख में उन्होंने कहा कि अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन में लातिन अमेरिका औपनिवेशिक काल से लेकर अब तक सबसे शोषित क्षेत्र रहा है। लातिन अमेरिका में ही साम्राज्यवादियों ने नवउदारवादी नीतियों के सबसे पहले प्रयोग आजमाये। लता ने अपने आलेख में कोलम्बस के लातिन अमेरिका के तट पर पहुँचने के बाद शुरू हुए औपनिवेशिक काल से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद थोड़े समय तक रहे नव-औपनिवेशिक काल और उसके बाद नवउदारवाद के काल में पूँजी की बर्बर लूट का चित्रण किया। इसके बाद लता ने अपने आलेख में लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद विरोध के आन्दोलनों में प्रभावी विभिन्न सिद्धान्तों, खासकर समूचे 'डिपेण्डेंसी थियरी स्कूल' की विवेचना की जिसकी

जन्मस्थली लातिन अमेरिका ही रही है। उन्होंने राउल प्रेबिश, आन्द्रे गुण्डर फ्रैंक, एफ़.एच. कार्दोसो, सामिर अमीन और मारिनी जैसे विचारकों के विचारों का आलोचनात्मक विवेचन किया। उन्होंने बताया कि 'डिपेण्डेंसी थियरी' उन सिद्धान्तों की प्रजातियों की उप-प्रजाति है जो उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन के क्षेत्र पर जोर न देकर विनिमय सम्बन्धों व परिचलन के क्षेत्र पर जोर देते हैं। 'डिपेण्डेंसी थियरी' विकसित देशों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों के अधिशेष को निचोड़े जाने को उन देशों के पिछड़ेपन का मुख्य कारण बताती है, परन्तु वह इस बात का उत्तर नहीं देती कि अधिशेष पैदा कैसे होता है। मार्क्सवाद के अनुसार अधिशेष उत्पादन के क्षेत्र में पैदा होता है और वह परिचलन के क्षेत्र में प्रकट होता है। 'डिपेण्डेंसी थियरी' देशों के भीतर की उत्पादन पद्धति की अवधारणा के सन्दर्भ में चुप्पी साध लेती है। लता ने यह दलील दी कि पूरी दुनिया में ऐतिहासिक अनुभवों ने 'डिपेण्डेंसी थियरी' को ग़लत साबित किया है; इसके कुछ पैरोकारों के दावों के बावजूद यह एक मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं है। 'डिपेण्डेंसी परिप्रेक्ष्य' के विपरीत आलेख में लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद को साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में विवेचना का प्रयास किया गया।

आलेखों की प्रस्तुति के बाद उनमें उठाये गये मुद्दों पर जीवन्त बहस हुई जिसमें **सनी सिंह**, **अभिनव सिन्हा**, **शिवानी**, **मुकेश असीम** और **सुखविन्दर** शामिल हुए। (बहसों के वीडियो जल्द ही अरविन्द स्मृति न्यास के यूट्यूब चैनल पर देखे जा सकेंगे।) पहले दिन के सत्रों की अध्यक्षता न्यूयॉर्क के स्वतन्त्र मार्क्सवादी शोधार्थी व कार्यकर्ता **एरिक शिमट**, जागरूक नागरिक मंच, पटना से जुड़े राजनीतिक कार्यकर्ता **देवाशीष बराट** और कवयित्री एवं सामाजिक कार्यकर्ता **कात्यायनी** ने की और संचालन सत्यम ने किया।

## संगोष्ठी का दूसरा दिन

संगोष्ठी के दूसरे दिन तीन आलेख प्रस्तुत किये गये। पहले सत्र में गाजियाबाद से आये ट्रेड यूनियन ऐक्टिविस्ट **तपीश मैन्दोला** ने "समकालीन साम्राज्यवादी दुनिया के बुनियादी अन्तरविरोध : कुछ प्रेक्षण" विषयक अपना आलेख प्रस्तुत किया। इस आलेख में तपीश ने मार्क्स के समय से लेकर अब तक सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में आये बदलावों का विस्तृत ब्यौरा दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक सत्ताओं के विघटन की प्रक्रिया का भी विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया। इसके बाद पूँजीवाद के विकास की प्रक्रिया की संक्षिप्त रूपरेखा देते हुए उन्होंने कहा कि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में होने वाला पूँजीवादी विकास बेहद जटिल, असमान और उतार-चढ़ाव भरा रहा है। तपीश ने कहा कि समकालीन दुनिया में दो बुनियादी अन्तरविरोध कार्यरत हैं : पहला श्रम और पूँजी के बीच का अन्तरविरोध और दूसरा अन्तरराष्ट्रीय इजारेदारियों के बीच का एवं साम्राज्यवादी देशों के बीच का अन्तरविरोध। इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक और भूराजनीतिक कारणों से कुछ सापेक्षतया पिछड़े पूँजीवादी देशों और साम्राज्यवादी देशों के बीच का अन्तरविरोध भी उग्र रूप धारण कर रहा है। नतीजतन बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच का अन्तरविरोध प्रधान अन्तरविरोध बन गया है। इसलिए 1963 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रस्तावित सामान्य कार्यदिशा से आगे सोचने की ज़रूरत है।

दूसरे दिन का दूसरा आलेख लेखक और ऐक्टिविस्ट **आनन्द सिंह** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था "भूमण्डलीकरण के दौर का साम्राज्यवाद : परिवर्तन और निरन्तरता के पहलू"। इस

आलेख में 1977 में क्रिश्चियन पैलोया द्वारा दिये गये स्कीमा की आलोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत की गयी जिसमें उन्होंने मार्क्स द्वारा 'पूँजी' खण्ड दो में प्रस्तुत की गयी अवधारणा 'पूँजी के परिपथ' के माध्यम से पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को समझाया था। आनन्द ने कहा कि हालाँकि यह स्कीमा भूमण्डलीकरण की परिघटना को समझने के लिए उपयोगी है, परन्तु इसकी अपनी सीमाएँ भी हैं। इसके बाद उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से हुए प्रमुख घटनाक्रमों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। तत्पश्चात उन्होंने नवउदारवादी भूमण्डलीकरण की प्रमुख अभिलाक्षणिकताओं का वर्णन करते हुए उत्पादन के अन्तरराष्ट्रीयकरण, वित्तीय पूँजी की निर्णायक विजय, मुनाफ़े की गिरती दर के संकट का जारी रहना और राष्ट्रपारीय निगमों का तीव्र विकास परन्तु फिर भी बदले हुए रूप में राष्ट्र-राज्यों की प्रसांगिकता के बरकरार रहने की चर्चा की। उन्होंने रूस-चीन की साम्राज्यवादी धुरी के उभार के मद्देनज़र अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के वर्तमान स्वरूप पर चर्चा की। भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच के सम्बन्धों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि इन देशों का बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवादी देशों के बुर्जुआ वर्ग का दलाल नहीं बल्कि उनका 'जूनियर पार्टनर' है।

दूसरे दिन का तीसरा आलेख भाकपा-माले, रेड स्टार की ओर से **विजय कुमार** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, "आज के दौर में साम्राज्यवाद"। लेनिन द्वारा प्रस्तुत साम्राज्यवाद की पाँच बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं की चर्चा करने के बाद विजय ने 1940 के दशक से शुरू हुई विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का वर्णन किया। इस नयी परिस्थिति में अमेरिकी साम्राज्यवाद ने औपनिवेशीकरण को एक नया स्वरूप और अन्तर्वस्तु दी। इस नवऔपनिवेशीकरण के दौर का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि समूचे साम्राज्यवादी दौर में जहाँ साम्राज्यवाद की गति के नियम बुनियादी तौर पर वही रहते हैं वहीं नवऔपनिवेशीकरण के दौर में कुछ गुणात्मक बदलाव भी हुए हैं जिन्हें चिह्नित करना आवश्यक है। इनमें से एक महत्वपूर्ण बदलाव यह हुआ है कि नवउपनिवेशों में भूमि सम्बन्ध अब सामन्ती नहीं रहे। हालाँकि विजय ने ज़ोर देते हुए कहा कि बुर्जुआ वर्ग का चरित्र अभी भी दलाल का ही है। इसके बाद विजय ने ख्रुश्चेव काल में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा साम्राज्यवाद के प्रति संशोधनवादी पहुँच अपनाये जाने का उल्लेख किया। कीन्सियाई दौर से नवउदारवादी दौर की ओर संक्रमण की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि नवउदारवादी दौर की विशेषता सट्टेबाज़ पूँजी का निर्बाध अन्तरराष्ट्रीय प्रवाह है। उन्होंने पर्यावरण विनाश पर ज़ोर देते हुए कहा कि खाद्य संकट, विस्थापन, जल की कमी आदि उसके लक्षण हैं जो आर्थिक असमानता की वजह से और बढ़ रहे हैं। उन्होंने यह रेखांकित किया कि इस सन्दर्भ में भाकपा-माले, रेड स्टार ने अपने पार्टी दस्तावेज़ में पूँजी और प्रकृति के बीच के अन्तरविरोध को मुख्य अन्तरविरोध के रूप में सम्मिलित किया है।

आलेखों की प्रस्तुति के बाद बहस-मुबाहिसे का दौर शुरू हुआ जिसमें देहरादून से आये **अश्विनी त्यागी**, लुधियाना से आये **बलदेव सिंह**, चण्डीगढ़ से आये **मानव**, बलिया से आये **अवधेश सिंह**, नेपाल से आयीं **सरिता तिवारी**, **गुरप्रीत**, **आनन्द सिंह**, **अभिनव सिन्हा** और **तपीश मैन्दोला** ने हिस्सा लिया। दूसरे दिन के सत्रों की अध्यक्षता सिरसा से आये वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता **डा. सुखदेव हुन्दल**, पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक **सुखविन्दर** और अरविन्द स्मृति न्यास की अध्यक्ष **मीनाक्षी** ने की और संचालन **शिवानी** ने किया।

## संगोष्ठी का तीसरा दिन

संगोष्ठी के तीसरे दिन 26 नवम्बर को मजदूर अखबार 'मजदूर बिगुल' के सम्पादक अभिनव सिन्हा ने अपना आलेख प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था : "मार्क्स के समय से लेकर अब तक साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त : एक समकालीन आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन"। इस आलेख में अभिनव ने मार्क्स के समय से लेकर अब तक के सिद्धान्तकारों, जैसे हार्वी, वुड आदि के साम्राज्यवाद पर मार्क्सवादी चिन्तन का एक सांगोपांग आलोचनात्मक और समकालीन सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। इस आलेख की शुरुआत में उन्होंने विश्व पैमाने पर पूँजीवाद के विस्तार, विकसित पूँजीवादी देशों और साथ ही पिछड़े देशों पर उसके प्रभाव के बारे में मार्क्स के प्रेक्षणों का उल्लेख किया जो उनकी विभिन्न कृतियों में बिखरे हुए मिलते हैं। आलेख में इस पर जोर दिया गया कि पूँजीवाद के इस विस्तार और नतीजतन साम्राज्यवाद के उद्भव का कारण मुनाफ़े की गिरती हुई दर का गिरना था न कि वास्तविकरण की समस्या। उन्होंने कहा कि जब मार्क्स की मृत्यु हुई उस समय पूँजीवाद के इजारेदारी के युग में प्रवेश करने की प्रक्रिया अभी जारी ही थी। फिर भी मार्क्स के लेखन में साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टियाँ मिलती हैं। इसके बाद अभिनव ने हिल्फ़र्डिंग की सर्वप्रमुख रचना 'वित्त पूँजी' में प्रस्तुत साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। उन्होंने कहा कि हालाँकि इस पुस्तक ने साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवाद की कार्यप्रणाली से सम्बन्धित कई मूल्यवान अन्तर्दृष्टियाँ दीं परन्तु उसमें सामंजस्यवादी और सामाजिक-जनवादी विभ्रम भी मौजूद थे। साम्राज्यवाद के प्रश्न से सम्बन्धित अगली प्रमुख रचना रोज़ा लगज़ेम्बर्ग की 'पूँजी का संचय' थी। उन्होंने कहा कि लगज़ेम्बर्ग का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त मूलतः मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं है क्योंकि उसमें अल्पउपभोगवादी अवस्थिति अपनायी गयी है। उसके बाद अभिनव ने बुखारिन की रचना 'साम्राज्यवाद और विश्व अर्थव्यवस्था' का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए कहा कि वह साम्राज्यवाद के प्रश्न पर पहली व्यवस्थित मार्क्सवादी रचना थी। इस रचना की त्रुटियों की आलोचना भी की गयी, मसलन बुखारिन की इस त्रुटिपूर्ण अवधारणा की कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा समाप्त होकर विश्व स्तर पर पुनरुत्पादित होती है। इसके बाद उन्होंने साम्राज्यवाद के लेनिन के सिद्धान्त की विवेचना की। उन्होंने कहा कि लेनिन का सिद्धान्त साम्राज्यवाद का अब तक का सबसे पूर्ण सिद्धान्त है जिसमें उच्च स्तर के सामान्यीकरण और द्वन्द्वत्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। अभिनव ने 1940 के दशक से लेकर 1970 के दशक के बीच के नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तों जैसे स्वीज़ी-बरान के 'मोनोपोली कैपिटल स्कूल', आन्द्रे गुण्डर फ्रैंक की 'डिपेण्डेंसी थियरी', इमैनुएल वालरस्टीन की 'वर्ल्ड सिस्टम थियरी', सामिर अमीन का 'अल्पविकास' का सिद्धान्त और अरगिरी एमैनुएल के 'असमान विनिमय' का सिद्धान्त आदि का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। उन्होंने एलेन मीक्सिन्स वुड, डेविड हार्वी और एलेक्स कैलिनिकोस जैसे तथाकथित 'नया साम्राज्यवाद' के नये सिद्धान्तों की भी आलोचना प्रस्तुत की।

अभिनव ने अपने आलेख में इस बात पर जोर दिया कि खास तौर पर 1970 के दशक के बाद से साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में आये बदलावों की रोशनी में साम्राज्यवाद के एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के विकास का कार्य अभी पूरा किया जाना बाकी है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी परिप्रेक्ष्य से कई सारी चीज़ों का विश्लेषण करने की ज़रूरत है, जिनमें से कुछ परिमाणत्मक बदलाव हैं जबकि कुछ अन्य गुणात्मक बदलावों से सम्बन्धित हैं। पोस्ट-फ़ोर्डिज़्म के उभार से लेकर वैश्विक असेम्बली लाइन के उभरने, साम्राज्यवादी दुनिया में बहु-ध्रुवीयता के नये आयाम, उच्च स्तर का

अनौपचारिकीकरण, विनियमीकरण, अति-वित्तीयकरण, सट्टेबाज़ पूँजी का प्रभुत्व और किसी समाजवादी खेमे की गैर-मौजूदगी, अमेरिका के वर्चस्व में होता हुआ, चीन-रूस धुरी का उभार, अब पूँजीवादी देश बन चुके पूर्व उपनिवेशों में सर्वहारा क्रान्ति की नयी रणनीति और आम रणकौशल – इन सभी बदलावों का विश्लेषण करने और समझने की ज़रूरत है।

आलेख की प्रस्तुति के बाद एक जीवन्त बहस-मुबाहसे का दौर चला जिसमें **लखविन्दर**, **प्रेमप्रकाश**, **शिरीष मेढ़ी**, **हरजिन्दर सिंह**, **अभिनव सिन्हा** और **विजय कुमार** ने हिस्सा लिया। तीसरे दिन के सत्रों की अध्यक्षता नेपाल के वरिष्ठ वामपन्थी नेता एवं लेखक **निनू चपागाईं**, पंजाब के वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता **डॉ. सुखदेव सिंह** और दिल्ली से आयी ट्रेड यूनियन कर्मी और बिगुल मजदूर दस्ता की सदस्य **शिवानी** ने की जबकि संचालन **आनन्द सिंह** ने किया।

## संगोष्ठी का चौथा दिन

संगोष्ठी के चौथे दिन का पहला आलेख पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक **सुखविन्दर** ने प्रस्तुत किया। आलेख का शीर्षक था "अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा, बदलता शक्ति सन्तुलन और भविष्य की सम्भावनाएँ"। आलेख में सुखविन्दर ने कहा कि सोवियत संघ के विघटन के बाद एकध्रुवीय विश्व, साम्राज्यवाद का अन्त, साम्राज्यवाद के लेनिन के सिद्धान्त की अप्रासंगिकता की बातें करने वाले तमाम सिद्धान्त लोकप्रिय होने लगे। काउत्स्की के सिद्धान्त की लेनिन की आलोचना से प्रेरणा लेते हुए सुखविन्दर ने प्रभात पटनायक और एजाज़ अहमद जैसे अकादमिशियनों द्वारा प्रस्तावित समकालीन नव-काउत्स्कीवादी सिद्धान्तों की आलोचना प्रस्तुत की। इन सिद्धान्तों की आलोचना करने के बाद उन्होंने पतनशील अमेरिकी साम्राज्यवाद के परिप्रेक्ष्य में वैश्विक वर्चस्व के लिए होड़ कर रही नयी साम्राज्यवादी धुरियों का ब्यौरा दिया। उन्होंने कहा कि किस प्रकार यूरोपीय संघ अमेरिकी साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाली एक धुरी हो सकता है। उन्होंने अमेरिकी साम्राज्यवाद को सबसे बड़ी चुनौती देने वाले रूस के पुनरुत्थान का ब्यौरा पेश किया। चीन के उभार और उसके साम्राज्यवादी शक्ति बनने की सम्भावना एवं रूस के साथ उसके गठबन्धन ने एक चीन-रूस साम्राज्यवादी धुरी का निर्माण किया है। इसके बाद उन्होंने लातिन अमेरिका और मध्य-पूर्व जैसे क्षेत्रों में चल रहे तनावों और सीरिया, यूक्रेन आदि में चल रहे साम्राज्यवादी तनावों के बारे में बात रखी। अन्त में उन्होंने कहा कि सभी घटनाक्रम ये सन्देश दे रहे हैं कि भविष्य में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने वाली है जो भविष्य में और ज़्यादा अस्थिरता को बढ़ायेगी।

इसके बाद केरल से आये **बिपिन बालाराम** ने एक प्रस्तुतीकरण दिया जिसमें उन्होंने शुरुआत एजाज़ अहमद, सी.पी. चन्द्रशेखर, इरफ़ान हबीब, जयति घोष जैसे प्रमुख वाम अकादमिशियनों के विचारों पर आलोचनात्मक टिप्पणियों से की। इसके बाद वे प्रभात और उत्सा पटनायक की पुस्तक "साम्राज्यवाद का एक सिद्धान्त" की आलोचना की ओर बढ़े। उन्होंने इस पुस्तक में दिये गये सिद्धान्त को "निम्न बुर्जुआ के लिए/का शोकगीत" करार दिया। उन्होंने कहा कि पटनायक द्वय के सिद्धान्त का सबसे मुख्य पहलू विश्व की भौगोलिक असममिति है जिसमें चाय, कॉफी, गन्ना और कपास जैसे बुनियादी मालों का उत्पादन उष्णकटिबन्धीय देशों में ही होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उष्णकटिबन्धीय देशों के छोटे उत्पादकों की आय में कमी पैदा करने के लिए मेट्रोपॉलिटन पूँजी द्वारा आजमाये जाने वाले सभी तरीक़े साम्राज्यवाद की परिधि में आते हैं। बिपिन ने कहा कि डेविड हार्वी ने इस सिद्धान्त की असंगतता, उष्णकटिबन्धीय देश जैसी अवधारणाओं को ढीले-ढाले

ढंग से परिभाषित करने और भौगोलिक नियतत्ववाद के लिए उचित ही इसकी आलोचना की है, हालाँकि उन्होंने स्वयं भी साम्राज्यवाद का अपना सामाजिक-जनवादी और काउत्स्कीपन्थी सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि इस सिद्धान्त से यह हास्यास्पद नतीजा भी निकाला जा सकता है कि कोई उष्णकटिबन्धीय देश कभी साम्राज्यवादी हो ही नहीं सकता और ऐसा नतीजा वर्तमान साम्राज्यवादी दुनिया के कई घटनाक्रमों की व्याख्या नहीं कर पायेगा।

बिपिन के प्रस्तुतीकरण के बाद न्यूयार्क से आये विद्वान और मार्क्सवादी कार्यकर्ता **एरिक श्मिट** ने अपना आलेख प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था “विश्व की परिस्थिति और विश्व क्रान्ति”। आलेख की शुरुआत में एरिक ने कहा कि विश्व क्रान्ति के लिए आन्तरिक कारणों को ज़िम्मेदार ठहराना चाहिए जोकि ऐतिहासिक रूप से निर्धारित होते हैं और विभिन्न वर्गीय परिस्थितियों के अनुरूप होते हैं। साथ ही अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को एक सामान्य दिशा प्रस्तुत करनी चाहिए जिससे हर सर्वहारा विश्व क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए कार्यभार निधारित कर सके। इसके बाद उन्होंने मौजूदा विश्व परिस्थिति की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। समकालीन विश्व परिस्थिति की व्याख्या करते हुए उन्होंने कुछ विशेषताओं जैसे कि आर्थिक संकट, बुर्जुआ वर्ग का राजनीतिक बिखराव, बुर्जुआ विचारधारा का संकट और राजनीतिक रूप से एक वर्ग के रूप में सर्वहारा की कमजोरियों की वजह से क्रान्तिकारी खेमे की विफलता आदि का वर्णन किया। वास्तव में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की कमजोरी आज साम्राज्यवादी खेमे की कमजोरियों से कहीं अधिक है। इसके बाद उन्होंने वर्तमान राजनीतिक सन्धि-बिन्दु का कालक्रम प्रस्तुत करते हुए कहा कि आज की विश्व परिस्थिति में साम्राज्यवाद और उत्पीड़ित देशों के बीच का अन्तरविरोध प्रधान अन्तरविरोध है जो यह माँग करता है कि हम अपनी मनोगत ताकतों को एक स्वायत्त संगठन और कार्यक्रम के निर्माण की दिशा में विकसित करें। आज क्रान्तिकारी सर्वहारा को वर्ग संश्रय बनाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ संयुक्त मोर्चे बनाने चाहिए ताकि वे अपना जनाधार सुदृढ़ कर सकें।

चौथे दिन की बहस में कर्नाटक से **रवीन्द्र डी. हालिंगली**, लुधियाना से **लखविन्दर**, महाराष्ट्र से **शिरीष मेढी** ने हिस्सा लिया। उसके बाद एरिक के आलेख पर एक लम्बी और जीवन्त बहस हुई जिसमें **अभिनव** और **एरिक** ने हिस्सा लिया। सत्रों की अध्यक्षता **कविता कृष्णपल्लवी**, **अभिनव सिन्हा** और **आनन्द सिंह** ने की और संचालन **नमिता** ने किया।

## पाँचवाँ और अन्तिम दिन

28 नवम्बर को संगोष्ठी के पाँचवें और अन्तिम दिन तीन आलेख प्रस्तुत किये गये और साम्राज्यवाद पर प्रभात पटनायक की अवस्थिति की आलोचना पर केन्द्रित पीआरसी, सीपीआई (एमएल) पटना के **अजय कुमार सिन्हा** का आलेख सदन में वितरित किया गया। पाँचवें दिन पहला आलेख विश्व भारती, शान्तिनिकेतन के **डॉ. एम.पी. टेरेंस सैमुएल** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, “संस्कृति और साम्राज्यवाद”। इस आलेख में उन्होंने उल्लेख किया कि क्लासिकीय मार्क्सवादी समझ के अनुसार संस्कृति को अस्तित्वमान सामाजिक-आर्थिक संरचना और परिस्थितियों की अधिरचना के रूप में समझा गया। इसलिए यूरोपीय भूदेशों से गैर-यूरोपीय क्षेत्रों में पूँजीवाद के साम्राज्यवादी विस्तार ने औपनिवेशीकृत देशों के लोगों के सांस्कृतिक पहलुओं को प्रभावित किया, हालाँकि यह पूँजीवादी विस्तार मुख्यतया आर्थिक ही था। हालाँकि मार्क्स यह समझते थे कि किस प्रकार सामाजिक-आर्थिक आधार अधिरचना के तत्वों को द्वन्द्वात्मक ढंग से प्रभावित करता है,

परन्तु उन्होंने संस्कृति और साम्राज्यवाद/पूँजीवाद के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के बारे में बहुत विस्तार से नहीं लिखा। सामाजिक-आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच यह सम्बन्ध एकतरफ़ा नहीं होता। होर्खाइमर और अदोर्नो की रचनाओं की चर्चा करते हुए डॉ. सैमुएल ने कहा कि उनके अनुसार आधुनिक काल में 'संस्कृति उद्योग' द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली तकनीकी प्रगति प्रभुत्व का साधन बनती है।

इसके बाद नेपाल के कम्युनिस्ट आन्दोलन के वरिष्ठ कम्युनिस्ट नेता और जाने-माने साहित्यिक आलोचक **निनू चापागाई** ने नेपाल में भारत के साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और उसके दबंग और साम्राज्यवादी आचरण की चर्चा की। उन्होंने कहा कि उनके देश में संसदीय राजनीति अब विभिन्न प्रकार की विकृतियों का शिकार है जिसको लेकर कार्यकर्ताओं में निराशा व्याप्त है। सत्ता के लालच में वहाँ की पार्टी ने उन सिद्धान्तों की तिलांजलि दे दी है जिनके लिए उसने एक लम्बा संघर्ष छेड़ा था। इसके बाद मुम्बई से आये **हर्ष ठाकोर** ने साम्राज्यवाद के प्रतिरोध से सम्बन्धित वक्तव्य रखा।

अन्तिम दिन का दूसरा आलेख ट्रेड यूनियन एक्टिविस्ट और बिगुल मजदूर दस्ता से जुड़ी **शिवानी कौल** ने प्रस्तुत किया। उनके आलेख का शीर्षक था "एम्पायर के उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्त और साम्राज्यवाद का लेनिनवादी सिद्धान्त"। इस आलेख में उन्होंने मुख्यतया माइकल हार्ट और अन्तोनियो नेग्री की चर्चित पुस्तक "एम्पायर" की आलोचना प्रस्तुत की। "एम्पायर" के सिद्धान्त के दार्शनिक मूल की बात करते हुए उन्होंने कहा कि हार्ट और नेग्री उत्तर-मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक परम्परा से आते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हार्ट और नेग्री के सैद्धान्तीकरण में मजदूरवाद (ऑपराइज्म) के इतालवी संस्करण का भी असर साफ़ देखा जा सकता है। उन्होंने कहा कि जिसे "एम्पायर" का नाम दिया गया है वो और कुछ नहीं बल्कि भूमण्डलीकरण ही है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि 'साम्राज्यवाद की मृत्यु' का दावा करने वाली पुस्तक साम्राज्यवाद के क्लासिकीय सिद्धान्तों के बारे में बिल्कुल मौन है। यह सिद्धान्त साम्राज्यवाद के मौजूदा यथार्थ को नहीं पकड़ पाता है। मार्क्सवाद की पूरी ठोस विश्लेषणात्मक श्रेणियों की जगह अमूर्त अटकलपचू श्रेणियों ने ले ली और नतीजा एक बिखरे हुए सैद्धान्तीकरण के रूप में सामने है। शिवानी ने दलील दी कि हार्ट-नेग्री के इस सैद्धान्तीकरण में सबकुछ अवैयक्तिक हो जाता है; सत्ता और संघर्ष दोनों, साम्राज्यवाद का स्थान साम्राज्य ले लेता है; वर्ग का स्थान 'मल्टीट्यूड' ले लेता है। उन्होंने "एम्पायर" के सैद्धान्तीकरण की कुछ अन्तर्निहित समस्याओं को चिह्नित किया और उनकी तुलना लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त से करते हुए कहा कि मौजूदा साम्राज्यवाद को समझने के लिए लेनिन का सिद्धान्त अभी भी सबसे बेहतरीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

संगोष्ठी का अन्तिम आलेख **अभिनव सिन्हा** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, "मौजूदा साम्राज्यवादी संकट : एक नयी महामन्दी"। पूँजीवाद के मौजूदा संकट के बारे में बात करते हुए अभिनव ने कहा कि यह संकट इस मायने में अतीत के संकट से अलग है कि यह कहीं ज़्यादा दीर्घकालिक और संरचनागत है, भले ही 1930 की महामन्दी जितना प्रलयकारी न दिखे। यही वजह है कि इसे 'लॉन्ग डिप्रेशन' की संज्ञा भी दी जा रही है। इसके बाद उन्होंने माइकल हाइनरिख द्वारा किये गये पूँजी के पाठ और उनके द्वारा उठाये गये कुछ विवादित मुद्दों, खासकर मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रवृत्ति के मार्क्स के बुनियादी नियम जैसे मुद्दों पर हाइनरिख की अवस्थिति, का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने एण्ड्रू क्लिमैन, माइकल रॉबर्ट्स, गुग्लिएल्मो कारचेदी, एलन फ्रीमैन, फ्रेड मोस्ले आदि के दृष्टिकोणों का भी उल्लेख किया। उसके बाद उन्होंने एण्ड्रू क्लिमैन और माइकल रॉबर्ट्स का हवाला देते हुए संकट पर डुमेनिल और लेवी के दृष्टिकोण की

आलोचना प्रस्तुत की। इसके पश्चात उन्होंने सैम गिण्डन और लियो पैनिच, डेविड हार्वी और एलेक्स कैलिनिकोस व अन्य के दृष्टिकोण की भी आलोचना पेश की। उन्होंने संकट पर अनवर शेख के दृष्टिकोण को सही बताया। उन्होंने दलील दी कि हार्वी और हाइनरिख के दावों के विपरीत मार्क्स ने संकट का एक सिद्धान्त दिया था और वह सिद्धान्त था मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रवृत्ति का नियम। इसे आनुभविक रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि यह साम्राज्यवाद के आवर्ती संकटों की अब तक की सबसे वैज्ञानिक और तार्किक व्याख्या है और यह उसके बुनियादी अन्तरविरोध अर्थात् उत्पादन के समाजीकरण और विनियोजन के निजीकरण का पर्दाफ़ाश करता है। इसके बाद अभिनव ने विशेष रूप से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से विश्व की अग्रणी अर्थव्यवस्थाओं में मुनाफ़े की दर से सम्बन्धित आँकड़े और ग्राफ़ प्रस्तुत करते हुए दिखाया कि किस तरह से सभी अर्थव्यवस्थाओं में मुनाफ़े की गिरती दर की प्रवृत्ति रही है। अन्त में उन्होंने कहा कि सवाल यह साबित करने का नहीं है कि मुनाफ़े की दर गिरती है या नहीं, बल्कि यह है कि यह दर क्यों गिरती है, और मार्क्स ने ठीक इसी सवाल का जवाब दिया था।

अन्तिम दिन चर्चा में फ़रीदाबाद से आये **सत्यवीर सिंह**, **सुखविन्दर**, **अभिनव** और **सत्यम** आदि ने प्रमुख रूप से भाग लिया। सत्रों की अध्यक्षता गाज़ियाबाद से आये **तपीश मैन्दोला**, दिल्ली से आये **प्रेम प्रकाश** तथा लुधियाना से आये **लखविन्दर** ने की जबकि संचालन **लता कुमारी** ने किया।

संगोष्ठी के अन्त में शाम को नवगठित क्रान्तिकारी रॉक बैंड 'अनुष्टुप' ने दुनिया के विभिन्न हिस्सों के साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तिकारी गीतों का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। बैंड में अनहद, सृजन, अभिनव और शिप्रा शामिल हैं।

'दायित्वबोध' पत्रिका के सम्पादक तथा प्रखर वामपन्थी कार्यकर्ता एवं बुद्धिजीवी दिवंगत **कॉमरेड अरविन्द सिंह** की स्मृति में अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से सामाजिक बदलाव के आन्दोलन से जुड़े किसी अहम सवाल पर संगोष्ठी का आयोजन किया जाता है। पहली दो संगोष्ठियाँ दिल्ली व गोरखपुर में मजदूर आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं पर हुई थीं जबकि तीसरी संगोष्ठी भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन के सवाल पर लखनऊ में आयोजित की गयी थी। चौथी संगोष्ठी 'जाति प्रश्न एवं मार्क्सवाद' विषय पर चण्डीगढ़ में तथा पाँचवीं संगोष्ठी 'समाजवाद की समस्याएँ' विषय पर इलाहाबाद में आयोजित हुई थी। सातवीं वृहत् संगोष्ठी 2019 में भूमि सम्बन्धों के सवाल पर होना प्रस्तावित है।

- आनन्द सिंह

अक्टूबर क्रान्ति की शतवार्षिकी के अवसर पर

## शिनाख़्त

धरती चाक की तरह घूमती है  
जिन्दगी को प्याले की तरह  
गढ़ता है समय।  
धूप में सुखाता है।  
दुख को पीते हैं हम  
चुपचाप।

शोरगुल में मौज़-मस्ती का जाम।  
प्याला छलकता है।  
कुछ दुख और कुछ सुख  
आत्मा का सफ़ेद मेज़पोश  
भिगो देते हैं।

कल समय धो डालेगा  
सूखे हुए धब्बों को  
कुछ हल्के निशान  
फिर भी बचे रहेंगे।

स्मृतियाँ  
अद्भुत ढँग से  
हमें आने वाली दुनिया तक  
लेकर जायेंगी।

सब-कुछ दुहराया जायेगा फिर से  
पर हूबहू  
वैसे ही नहीं।

- शशिप्रकाश

## स्तालिन के जन्मदिवस पर

“लेनिन की मृत्यु के बाद, कॉमरेड स्तालिन ने अक्टूबर क्रान्ति के समय महान लेनिन द्वारा रचे गये विश्व के प्रथम समाजवादी राज्य को एक शानदार समाजवादी समाज के रूप में निर्मित करने में सोवियत जनता की अगुवाई की। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की विजय केवल सोवियत जनता की विजय नहीं थी, बल्कि पूरी दुनिया की जनता की साझा विजय भी थी। सर्वप्रथम, इस विजय ने सर्वाधिक वास्तविक ढंग से मार्क्सवाद-लेनिनवाद की अकाट्य सत्यता को सिद्ध किया और दुनियाभर के मेहनतकश लोगों को शिक्षित किया कि उन्हें एक अच्छे जीवन की ओर कैसे कदम बढ़ाने चाहिए। दूसरे, इस विजय ने सुनिश्चित किया कि दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मानवता के पास फ़ासिस्ट राक्षस को हराने की शक्ति होगी। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की विजय के बिना फ़ासीवाद-विरोधी युद्ध में विजय की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की विजय और फ़ासीवाद-विरोधी युद्ध में विजय के साथ समस्त मानवता की तकदीर जुड़ी हुई थी, और इन विजयों का गौरव हमारे महान कॉमरेड स्तालिन के नाम है।”

— माओ त्से-तुङ